

पुराण-कथा-कौमुदी

संपूर्ण पौराणिक वाङ्मय के ५२ आकर-ग्रन्थों की ५२ कथाएँ

Ramakrishna Mission Library

Muthiganj, Allahabad.

Class No. 200

Book No. २-८१ Vol

Accession No 13612

पं० रघुनाथ दत्त बन्धुः

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली.

प्रकाशक

नेशनल पब्लिशिंग हाउस,

२६ ए, जवाहरनगर, दिल्ली

बिक्री-केन्द्र, नई सड़क, दिल्ली

प्रथम संस्करण

जुलाई, १९६२

मूल्य

~~दस रुपये~~

15.00

मुद्रक

भारत मुद्रणालय

शाहदरा-दिल्ली-३२

प्राक्कथन

१८ पुराण, २४ उपपुराण, ५ संस्कृत रामायण, दो पौराणिक संहिता, एक माहात्म्य, महारामायण तथा महाभारत इन ५२ ग्रन्थों से हर ग्रन्थ की एक-एक कथा लेकर ये ५२ कथाएँ लिखी गई हैं। इस प्रकार उपलब्ध पौराणिक वाङ्मय के सभी आकर-ग्रन्थों की एक-एक कथा इस पुस्तक में प्रतिनिधि-रूप में आ गई है।

परन्तु ये कथाएँ उन ग्रन्थों से ज्यों की त्यों उठा कर रख ली गई हों, ऐसी बात नहीं है; उन्हें सरल तथा सर्वसाधारण की समझ में आ जाने योग्य बनाने के लिए उन पर कुछ ऊहापोह भी किया है। इसी प्रकार एक ही कथा, जो भिन्न-भिन्न पुराणों में दो प्रकार से आयी हैं, उनमें से अपनी रुचि के अनुसार या तो एक को चुन लिया है, वा दोनों का संमिश्रण कर दिया है। एवं एक ही अनेक अध्यायों में चली जाने वाली कथा का संक्षेप, और प्रचुराशय-गर्भित संक्षिप्त कथाओं का अन्य ग्रन्थों, टीकाओं वा अपनी सूझ से विस्तार भी किया है।

इस परिवर्तन तथा परिवर्धन के कारण इन कथाओं को अपने आकर-ग्रन्थों का अक्षरानुवाद न कहकर उन ग्रन्थों के आधार पर लिखी गई उपवृंहित कथाएँ कहना अधिक संगत होगा।

इन कथाओं में अनेक स्थलों पर मूल की व्याख्या की गई है; और हिन्दी कोशकार कौमुदी का एक अर्थ 'व्याख्या' भी करते हैं, अतः मैंने इस पुस्तक का नाम 'पुराण-कथा-कौमुदी' रक्खा है।

प्रत्येक कथा के अन्त में, वह कथा जिस ग्रन्थ में जहाँ आरम्भ होती है, उस ग्रन्थ का नाम और स्थान-निर्देश इसलिए कर दिया है कि विज्ञ पाठक उस ग्रन्थ से भी मूल कथा का आस्वाद ले सकें। कथा की टिप्पणी में उस कथा के सारभूत श्लोक तथा अन्य विशेष द्रष्टव्य वचन भी लिख दिये गए हैं। कई एक कथाएँ, जो अनेक ग्रन्थों में बिलकुल एक-सी आती हैं, उनके अन्त में एक ग्रन्थ का नाम दे, विशेष परिचय के लिए अन्य शेष ग्रन्थों के नाम प्रायः टिप्पणी में दे दिये हैं।

इस पुस्तक के तीन काण्ड हैं—

(क) पहले राज्य-काण्ड में राजा वा राज्य से सम्बन्धित २३ कथाएँ हैं। उनमें अच्छे-बुरे दोनों प्रकार के शासकों का वर्णन तथा उनकी मनोवृत्तियों से जनता पर

(च)

पड़ने वाले सुख-दुःखप्रद प्रभावों का दिग्दर्शन कराया गया है। इसके अतिरिक्त युद्धों के कुपरिणामों, प्राचीन दिव्यास्त्रों, विमानों, राकेटों की कथा तथा राज्य में विदेशी हस्तक्षेप के विरोध की कथाएँ हैं।

(ख) दूसरा आचार-काण्ड है। इसमें १५ कथाएँ हैं, जिनमें सदाचार के गुण तथा कदाचार के दोष, जन-सेवा, क्षमा, स्त्रीराज्य की वीरता, माता की ममता, पत्नी-त्याग से पतन, वहमों का विवेचन आदि से संबद्ध कथाएँ हैं।

(ग) तीसरा धर्म-काण्ड है। इसमें १४ कथाएँ हैं जिनमें साम्प्रदायिक कट्टरता के दोष, साम्प्रदायिक मतों के जोश से मतवाले हो लड़ाई-झगड़ा करने वालों की निन्दा, धर्म के नाम पर अत्याचार वा रक्तपात करने से नरक की प्राप्ति, धर्म से जन-सेवा की भावना, धार्मिकता से पाप-निवृत्ति, लोकहित तथा मानसिक शान्ति की कथाएँ हैं।

मैंने वर्षों स्वाध्याय कर अपनी रुचि के अनुसार स्वान्तःसुख के लिए पुराणों से ३०० से अधिक कथाएँ संग्रहीत की हैं। उन्हीं में से ये ५२ कथाएँ भी हैं।

इस संग्रह की सभी कथाएँ लोक-प्रवृत्ति के अनुरूप चुनी गई होने से पाठकों को रोचक प्रतीत होंगी, ऐसी मेरी धारणा है। मुझे आशा है, इन कथाओं को पढ़कर पाठक अवश्य प्राचीनता में नवीनता का अनुभव करेंगे।

यह संग्रह यों ही धरा रहता, कभी न छपता, यदि मेरे मित्र श्री वी० पी० माधवजी मुझे इसे छपाने के लिए प्रोत्साहित न करते। उन्हींके प्रोत्साहन तथा प्रबन्ध से यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। मुद्रण-काल में समय-समय पर उन्होंने मुझे अनेक बहुमूल्य परामर्श दिये हैं जिनके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

विनीत

रघुनाथदत्त बन्धुः

समर्पण

जिनके प्रोत्साहन से ३५ वर्षों से निरन्तर प्राचीन
धर्म-ग्रन्थों का स्वाध्याय करता रहा हूँ;
जिनको पुराणों पर गर्व था
और जो इन कथाओं को
सुनकर पुलकित
हो उठते थे;

उन ब्रह्मलोन

त्यागमूर्ति गोस्वामी श्री गणेशदत्त जी महाराज की
पुण्य-स्मृति में सादर समर्पित !

—बन्धुः

कथा-सूची

पुराण-परिचय

ट-स

१. राज्य-काण्ड

१. धर्मोदार राज्य (अङ्गिरापुराण)	१
२. साम्प्रदायिक राज्य (माघसाहात्म्य)	४
३. अधर्मिक राज्य (बृहद्धर्मपुराण)	८
४. तलवार से धर्म-प्रचार पाप है (अद्भुतरामायण)	१४
५. प्रजापीडक का दान (शिवपुराण)	१६
६. प्राचीन शासक (महाभारत)	२४
७. भारत का राज्य और भरत (अध्यात्मरामायण)	३०
८. राम-राज्य में भिखारिणी (आनन्दरामायण)	४०
९. मेरे राज्य में विदेशी हस्तक्षेप न हो (स्कन्दपुराण क)	४३
१०. सीमा-विवाद (देवीभागवत पुराण)	४७
११. गन्धर्व-दमन (विष्णुधर्मोत्तर पुराण)	५५
१२. पराई सहायता (विष्णुपुराण)	६७
१३. राजनैतिक समझौता (ब्रह्मपुराण)	७०
१४. एक काल्पनिक युद्ध का दृश्य (महारामायण)	७३
१५. मुझे अहंकार ने मारा (बृहन्नारदीयपुराण)	८१
१६. स्त्री-राज्य से संधि (जैमिनिपुराण)	८४
१७. पुष्पक विमान (वाल्मीकिरामायण)	९०
१८. लड़ाकू विमान सौभ (भागवतपुराण)	९७
१९. कृत्रिम उपग्रह उड़े (मत्स्यपुराण)	१०३
२०. निश्शस्त्रीकरण (नन्दिकेश्वरपुराण)	१०६
२१. मुझे राज्य नहीं, शान्ति चाहिए (नारदीयपुराण)	११६
२२. कश्यप का काश्मीर (नीलमतपुराण)	१२१
२३. रामायण में कब क्या हुआ ? (अग्निवेश्यरामायण)	१२६

२. आचार-काण्ड

२४. मानव-सेवा (शिवधर्मपुराण)	१४१
२५. जनता की सेवा ही जनार्दन की सेवा है (वाराहपुराण)	१४५
२६. क्षमा के दो रूप (कपिलपुराण)	१४८
२७. दुराचारी की दुर्दशा (ब्रह्मवैवर्तपुराण)	१५८
२८. बलात्कार से सर्वनाश (वामनपुराण)	१६५
२९. पत्नी-त्याग से पाप (माकण्डेयपुराण)	१६६
३०. मेरी सौत न हो (कालिकापुराण)	१८०
३१. माँ की ममता (नृसिंहपुराण)	१८४
३२. पिता का मोह (गर्गसंहिता)	१८६
३३. श्रीकृष्ण ने कहा (आदिपुराण)	१९३
३४. पाँच प्रेतों की आपबीती (गरुड़पुराण)	१९७
३५. बड़ा कौन ? (लिङ्गपुराण)	२०३
३६. व्यसनी मूर्ख (भविष्यपुराण)	२०७
३७. सूर्यग्रहण (साम्बपुराण)	२१२
३८. युग का प्रभाव (युगपुराण)	२१६

३. धर्म-काण्ड

३९. पूजा पर भगड़ा (कूर्मपुराण)	२२३
४०. मतान्ध मरे (हरिवंशपुराण)	२२८
४१. साम्प्रदायिक विद्वेष में विदेशी हाथ (सौरपुराण)	३३७
४२. धर्म की देन (सूतसंहिता)	२४८
४३. धर्म की भावना (शिवपुराण ख)	२५२
४४. तीनों ही एक हैं (वायुपुराण)	२५६
४५. भगवान् एक ही हैं (श्रीपुराण)	२६१
४६. यह मुझे सर्वव्यापक समझता है (स्कन्दपुराण ख)	२६४
४७. भगवान् धन नहीं, मन माँगते हैं (पद्मपुराण)	२६८
४८. गणेश-पूजा (गणेशपुराण)	२७६
४९. कामधेनु की वेटी (ब्रह्माण्डपुराण)	२८४
५०. मैंने उसे देखा (कल्किपुराण)	२८६
५१. दुःख-निवृत्ति का उपाय (अग्निपुराण)	२९६
५२. सबसे प्रिय कौन ? (आत्मपुराण)	३०१
५३. पदानुक्रमणी	३०६

पुराण-परिचय

पुराण केवल द्विजातियों की ही नहीं, जन-साधारण की संपत्ति हैं। वे उन लोगों के लिए खास तौर पर बनाये गए हैं जिनके धार्मिक अनुष्ठानों पर किसी कारणवश कुछ शास्त्रों ने रोक लगा दी थी।

किन्तु जनसाधारण में भी जो श्रोता श्रद्धालु हैं, अपनी तर्क के नश्वर से काट कर पौराणिक कथाओं के बाल की खाल नहीं खींचते। वे केवल उतने ही भाव पर दृष्टि रखते हैं जिसकी शिक्षा देने के उद्देश्य से पुराणकार ने पुराणों में वे कथाएँ कही हैं। वे जलन्धर की कथा श्रवण कर मात्र इतना ही ग्रहण करते हैं कि पतिव्रता के पति का भगवान् भी बाल-बाँका नहीं कर सकता, अतः स्त्रियों को पतिव्रत धर्म का पालन करना चाहिए। किसी को पाप नहीं करना चाहिए; क्योंकि पाप के दण्ड से, नर की तो बात ही क्या, नारायण भी नहीं बच सकते। इस के सिवाय इस कथा ने किसको क्या कह दिया, इससे उनका कोई सरोकार ही नहीं। इसी तरह ययाति की कथा सुनकर वे मात्र इतना ही ग्रहण करते हैं कि तृष्णा का अंत कभी नहीं होता। ययाति हजार वर्षों तक जवान कैसे रहा, एक की जवानी दूसरे से बदली जा सकती है या नहीं, इस उधेड़-बुन में वे नहीं पड़ते; उसमें से मतलब की बात ही लेते हैं।

इस प्रकार के श्रद्धापूर्ण श्रवण से श्रोताओं की सदाचार में प्रवृत्ति तथा कदाचार से विरक्ति सहज सम्भव हो सकती है, इसलिए ऐसे सुनने वाले श्रोताओं को लाभ भी होता है। पर इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि पुराण केवल अन्ध-विश्वास में ही पनपते हैं, या तर्क की कसौटी पर वे कैसे ही नहीं जा सकते।

पुराण तर्क से नहीं डरते; पर जो व्यक्ति उनकी प्रक्रिया को जाने बिना उन पर आक्षेप करता है, उसकी निन्दा का उन्हें सदा भय रहा है। सच तो यह है कि पुराणों में बहुत-कुछ है। उन्हें आर्य-संस्कृति के आकर तथा भारतीय विद्याओं

१ भागवत १।४।२५

२ (क) अयज्ञिया वै पत्न्यो बहिर्वेदिहिताः। शांखायन ब्राह्मण २७।४

(ख) मीमांसादर्शन १।६।११।२६; ६।११।४५

के विश्वकोश कहने में भी कोई अत्युक्ति नहीं है। उनमें हमारे पूर्वजों की भूरि-भूरि संचित अनुभूतियाँ सुरक्षित हैं। यह अनुभूति-कोश हमारी अनेक युगों की थाती है। भारतीय इतिहास के लिए तो वे पथप्रदर्शक प्रदीप-स्तम्भ का काम देते हैं। प्रागैतिहासिक काल, जो इतिहास के लिए अन्धकार-युग माना गया है, उसमें जब बड़े-बड़े ऐतिहासिकों की दृष्टि आगे बढ़ने में असमर्थ हो जाती है तब उन्हें पुराणों के प्रकाश में ही आगे के भारतीय राजवंशों को टटोलना पड़ता है; पुराण ही उनका पथप्रदर्शक बनता है। परन्तु इतिहासकार बड़े दूरदर्शी होते हैं; वे पुराणों के शंका-उत्पादक वृत्तान्तों को छूते ही नहीं; वे वहाँ से वही उठाते हैं जिसे अपने इतिहास में लाकर पचा सकें इसलिए उनके इतिहास में कोई गड़बड़ नहीं हो पाती।

पुराण-प्रक्रिया

गड़बड़ तब होती है, जब पुराणों को ऐसे लोग पढ़ते हैं जिनमें न श्रद्धा है और न ही जिन्हें पुराण की प्रक्रिया का ज्ञान होता है। वे यह भी नहीं जानते कि प्राचीन संस्कृत-वाङ्मय में इतिहास तथा पुराण दो पृथक्-पृथक् विद्याएँ मानी गई हैं। इसलिए पुराण इतिहास नहीं; पुराणों के वंश तथा वंशानुचरितों में जो इतिहास वर्णित भी है, वह पौराणिक होने से विशुद्ध मानव-इतिहास न होकर प्रायः स्थान-स्थान पर खगोल के ग्रह-नक्षत्रों के वर्णन से संमिश्रित है। यह रहस्य जाने बिना जब कोई पुराण को इतिहास मानकर पढ़ना प्रारम्भ करता है और पुराण में यह पढ़ता है कि कश्यप^१ नाम के ऋषि से हमारा यह सूर्य उत्पन्न हुआ और फिर त्वष्ठा^२ नाम के एक ब्राह्मण ने सान पर चढ़ा कर उसे तराश डाला, जिससे उसमें से अनेक टुकड़े टूट-टूटकर उसके गिर्द छितरा गए, तब उसके मन में शंका जठती है कि ऐसा कैसे हो सकता है, यह असम्भव है।

इसी प्रकार अगस्त्य की असलियत बिना जाने उसे अपने-जैसा मनुष्य समझ कर, जब कोई पुराण में यह पढ़ेगा कि अगस्त्य^३ ने एक बार में ही सारा समुद्र पीकर सुखा डाला और दूसरी बार जब विंध्याचल आकाश की ओर ऊँचा बढ़ रहा था, अगस्त्य^४ ऋषि उस पर्वत से पार निकल गए और जाते हुए उसे यह भी कह गए कि जब तक मैं लौटकर न आऊँ तब तक बढ़ना बन्द करो। और उसके बाद विंध्य पर्वत बढ़ना छोड़, वहीं का वहीं रुका, ऊँचा बढ़ने के लिए

१ ब्रह्मपुराण १।६।१।

२ ब्रह्मपुराण १।३।८१

३ स्कन्दपुराण खं० २।४

४ स्कन्दकाशी खं० ४।१

अगस्त्य की प्रतीक्षा कर रहा है। इस सारी कथा को देख, बिना समझे पाठक इसे गप्प नहीं समझेगा, तो क्या समझेगा? किन्तु पाठकों को यह समझ लेना चाहिए कि प्राचीन संस्कृत-वाङ्मय से स्पष्ट है कि इतिहास और पुराण^१, ये दोनों पृथक्-पृथक् विद्याएँ हैं।

अथर्ववेद में भूमि की रचना के विषय में लिखा है—जैसी यह पहले थी, जैसी वैज्ञानिक उसे जानते हैं, इस तत्त्व को जो जानता है, वही पुराणविद्^२ है। इससे स्पष्ट है कि पुराण सृष्टि-विद्या का नाम है। सर्ववेद-भाष्यकार श्री सायणाचार्य^३ ने वेद में आये 'पुराण' शब्द का यही अर्थ किया है और दर्शनशास्त्र के महान् विद्वान् श्री आद्य शंकराचार्य^४ ने भी उपनिषद् में पाये जाने वाले पुराण पद का यही भाव लिया है। पुराणों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय सर्ग (सृष्टि) ही होने से कोई पुराण ऐसा नहीं, जिसमें सर्ग^५ का वर्णन न हो।

(१) पर यहाँ समझने की बात यह है कि यद्यपि पुराण इतिहास नहीं, फिर भी उसके वंश तथा वंशानुचरितों में इतिहास अवश्य है; परन्तु पुराण का अपना विषय सृष्टि-निरूपण होने से पुराण में आये मानवीय इतिहास भी प्रायः

१ (क) इतिहासपुराणमित्यहम्हः स्वाध्यायसूचीते । शतपथ ११।५।७।८

(ख) इतिहास पुराणम् । गोपथब्राह्मण १।१।२१

२ ये त आसीद् भूमिः पूर्वा यामद्धातय इष्टिदुः ।

यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्थेत पुराणवित् ॥ अथर्व ११।८।७

३ ऋग्वेद की भूमिका तथा ऐतरेय ब्राह्मण की भूमिका में श्री सायणाचार्य ने लिखा है—

इदं वा अग्रे नैव किञ्चिदासीदित्यादिप्रतिपादकं जगतः प्रागवस्था-
मनुपक्रम्य सर्गप्रतिपादकं वाक्यजातं पुराणम् । ऋ भू०

४ अरेऽस्य महतोभूतस्य निश्चसितमेतत्.....पुराणम् ।—बृहदारण्यकोप-
निषद् २।४।१० के शंकरभाष्य में लिखा है—पुराण-असद् वा इदमग्रे आसीत् ।

५ ब्रह्म १।१, ब्रह्माण्ड १।३।, ब्रह्मवैवर्त १।३, पद्म १।२, नारद १।४२, विष्णु १।२
मत्स्य १७०, कूर्म १।४, वाराह २।६, वामन ४३, भागवत ३।५, गरुड १।४,
शिव २(१) १५, लिङ्ग १।३, स्कन्द १(३) ८, मार्कण्डेय ४२।४, भविष्य
१।२, अग्नि १७, वायु १।४, देवीभागवत ६।१, हरिवंश १।१, महाभारत
१।४२ और वाल्मीकिरामायण २।४३ में सृष्टिवर्णन है ।

ग्रह-नक्षत्रों के इतिहास से संमिश्रित होते हैं। उदाहरणार्थ बृहत्संहिता^१ में प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर ने आकाश में घूम रहे—मरीचि^२, वसिष्ठ^३, अंगिरा^४, अत्रि^५, पुलस्त्य^६, पुलह^७, क्रतु^८ आदि ग्रह-नक्षत्रों की स्थिति आकाश में स्पष्ट बतलायी है। पर पुराणों में उन्हें इसी नाम के मानव-ऋषियों से मिलाकर उनकी अनेक कथाएँ कही गई हैं। इतना ही नहीं, हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि पुराणों के वंश-वर्णनों में जड़-चेतन नाम मिले हुए हैं। हमारे इस सूर्य से यह शनि ग्रह^९ उत्पन्न हुआ, यह तो ठीक हुआ; पर इसी सूर्य-वंश में इक्ष्वाकु^{१०} रघु^{११} तथा जनक^{१२} जैसे राजाओं का भी जन्म बताया गया है। बृहस्पति से सम्पर्क रखने वाले किसी चन्द्र^{१३} ग्रह से बृहस्पति के क्षेत्र में बुध^{१४} ग्रह का जन्म लेना तो स्वाभाविक था; पर उसी चन्द्र वंश में यदु^{१५}, उग्रसेन^{१६} और पाण्डव^{१७} भी जन्म लेते हैं।

१ पूर्व भागे भगवान् मरीचिरपरे स्थितौ वसिष्ठोऽस्मात् । तस्मादङ्गिरास्त्रतो-
ऽत्रिस्तस्यासन्नपुलस्त्यपुलहः क्रतुरिति । भगवानासन्ना अनुक्रमेण पूर्वाधात् तत्र
वसिष्ठमुनिमुपाश्रितारुन्धती साध्वी । बृहत्संहिता १३ (६)

- २ भागवत ४।१।१३; महाभा० १।६३।२
- ३ भागवत ६।१।८।६; वा० रा०; १।१०
- ४ भागवत ६।१४; १४। मत्स्य १६५
- ५ भागवत ३।१२।२४; मत्स्य १४४
- ६ भागवत ३।१२।२४; विष्णु १।१०
- ७ भागवत ३।१२।२४; महाभा० १।६६।१०
- ८ भागवत ४।१।३६; विष्णु १।१०
- ९ पद्म ५।८; भा० ६।६।८; ब्रह्म ६; वराह २०; विष्णु ३।२
- १० वा० रा० ७।७६; भागवत ६।६; हरिवंश १।११
- ११ भागवत ६।१०
- १२ वायु ६६; वा० रा० १।७१; भागवत ६।१३
- १३ पद्म ५।१२; भागवत ६।१४; ब्रह्म ८; मत्स्य २३; वायु ६
- १४ देवीभागवत १।११; महाभा० २।११।२६
- १५ मत्स्य ४३; विष्णु ४।११
- १६ महाभा० २।२३।४
- १७ महाभा० १।६४।६४।

यह कौन नहीं जानता कि ध्रुव^१, पृथ्वी^२, सूर्य^३, चन्द्र^४, मंगल^५, बुध^६, बृहस्पति^७, शुक्र^८ और शनि^९—ये सब अचेतन ग्रह हैं। फिर भी इन सभी का पुराणों में चेतन मनुष्यों की भाँति वर्णन किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि जड़ से चेतन वंशों का सम्मिश्रण कर देना पुराणों की यह अपनी विशेष शैली है। इसी प्रकार पुराणों के वंशानुचरितों में अग्नि^{१०}, वायु^{११}, जल^{१२} और पृथ्वी^{१३} की चेतन व्यक्तियों के समान बातचीत का वर्णन है। वहाँ जड़ हिमालय^{१४} भी सन्तान के लिए तपस्या करने जाता है और श्रीराम से डरकर समुद्र^{१५} भी सशरीर उपस्थित होकर प्रार्थना करने आता है। इसलिए पुराण पढ़ते समय यह भूल न जाना चाहिए कि पुराण की सभी कथाएँ केवल मानव-इतिहास की कोरी कहानियाँ ही नहीं हैं, उनमें अचेतन ग्रह-नक्षत्रों तथा चेतन मानव की भावनाओं को मानवीय रूप देकर भी बहुत-सी कथाएँ सत्कर्मों में प्रवृत्ति तथा दुष्कर्मों से विरक्ति उत्पन्न कराने के लिए भी अद्भुत रोचक वा भयानक रूप से लिखी गई हैं। इसे मीमांसकों की परिभाषा में अर्थवाद कहें, वा साहित्य की भाषा में अलंकार कह लें; पर यह वर्णन की एक बहुत पुरानी प्रथा है।

वेद में चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादाः^{१६} इसके उदाहरण हैं। ब्राह्मण-ग्रंथ

- १ भागवत ५।२३
- २ भागवत १०।१७
- ३ वायु ८४
- ४ हरिवंश, १।२५
- ५ व्रतराज, पृ० १०७
- ६ वायु ६०
- ७ हरि १।२५
- ८ देवीभागवत १।६
- ९ भागवत ६।४१
- १० महाभारत ३।२२६।३०
- ११ महाभारत १३।१६१
- १२ महाभारत २।११।२०
- १३ भागवत १०।१७
- १४ ब्रह्मपुराण २३८
- १५ वाल्मीकिरामायण, युद्धकाण्ड २२।२२
- १६ ऋग्वेद ४।५८।३

भी परोक्षप्रिया इव देवा भवन्ति प्रत्यक्षाद्विषाः^१—कहकर इस पद्धति को प्रशस्त वतलाते हैं। और अपिवोभयविधा स्युः^२ कहकर निरुक्त भी उक्त शैली का समर्थन करता है। वही पुरानी शैली पुराणों में भी रक्खी गई है। यही सुझाने के लिए पुराणकार कहीं-कहीं अपनी कथाओं का स्वयं भी रहस्योद्घाटन करने के अभिप्राय से उनकी व्याख्या कर देते हैं।

उदाहरण के लिए भागवत के पुरंजन की कथा^३ लीजिये।

कथा पढ़ते हुए पहले-पहल ऐसा लगता है कि किसी विलासी राजा-रानी की कहानी पढ़ रहे हैं; पर जब २६वें अध्याय में भागवतकार उसकी स्वयं व्याख्या करने लगते हैं, तो वही कथा अध्यात्मवाद की एक बहुत ऊँची कथा बन जाती है। इसी प्रकार महाभारत में दो स्त्रियों द्वारा ताना-बाना बनाकर वस्त्र बुनने की कथा को जब महाभारतकार उत्तङ्क को गुरुमुख से समझाता है, तो वह ज्योतिष-विज्ञान की कहानी बन जाती है।^४ इसी तरह पद्मपुराण में आयी युवती माता के दो वृद्ध पुत्रों की कथा, जो पहले असम्भव-सी दीखती थी, पद्मपुराणकार के समझाने पर भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य की सुन्दर कथा के रूप में परिणत हो जाती है।^५ एवं मनुष्य की भावना के मानवीय रूप में वर्णन की एक कथा, जो कूर्म^६, पद्म^७, मार्कण्डेय^८ पुराण तथा कल्कि^९ उपपुराण में भी समान रूप से आयी है, उसे देखें। वहाँ लिखा है कि 'अधर्म' की 'मिथ्या' नाम की पत्नी थी। उससे 'दम्भ' नाम का पुत्र और 'माया' नाम की कन्या उत्पन्न हुई ! फिर दम्भ से माया के 'लोभ' नाम का पुत्र तथा 'निरुक्ति' (हिंसा) नाम की कन्या ने जन्म लिया। यह एक लम्बी कथा इन पुराण-उपपुराणों में इसलिए नहीं लिखी कि कोई आधुनिक विद्वान् इससे यह आशय निकाले कि यहाँ कभी सगे बहिन-भाई का भी परस्पर विवाह होता था; किन्तु मानव-मन के चितेरे पुराण-

१ गोपथ ब्रा० २।२१

२ निरुक्त दैवत ७।७।१

३ भागवत ४।२६—२६

४ महाभारत १।३।१४४ तथा १।३।१६६

५ पद्मपुराण, उत्तरखण्ड ६३

६ कूर्मपुराण १।८

७ पद्मपुराण १।४

८ मार्कण्डेयपुराण ५।५

९ कल्किपुराण अ० १

(थ)

कार ने इसलिए दी है, कि अधर्म का मिथ्या (भूठ) से निकटतम सम्बन्ध है, और मिथ्या (भूठ) से ही दम्भ तथा माया का जन्म होता है, और उनके संयोग से मनुष्य में लोभ पैदा होता है, तथा दूसरों को सताने, दबाने वा मारने की प्रवृत्ति जन्म लेती है।

इसी प्रकार पहले कही कश्यप से सूर्य की उत्पत्ति^१, सूर्य से टूट कर गिरे टुकड़े^२, अगस्त्य का समुद्रपान^३ तथा विन्ध्याचल से निकल उसकी बढ़ रही ऊँचाई को रोक देना^४ इन चारों कथाओं को भी जब पाठक इतिहास की न समझकर सृष्टि-विज्ञान की समझे, जैसी कि वे हैं, तो उसका दृष्टिकोण ही बदल जायगा। वह स्वयं सोचने लगेगा कि यह बात ठीक लगती है; क्योंकि सृष्टि-विज्ञान के अनुसार ये सभी ग्रह-नक्षत्र नीहारिकाओं से बने हैं। अतः

(क) हमारा यह सूर्य किसी मनुष्य से नहीं, अपितु कश्यप नाम की एक बहुत बड़ी नीहारिका से उत्पन्न हुआ था। तब यह कश्यप से सूर्य की उत्पत्ति अपने-आप ही गप्प न रहकर, एक वैज्ञानिक तथ्य बन जाएगी।

(ख) दूसरी कथा में सूर्य की उस अवस्था का वर्णन है, जब वह नीहारिका का रूप छोड़ कुछ सघन हो, इस योग्य हो गया था, कि अब वह अपने नवजात केन्द्र पर घूम सके। उस अदृढ़ (पिलपिली) दशा में घूमते हुए^५ उसके अनेक टुकड़े छितरा कर उससे पृथक् हो पृथ्वी, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि आदि के रूप में आज भी उस कथा के वैज्ञानिक होने की साक्षी देने के लिए सौर परिवार के रूप में सूर्य के चारों ओर घूम रहे हैं।

(ग) अगस्त्य की पहली कथा पृथ्वी की उस अवस्था का वर्णन करती है, जब पृथ्वी के ऊपर के स्तर की अग्नि तो शान्त होकर भूमि के दूसरे स्तर वितल में जा चुकी थी, पर पृथ्वी का उपरिभाग अभी भी बहुत गर्म था। ऋग्वेद^६ के अनुसार उस समय इसके आकाश में यह समुद्र था। पर पृथ्वी अगस्त्य^७ नाम की भौम्याग्नि से इतनी गर्म थी कि आकाश से मूसलाधार वृष्टि के रूप में पृथ्वी

१ महाभारत १।६६।२७।

२ ब्रह्मपुराण १।३२।८१

३ महाभारत ३।१०४; स्कन्द २।४

४ स्कन्द काशी खं० पू० ४।५; देवीभागवत १०।७।१६

५ ब्रह्मपुराण १।३२।८१

६ ऋग्वेद ८।८।४८।१-३ तै० अ० १०।१।८

७ पुलस्त्योऽजनयत्पत्न्यामगस्त्यं च हविर्भुजि। भा० ४।१।३६

पर आया, वह समस्त समुद्र-जल तप्त तवे पर पड़ते जल-बिन्दुओं की तरह गिरते ही शुष्क हो जाता था। उस अवस्था का वर्णन पुराण ने अगस्त्य के समुद्र-पान^१ की कथा में, अद्भुत बनाकर लिखा है। इसमें भौम्याग्नि का वर्णन है, किसी मनुष्य के समुद्र पीकर सुखाने की बात नहीं। देखिये, यही बात इस युग के सर्वश्रेष्ठ पुराणतत्त्ववेत्ता साहित्य-वाचस्पति महामहोपाध्याय श्री पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेद लिखते हैं कि “कोई” मनुष्याकार-धारी अगस्त्य नाम का व्यक्ति इस पार्थिव समुद्र को अपने चुल्लू से पी गया, ऐसा समझना अान्ति ही कही जायेगी।”

(घ) दूसरी कथा पहली कथा से लाखों वर्ष बाद की उस दशा की भी अन्तिम अवस्था का वर्णन करती है, जब अगस्त्य नाम की भौम्याग्नि भूमि के तृतीय स्तर नितल^३ में इतनी खोल रही थी कि उसके उद्रेक से भूमि में उफान उठ-उठ-कर जगह-जगह पर पर्वत बनकर ऊँचे बढ़ रहे थे। भूगर्भवेत्ताओं से यह बात छिपी नहीं कि उसी (अगस्त्य नामक) भौम्याग्नि के कारण ही पृथ्वी के अन्दर का लावा उभरने से ये सब पर्वत बने हैं, इसीलिए निरुक्त में भी कहा है, “गिरिः” पर्वतः समुद्गीर्णो भवति” अर्थात् पर्वत, पृथ्वी के उगलने से बने होते हैं। अगस्त्य की इस दूसरी कथा में अगस्त्य का दक्षिण, अर्थात् पृथ्वी के और निचले स्तर सुतल में चले जाना पर्वतों के ऊँचे बढ़ने की समाप्ति का सूचक है। इस अवस्था की समाप्ति का ही वर्णन पुराण ने इस प्रकार किया है कि अगस्त्य-रूप अग्नि, जिसके अन्दर होते विन्ध्यपर्वत ऊँचा उठ रहा था, जब वह विन्ध्य से निकल कर दक्षिण” अर्थात् और नीचे चला गया, उसमें न रहा, तो मानो वह जाते हुए यह कहता गया कि जब तक मैं यहाँ न आऊँ, तब तक के लिए बढ़ना बन्द कर दो। बात सच्ची है; जिस अन्दर की आग के कारण विन्ध्य ऊँचा उभर रहा था, वह आग ही वहाँ न रही; दक्षिण अर्थात् नीचे चली गई तो वह पर्वत उभरे भी कैसे? अब तो वह तभी उभरेगा, जब कभी प्रलय के समय अगस्त्य फिर दक्षिण (नीचे) से

१ स्कन्द २।४

२ वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, पृ० १३६

३ अतलं वितलं चैव नितलं सुतलं तथा।

तलातलं रसातलं पातालं चापि सप्तमम् ॥ ब्रह्मपुराण १।३२।१

४ निरुक्त १।२०।५

५ भूमि के मानचित्र में देखें, उसमें उत्तर ऊपर तथा दक्षिण नीचे हुआ करता है; इसी संकेत से अगस्त्य की दक्षिण-यात्रा का अर्थ है—अगस्त्य का नीचे की ओर जाना।

उत्तर (ऊपर) को आयें ।

(२) इसी प्रकार पुराणों में आयी आयु के वर्षों की संख्या भी पुराण-प्रक्रिया को समझे बिना उलझन-सी बन जाती है । कारण यह है कि पुराणों के वंश तथा वंशानुचरितों में नक्षत्र और मानव दोनों के चरितों में विचित्रता लाने के लिए उन्हें पुरुषवत् वर्णन किया गया है । परन्तु जड़-चेतन की आयु में बड़ा भारी भेद है । गृह-नक्षत्रों में घटित घटनाएँ, उनमें होने वाले परिवर्तन आकाश में बहुत धीरे-धीरे लाखों-करोड़ों वर्षों में होते हैं । उन वर्णनों में आये 'सहस्र', 'लक्ष', 'कोटि' शब्दों का अर्थ क्रमशः हजार, लाख और करोड़ कर देना युक्ति-युक्त होने से ठीक है; पर जिस बेचारे मानव की आयु वेद-काल से ही सौ वर्ष^१ मानी गई है, उसके जीवन के सम्बन्ध में जब पुराणों में यह आता है कि कार्तवीर्य अर्जुन पचासी सहस्र^२ वर्षों तक राज-सुख भोगता रहा, उपबर्हण ने तीन लक्ष^३ दिव्य वर्षों तक संसार के सुखों को भोगा और भरत ने एक कोटि^४ वर्ष राज्य भोगकर गृहस्थाश्रम का परित्याग किया—इस प्रकार से मनुष्य की आयु के लिए आये हुए इन 'सहस्र', 'लक्ष', 'कोटि' शब्दों का अर्थ हजार, लाख और करोड़ करना अखरने लगता है ।

यदि कोई इस लम्बी आयु को सुनकर भी अनसुनी नहीं कर देता, इस पर ज़रा भी विचार करता है, तो उसे किसी भी मनुष्य की इतनी बड़ी आयु असम्भव ही लगती है । उसके इस विचार पर झुंझलाकर यह न कहिये कि यह सब पाठक पर पश्चिमी शिक्षा का प्रभाव हुआ है; क्योंकि जब पश्चिमी शिक्षा से भारत का परिचय भी नहीं था, समझदारी तब भी यहाँ विद्यमान थी । उस समय के संस्कृतज्ञ विद्वानों के मन में भी ऐसी आशंकाएँ उठती रहती थीं ।

राम-राज्य के समय जब श्रीराम की राज-सभा में ब्राह्मण ने एक मृत बालक का शव लाकर यह कहा—“राजन् ! बतलाओ, आपके राज्य में, इस पाँच सहस्र^५ (हजार) वर्ष के बालक की अकाल-मृत्यु कैसे हुई ? कहो, यह किस का दोष है ?” तो ब्राह्मण की इस बात से श्रीराम को तो सोच हुआ ही, पर साथ

१ शतायु वै पुरुषः । कौ० ब्रह्म ११।७

२ पञ्चाशीति सहस्राणि ह्यव्याहतबलः समाः । भागवत ६।२३।२६

३ दिव्यं त्रिलक्षवर्षञ्च रेमे रहसि कामुकः । ब्रह्म वै० १।१३।१६

४ एवं वर्षायुतसहस्रपर्यन्तावसितकर्मनिर्वाणावसरः । भागवत ५।७।६

५ अप्राप्तयौवनं बालं पञ्चवर्षसहस्रकम् । वा० रामा० उत्तरकांड, स० ७३।५

ही वाल्मीकि रामायण के तिलक-टीकाकार^१ को भी चिन्ता हुई, कि 'पाँच हजार वर्ष का होने पर भी यह बालक कैसे हुआ ?' इसीलिए उसने पुरुषायु के सम्बन्ध में पूर्वमीमांसा में आयी हुई एक व्यवस्था के अनुसार वहाँ 'वर्ष' का अर्थ 'दिन' लगाकर उस पाँच सहस्र वर्ष का अर्थ पाँच हजार दिन कर दिया। अब बालक की आयु १३ वर्ष ८ मास और १२ दिन की बनाकर टीकाकार ने उस श्लोक की संगति बिठा दी। पर इसकी असल संगति एक पुराण में लगाई है वेद-व्यास ने। उन्होंने वाल्मीकिरामायण की इस कथा में आये उस बालक को पद्म-पुराण^२ में पाँच हजार वर्ष का न लिखकर केवल पाँच ही वर्ष का बतला इस उलझन को सुलझाने के लिए यह संकेत किया है कि यहाँ मनुष्य की आयु के लिए आया 'सहस्र' शब्द संख्यावाचक न होकर पूर्णार्थक है।

अतः ग्रह-नक्षत्रों की आयु के विषय में आये सहस्र शब्द का हजार, लक्ष का लाख, तथा कोटि का अर्थ करोड़ वर्ष ही होगा। पर यदि यह पुराण में किसी मनुष्य की आयु के लिए प्रयुक्त हो, तो सहस्र का अर्थ पूरा, लक्ष का अर्थ उसके साथ आयी संख्या से कुछ मास वा दिन कम, तथा कोटि का अर्थ जिस संख्या के साथ वह आये, उससे कुछ मास वा दिन अधिक जानना चाहिए। ऐसा करने से पुराणों में आयी लम्बी आयु की समस्या स्वयं हल हो जाएगी। उदाहरण के लिए वाल्मीकिरामायण का यह श्लोक लें—

षष्टिवर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक।

दुःखेनोत्पादितश्चायं न रामं नेतुमर्हसि॥ वा० रा०, बालकांड २१।०१

क्या आप इसका यह अर्थ करेंगे कि दशरथ के घर ६० हजार वर्ष की आयु में श्री राम का जन्म हुआ था; या ऊपर कहे अनुसार यहाँ के सहस्र शब्द को पूर्णार्थक मानकर यह समझेंगे कि महाराज दशरथ की आयु जब पूरी ६० वर्ष की हो गई, तब उनके घर श्री रामचन्द्र उत्पन्न हुए ?

'सहस्र' पद का यह पूर्णार्थ हमने अपनी ओर से नहीं किया, स्वयं पुराणकार ने इसका संकेत दिया है। परन्तु आप संकेत पर ही क्यों रहें, प्रमाण लें।

वेद-विद्या के पारंगत विद्वान्, विद्यावाचस्पति श्री पं० मधुसूदन जी ओझा ने

१ अप्राप्तयौवनं बालं पञ्चवर्ष सहस्रकम् —“वर्षशब्दोऽत्र दिनपरः”

(क) “सहस्रसंवत्सरं सत्रमुपासीत” इतिवत् ।

तेन षोडशवर्षमित्यर्थ इत्येके, किंच न्यून द्वादशवर्षमित्यन्ये।—तिलकटीका

(ख) पञ्चवर्षसमन्वितम् अतः बालम्।—रा० टी०

२ अप्राप्तयौवनं बालं पञ्चवर्षगतायुषम् । पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड ३७।३७

‘अत्रि-ख्याति’^१ में अत्रि की तीन सहस्र वर्ष की तपस्या का भाव यों लिखा है, कि “वेद में सहस्र का अर्थ पूर्ण भी होता है। अतः यहाँ अत्रि ने तीन सहस्र वर्ष तपस्या की।”^२ इसका अर्थ है कि वह पूरे तीन वर्ष तपस्या करता रहा। इस प्रकार पुरुष की आयु के लिए पुराणों में आये हुए सहस्र आदि पदों का ‘गुर’ यदि पाठक जान ले, तो पुराण-वर्णित पात्रों की आयु जैसे उसे पहले असम्भव लगती थी, तब न लगेगी।

(३) असम्भव दोष दोष होने पर भी इतना बुरा नहीं, जितना कि दुराचार वा व्यभिचार है; परन्तु जो पुराण को मानवीय इतिहास मान पढ़ने लगेंगे, उन्हें चन्द्र-तारा, इन्द्र-अहल्या, ब्रह्मा और वाक् की कथाओं में व्यभिचार के सिवाय और क्या दिखायी देगा ? पर वही जब यह जानकर कि पुराणों के चरित्रों में केवल मनुष्यों की कहानियाँ ही नहीं हैं, उनमें विविध ग्रह-नक्षत्रों, अनेक प्राकृतिक घटनाओं, तथा बहुत-सी मानवीय भावनाओं को भी मानव-रूप देकर उनका वर्णन किया गया है, जिनमें से कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक संस्मरण हैं और बहुत सी पाप-पुण्य के हेयोपादेय के विवेक के लिए बनायी गई हैं, तब वह पुरुषवत् वर्णित अचेतन पदार्थों, नैसर्गिक घटनाओं और अमूर्त भावनाओं के मिलने-मिलाने में व्यभिचार वा पाप नहीं मानेगा; अपितु ऐसा समझने वालों के उस विचार पर हँसेगा। तब उसे चन्द्र-तारा की कथा में सृष्टि के आदि में बुधग्रह के उत्पन्न होने की वैज्ञानिक झलक मिलेगी; इन्द्र-अहल्या की कथा से अहोरात्र-विज्ञान प्राप्त होगा और ब्रह्मा का बलात्कार एक राजनैतिक तत्त्व पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालेगा।

(क) चन्द्र-तारा का वर्णन पहले संक्षिप्त रूप से कर दिया गया है।

(ख) इन्द्र-अहल्या की कथा का रहस्योद्घाटन प्राचीन काल के प्रकाण्ड पण्डित प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिलभट्ट ने अपने अमर ग्रन्थ ‘तन्त्रवार्तिक’ में यों किया^३ है—

१ एष त्रीणि वर्षसहस्राणि शक्तिविशेषलाभार्थमृक्षपर्वतेऽनुत्तमं तपस्तेपे
इत्याहुः। तत्र सहस्रशब्दः पूर्णार्थः “सर्वं वै सहस्रम्”। (शतपथ ४।६।१।१५)
इति श्रुते। पूर्णत्वं च वर्षाणां मासवासरादिभिरन्यूनानतिरिक्ततत्त्वम्।

—अत्रिख्याति, पृ० ३

२ एवं समस्ततेजा परमेश्वर्यनिमित्तेन्द्र शब्दवाच्य सवितैवाहनिलीयमानतया
रात्रेरहल्याशब्दवाच्याया क्षयात्मक जरणहेतुत्वाज्जीर्यत्स्मादनेनैवोदितेन
आदित्य एवाहल्या जार इत्युच्यते।

मीमांसादर्शन १।३।३।७ तन्त्रवार्तिक।

(फ)

अहल्या और इन्द्र की कथा में इन्द्र का अर्थ सूर्य और अहल्या का अर्थ रात्रि है; क्योंकि सूर्य के निकलने से रात्रि जीर्ण हो जाती है। इसलिए उसे अहल्या का जार कहा गया है। इसमें व्यभिचार की कोई बात नहीं, यह दिन-रात की प्राकृतिक घटना का वर्णन है।

(ग) तीसरी यह ब्रह्मा की कथा है; इसका संकेत^१ ऋग्वेद में आया है। कथा का मर्म जाने बिना यह बड़ी अश्लील प्रतीत होती है परन्तु ऐतरेय,^२ शतपथ^३ निरुक्त^४ तथा तन्त्रवार्तिक^५ इन चारों महान् ग्रन्थों से पता चलता है कि इसे अश्लील समझने वाले उसे समझे नहीं। आचारशास्त्र के धुरंधर विद्वान्, स्मृति-भास्कर महामहोपाध्याय स्व० श्री पं० देवराज जी इस कथा को जनहित-विरोधी अन्यायी शासक की कुत्सा की कहानी कहा करते थे। उनका कहना था कि इस कथा में आये ब्रह्मा का अर्थ प्रजापति है, क्योंकि कथा का मर्म बतलाते हुए ऐतरेय तथा शतपथ दोनों ब्राह्मणों ने यही अर्थ लिया है। प्रजापति कहते हैं राजा को। अथर्ववेद में प्रजापति की 'सभा' और 'समिति' नाम से दो पुत्री^६ कही गई हैं; उन्हें आज की लोक-सभा और राज्य-सभा के समान समझना चाहिए। अतः जो राजा अपनी लोक-सभा वा राज्य-सभा के उचित प्रस्ताव को मदान्ध होकर अपनी प्रतिषेधशक्ति (Veto Power) से रद्द कर प्रजा को कष्ट पहुँचाता है, उसका यह कुकृत्य ही अपनी सभा-रूपी दुहिता पर बलात्कार अर्थात् बल-प्रयोग करना है। इस कथा में यही कहा गया है। इससे उस शासक के उस कुकृत्य की निन्दा से तात्पर्य है। कथा में व्यभिचार की कोई गन्ध नहीं, केवल राजनैतिक भर्त्सना है।

(४) पुराणों में कई ऐसी बातें भी समस्या बन गई हैं जिनका निरीक्षण आज के विद्वानों ने एक प्रकार (ढंग) से किया है और पुराणों में उसका परीक्षण किसी दूसरी रीति से हुआ है। इस विषय पर काशी के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री स्वामी दयानन्द बी. ए. ने लिखा है^७—“आज के भूगोलवेत्ता पृथ्वी का व्यास ८०००

१ ऋग्वेद १।१६४।३३

२ ऐतरेयब्रा० ३।३३।३४

३ शतपथब्रा० १।७।४।४

४ निरुक्त ४।२१

५ तन्त्रवार्तिक सूत्र १।३।३।७

६ सभा च या समितिश्चावतां प्रजापतेदुहितरौ संविदाने ।

येन संगच्छाउपमा स शिक्षाच्चारुवदानि पितरः सङ्गतेषु ॥—अथर्व ७।१२।१

७ देखें सत्यार्थविवेक, द्वितीय समुल्लास, पृष्ठ ३०४

(ब)

मील मानते हैं और पुराण में पृथ्वी का परिमाण पचास कोटि^१ योजन लिखा है। ये दोनों सत्य हैं। केवल माप की रीति में भेद है। भूगोलवेत्ताओं ने पृथ्वी का जो माप किया है, वह पृथ्वी की मध्यरेखा अर्थात् व्यास का है जो आठ हजार मील है, परन्तु पुराण में समस्त पृथ्वी की भूमि का 'माप' घनफल निकाल कर बताया है।

किसी गोल पदार्थ का 'घनफल' निकालने के लिए शास्त्र में यह युक्ति रखी गई है कि उस गोल पदार्थ के व्यास को तीन बार गुणा, अर्थात् घन, करके उसका आधा हिस्सा ले लिया जाए।

इस तरह हिसाब करने से सिद्ध होगा कि पृथ्वी के व्यास का परिमाण जब आठ हजार मील है, और दो मील में एक कोस और चार कोस का एक योजन होता है। तो आठ हजार मील का एक हजार योजन हुआ जोकि पृथ्वी का व्यास है। इसलिए पृथ्वी की समस्त भूमि का परिमाण घनफल के हिसाब से—

$$\frac{1000 \times 1000 \times 1000}{2} = 50,00,00,000 \text{ अर्थात् पचास कोटि योजन}$$

होगा। इसलिए पुराणों में कोई दोष नहीं, केवल हमारे द्वारा उसे न समझे जाने का ही सारा दोष है।”

(५) अतः पुराण की प्रक्रिया जानकर ही पुराणों का पढ़ना लाभदायक हो सकता है। क्योंकि पुराण पढ़ते समय कुछ ऐसी समस्याएँ सामने आती हैं जिन्हें सुलभाना साधारणतया असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य हो जाता है। यही कारण है कि प्राचीन काल में दस-दस हजार छात्रों को वेद-वेदाङ्ग और दर्शनशास्त्र पढ़ाने वाले शौनक^२ आदि कुलपति^३ भी परंपरा से अध्ययन किये पुराण-विद्या के निष्णात विद्वानों से ही पुराण का पूर्णशिव समझते थे। अपने-आप मनमाना भाव निकालने का कोई साहस न करता था।

पुराण-तत्त्व की जिज्ञासा के लिए कुरुक्षेत्र^४, प्रयाग^५, तथा नैमिषारण्य^६

१ पञ्चाशत्कोटिविस्तारा सेयमुर्वी द्विजोत्तमाः। ब्रह्मपुराण, अ० २०।६८

२ भागवत १।१।६

३ मुनीनां दशसहस्रं योजन्तदानादिपोषणात्।

अध्यापयति विप्रभिः स वै कुलपतिः स्मृतः॥ शब्दकल्पद्रुम, पृ० ११५३

४ वायु १।१।१४

५ पद्म १।१।१३

६ स्कन्द १।१।३; मत्स्य १।५; लिङ्ग १।१०; ब्र० वै० १।१।३; अग्नि १।२;

कूर्म १।२; ब्रह्म १।१।३

में अनेक बार धर्म-सम्मेलन हुए, जिनमें अठासी-अठासी हजार महाविद्वान् ऋषियों के अतिरिक्त जनसाधारण की भी खासी भीड़ रहा करती थी। यह धर्म-सम्मेलन एक अच्छा-खासा मेला था जो कई दिनों तक चलता रहता था।

पुराणों का उदार दृष्टिकोण

धार्मिक विषयों में पुराणों का दृष्टिकोण बड़ा ही उदार है। विविध देशों के प्राचीन इतिहास जिन साम्प्रदायिक आयोधनों के कारण अनेक मत के मत वाले नरों व नरपतियों द्वारा रक्तंजित हुए हैं, जिनसे 'साम्प्रदायिकता' कलह का पर्याय और 'धर्म' शब्द भयावह हो आज के अनेक विपश्चितों की उपेक्षा का विषय हो गया है। पुराण उस साम्प्रदायिक कट्टरता व विग्रहों का घोर विरोध करते हैं। पुराण सदा इस बात पर बल देते हैं कि कोई व्यक्ति वा सम्प्रदाय दूसरे के इष्टदेव^१ वा उपासना-पद्धति को बुरा न कहे। सब अपनी-अपनी रुचि के अनुसार स्वन्त्रता से उपासना करें।^२

उसने हिन्दूधर्म के प्रधान वैष्णव, शैव तथा शाक्त इन तीनों सम्प्रदायों को स्पष्ट बतला दिया है, कि विष्णु, शिव, शक्ति तीनों ही एक-रूप हैं^३। शिव से द्वेष करने वाला वैष्णव तथा विष्णु का विरोधी शैव वा शाक्त घोर नरक में पड़ेंगे^४। 'जो मेरा मत है वही सभी मानें, या मरें', ऐसी धींगामुश्ती की कोई-शिक्षा पुराणों में नहीं है।^५

विचार-स्वातन्त्र्य का महत्त्व मानते हुए^६ पुराणों ने अपने महामान्य वेद तथा ईश्वर को न मानने वाले बौद्ध धर्म के प्रवर्तक भगवान् बुद्ध^७ को अपने दश अवतारों में गिना है और जैनियों के तीर्थंकर ऋषभदेव^८ को चौबीस अवतारों में माना है। यही नहीं, भविष्यपुराण में प्रक्षेप करने वालों तक ने सम्प्रदायों के मेल की

१ वायुपुराण ६६।११४

२ कूर्मपुराण पू० अ० २२।३६

३ वायुपुराण ६६।११७

४ वाराह पुराण ७०।२८, ४१

५ अद्भुतरामायण ६।२४

६ अङ्गिरापुराण १।१६

७ अग्निपु० ४६।८; पद्म ५।७३; भागवत १।३।२४ मत्स्य ४७।२४४

८ भागवत १।३।१३।।२।७।१०।४।३।२०।।८।१३।२०

पौराणिक परम्परा को मान्यता दे जरथुस्त^१ ईसा,^२ मुहम्मद साहब^३ गुरु नानक देव^४ कबीर^५ व श्री रविदास^६ आदि सम्प्रदाय-प्रवर्तक महापुरुषों को भी सम्मान से स्मरण किया है ।

स्मृतिकार जिन्हें हिन्दू धर्म का अंग मानते हैं और पाश्चात्य पद्धति के गवेषक जिन्हें आदि-धर्मों बतलाते हैं, उन भील^७ तथा निषादों^८ की हिन्दू धर्म पर अगाध श्रद्धा-भक्ति की अनेक कथाएँ पुराणों में विद्यमान हैं ।

स्मृतिग्रन्थ जिन जातियों को बाह्य, अन्त्यज और अन्त्यवसायी कहते हैं, आगमशास्त्र जिन्हें मन्दिर-प्रवेश, देव-दर्शन आदि धार्मिक कृत्य करने का निषेध करते हैं—उन सभी हरिजनों को पुराण भक्तिशास्त्र से समन्वय कर देव-दर्शन, मन्दिर-प्रवेश, तीर्थ, व्रत, कथा आदि में द्विजातियों के समान^९ अधिकार देते हैं ।

पुराणों का काल-निर्णय

पुराणों के काल-निर्णय पर पौरात्य तथा पाश्चात्य विचारकों में अंग्रेजी शासन के समय एक रस्साकशी-सी चली थी । पूर्व के कुछ पण्डित पुराणों को वेद-काल से भी आगे खींच ले जाते थे, तो पश्चिमी विचार के देशी-विदेशी विद्वान् पुराणों को ईसा की नवमी सदी तक घसीट लाते और कुछ तो इन्हें खींचकर १७वीं सदी तक ला पटकते थे । विद्यावारिधि श्री पं० ज्वालाप्रसाद^{१०} मिश्र तथा हिन्दी विश्व-कोश के संपादक श्री नागेन्द्रनाथ^{११} वसु ने लिखा है कि प्रो० विल्सन, भागवत, वाराह, विष्णु इन तीन पुराणों को १२वीं, ब्रह्म को १४वीं, पद्म को १५-१६वीं एवं नारदीय पुराण को ईसा की १६-१७वीं सदी में बना मानते हैं । परन्तु

१ जरशब्द इति ख्यातो भविष्यति-भविष्य ब्रा० ३।४३।१३६

२ ईशपुत्रं च विद्धि तम् । भविष्यपु० ३।२।२६

मसीहोऽहं समागतः । भविष्यपु० ३।२२५

३ भविष्य प्रति ३।३।२

४ नानको नाम विश्रुतः । भविष्य प्रति० ४।१७।८६

५ कबीर इति ख्यातः । भविष्यपु० ४।१७।३६

६ रैदास इति विश्रुतः । भविष्यपु० ४।१७।५३

७ ब्रह्म० १६६।

८ स्कन्द, ब्र० १७

९ देखें, मेरा ग्रन्थ—‘हरिजनों के अधिकार’

१० अष्टादशपुराणदर्पण की भूमिका,

११ हिन्दी विश्वकोश में ‘पुराण’ शब्द देखें ।

इतिहास के विद्यार्थियों से यह बात छिपी नहीं, कि १०१७ ईसवी में महमूद^१ 'खीवा' को विजय कर वहाँ से जिन लोगों को बन्दी बनाकर अपने साथ भारत लाया था, उनमें अलबरूनी भी एक था। यहाँ आकर अलबरूनी ने भारत पर एक पुस्तक लिखना आरम्भ किया जो १०३१ को गजनी में जाकर समाप्त हुई। इस पुस्तक में १८ पुराणों तथा १८ उपपुराणों के नाम आते हैं^२। इस से स्पष्ट है कि ११वीं सदी के पूर्वार्द्ध में १८ पुराण विद्यमान थे, तब किसी का उनमें से कुछ पुराणों को १२वीं, १४वीं या १७वीं सदी का कहना पुराणों के विषय में एक ऐतिहासिक भ्रम ही कहा जा सकता है।

श्री चिन्तामणि वैद्य ने लिखा है, कि ईसवी सन् ४४५ के एक गुप्तकालीन शिलालेख में "शतसहस्रायां संहितायां" ऐसा पाठ आया है। यह एक लाख श्लोक का ग्रन्थ महाभारत ही था। इससे प्रकट होता है कि महाभारत का वर्तमान रूप ईसवी सन् ४०० से पहले उसे प्राप्त हो चुका था।

इसी प्रसंग में आगे चलकर श्री वैद्य कहते हैं कि कुछ लोग समझते हैं कि महाभारत को वर्तमान स्वरूप गुप्तों के जमाने में प्राप्त हुआ, परन्तु यह उनकी भूल है। क्योंकि एक लक्षात्मक ग्रन्थ का उल्लेख ग्रीक लेखक डायोन क्राय सोस्टोम ने ईसा की पहली सदी में भी किया है। बेबर ने लिखा है कि 'यूनानी डायोन क्रायसोस्टोम ईसा की पहली सदी में केरल देश में आया था। उसने एक लाख श्लोक की जिस पुस्तक का जिक्र किया है। वह महाभारत ही थी।'^३

क्योंकि महाभारत में १८ पुराणों^४ के पढ़ने का फल लिखा है। अतः ईसा की प्रथम शताब्दीसे पहले ये १८ पुराण बन चुके थे। यह बात सहज में ही सिद्ध हो जाती है। यही क्यों—पुराण का नाम संहिता^५, ब्राह्मण^६, आरण्यक^७, उपनिषद्^८,

१ अलबरूनी का भारत, श्री संतराम-कृत हिन्दी-अनुवाद की भूमिका, पृष्ठ १

२ अलबरूनी का भारत, अध्याय १२

३ महाभारत-मीमांसा, पृष्ठ ४३

४ महाभारत स्वर्गारोहणपर्व ६।६७

५ अथर्ववेद ११।७।२४

६ शतपथ ब्रा० ११।५।७।६; गोपथ ब्रा० १।१०।१२

७ तैत्तिरीय आरण्यक २।६

८ छान्दोग्य ७।६।१।१

श्रौतसूत्र^१, गृह्यसूत्र^२, धर्मसूत्र^३, स्मृति^४, रामायण^५, महाभारत^६, निरुक्त^७, अष्टाध्यायी^८, अर्थशास्त्र^९, और आयुर्वेदीय चरकसंहिता^{१०} में भी आता है।

इन ग्रन्थों के द्रष्टा वा कर्त्ताओं को भविष्य करतलगत आमलक के समान प्रत्यक्ष दीखता था। यदि श्रद्धा पर निर्धारित इस विश्वास को श्रद्धालुओं के लिए छोड़ दिया जाय तो सर्वसाधारण के लिए यह सामान्य नियम लागू करना पड़ेगा कि पुराणों का नाम जिन ग्रन्थों में आया है, पुराण उन सब से पहले के हैं।

कुछ लोग तो यहाँ तक कह देते हैं, कि वेद में विवाह के मन्त्र^{११} पाये जाते हैं, परन्तु श्वेतकेतु^{१२} के साथ घटित घटना के कारण उसका विवाह-विधि की मर्यादा स्थापित करना, यह वर्णन वेदों से पुराने समय का होगा—जिसे पुराण तथा महाभारत ने अपने में सुरक्षित कर रखा हुआ है। उनका यह भी कहना है कि अनेक मन्त्र अपनी बात को ऐसे संकेत से कहते हैं कि यदि उनकी पृष्ठभूमि का ज्ञान न हो तो उनकी बातें समझ में आ ही नहीं सकतीं। वे तभी खुलती हैं जब पुराण की कोई कथा उन्हें स्पष्ट कर दे। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद का एक मन्त्र^{१३} लें, जिसका भाव यह है कि स्वर्ग का राजा इन्द्र कह रहा है कि मेरे पास आज निश्चय ही खाने को कुछ नहीं है और न ही कल कुछ मिलने की आशा है; क्योंकि दूसरे के दिल की कौन जानता है कि कल कोई कुछ देगा या नहीं! देवराज की इस दयनीय दशा का रहस्य तभी खुलता है जब विष्णुपुराण^{१४} की कथा में रजि-पुत्रों से हार कर भागे हुए इन्द्र को

१ अश्वलायन श्रौतसूत्र उ० प० ४।७

२ अश्वलायनगृह्य ४।६

३ आपस्तम्बधर्मसूत्र २।२४।३।१।६।१६।१३

४ मनु ३।२३२; याज्ञवल्क्य १।४५

५ वाल्मीकिरामायण, वा० का सर्ग ६।१

६ महाभारत आदि अ० ५।२

७ निरुक्त ३।१।२४

८ अष्टाध्यायी ४।३।१०५

९ अर्थशास्त्र ५।२।५।५

१० चरकसंहिता, शरीरस्थान ४।४४

११ ऋग्वेद १०।८५।३६ (आश्व० गृ० १।७।३)

१२ महाभारत, आदिपर्व १२८।१२-४६

१३ ऋग्वेद २।४७।१०।१

१४ विष्णु पुराण ४।६

एक दिन एकान्त में बृहस्पति से यह कहते सुनते हैं—‘गुरुदेव, आप क्या मेरे खाने के लिए एक बेर के बराबर पुरोडाश (हुतशेष वा हवि) दे सकते हैं?’

इन बातों से पता चलता है कि पुराण वेद से भी पहले के हैं और पुराण वेद से पहले के हैं, यही दावा पुराण^१ का भी है। और वेद की पृष्ठभूमि की ऐसी कई कथाएँ पुराणों में सुरक्षित हैं जो उसे पुष्ट करती हैं। इस बात की पुष्टि निरुक्त^२ में बतलाये ऐतिहासिक पक्ष तथा बृहद्देवता^३ में आयी कथाएँ भी करती हैं, जिन्हें उसने पुराणों से लिया है। परन्तु मीमांसादर्शनकार^४ जैमिनि इससे सहमत नहीं। उनका कहना है कि वेद-मन्त्रों को देखकर ये सब कथाएँ घड़ ली गई हैं। वेद अपौरुषेय होने से अनादि हैं, पुराण उनसे पहले के कैसे हो सकते हैं? उन्होंने तो वेद में आये नामों से सब नाम रख लिए हैं। ऐसा जान पड़ता है, इसी बात की ओर मनु^५ भी संकेत करते हैं।

हमने इन दोनों पक्षों की मोटी-मोटी बातें केवल पाठ के परिचय के लिए लिख दी हैं, किसी विवाद के लिए नहीं। इन दो मतों में पहले में तर्क और दूसरे में श्रद्धा को प्रधानता दी गई है। इनके विवाद में न पड़कर हम तो केवल इतना ही कहते हैं कि निरुक्तकार यास्क^६ पुराण को अपने से पुराना मानता है।

पुराणों में प्रक्षेप

यहाँ यह कह देना नितान्त आवश्यक है, कि तब से अब तक पुराण ज्यों के त्यों चले आ रहे हैं, या उनमें कोई परिवर्तन वा परिवर्धन नहीं हुआ—यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जिस वेद की रक्षा के लिए पद-पाठ के अतिरिक्त जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दण्ड, रथ तथा घन ये आठ विकृतियाँ^७ बनीं, उसके

१ वायु० १।१।६०; मत्स्य ५३।३

२ निरुक्त—त्रितःकूपे। ऋ० १।१०।५।१७। त्रितंकूपेऽवहित मैतत्सूक्तं प्रति वभी निरुक्त नैगम का० ४।६।६—महाभारत, शल्यपर्व, अ० ३७

३ बृहद्देवता ४।१३। ऋग्वेद में कथास्थल बृहद्देवता के अनुसार ऋ १। १२६।

४ ७। १।८२।४ आदि

५ परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्। मीमांसादर्शन १।१।१३

५ मनु १।२१

६ निरुक्त ३।१।२४

७. जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः।

अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः ॥ वि० १।५

मन्त्र ही नहीं, पद तथा अक्षर भी गिन लिये गए थे, उस वेद में भी शाखा-भेद से पाठ-भेद ही तहीं खिल तकविद्यमान हैं, तब बेचारे पुराण अछूते रहे हों, यह कैसे सम्भव हो सकता है? निस्संदेह पुराणों में कई राजाओं ने कुलीन कहलाने की वासना वा नाम स्थायी रखने की धुन से अपने समय में अपने-अपने आश्रितों द्वारा राज-वंश बढ़वाये हैं तथा अपने समय के राजा की खुशामद के उद्देश्य से कुछ पण्डितों ने भी वंश तथा वंशानुचरितों में गोलमाल किया है। वेंकटेश्वर प्रेस के छपे भविष्य-पुराण ने तो इसकी अति ही कर दिखायी है। वह बाबर,^१ हुमायूँ^२ और अकबर^३ तक की बातें कह कर भी शान्त न हुआ। उसका भविष्य-कथन बराबर रानी विक्टोरिया^४ के समय तक चलता रहा। इन पुराणों में कुछ मत के मतवालों ने भी कहीं-कहीं गड़बड़ की है, परन्तु वह बहुत ही कम है। तथापि इससे यह न समझ लेना चाहिए कि भविष्यपुराण बिल्कुल ही नया है।

भविष्यपुराण का नाम 'आपस्तम्ब' धर्मसूत्र में आता है। डा० ब्रुहलर^५ आपस्तम्बधर्मसूत्र का निर्माणकाल ३०० वर्ष ईसा-पूर्व मानते हैं, इससे स्पष्ट है कि भविष्यपुराण आज से २३००-२४०० वर्ष पहले भी विद्यमान था।

भविष्यपुराण^६ की एक कथा में कहा गया है कि साम्ब शाकद्वीप से सूर्य-पूजा के लिए मगाचार्य को लाया था। मिहिरगोत्र के सुजिह्व नाम के ब्राह्मण की निक्षुभा नामक कन्या में भगवान् भास्कर की कृपा से जराशब्द जरा-शस्त पुत्र हुए। मग ब्राह्मण उन्हीं के वंशज हैं। प्रो० रामदास गौड़^७ ने लिखा है—

“यह घटना साढ़े चार हजार वर्ष पुरानी है। पारसियों के धर्मग्रंथ 'छन्दावस्था' में मिहिरयस्त खण्ड से पता चलता है कि एक समय सूर्योपासक और अग्नि-उपासक पारसियों में झगड़ा हुआ। फलतः सूर्योपासक यहूदी भारत में आकर रहने लगे। पारसियों के अनुसार इस घटना को हुए साढ़े चार हजार वर्ष हुए हैं। अतः पुराणों में यह साढ़े चार हजार वर्ष की घटना सुरक्षित पड़ी है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी पारसियों के बताये समय का हमारे समय के

१ भविष्य पु० प्र० ४।१२।४

२ भविष्य पु० प्र० ४।१२।४

३ भविष्यपुराण ४।१२

४ भविष्यपुराण ४।२२।७५

५ हिन्दी विश्वकोश का 'पुराण' शब्द देखें

६ भविष्यपुराण १।३६।४३

७ 'हिन्दू', पृ० ७१५

साथ प्रायः मेल मिल ही जाता है। क्योंकि साम्ब श्रीकृष्ण के पुत्र थे और भगवान् कृष्ण ने जिस दिन यह धराधाम छोड़ा था, उसी दिन से यहाँ कलियुग^१ ने प्रवेश किया था और कलि को आरम्भ हुए लगभग इतने ही वर्ष हुए हैं।

प्रो० गौड़ ने 'हिन्दू' में लिखा है कि प्रो० दीक्षितार का कहना है कि योग का पाशुपत-रूप जैसा वायुपुराण में वर्णित है^२, मोहनजोदारो की खुदाई में भी ठीक वैसी ही योगमुद्राएँ मिली हैं। इससे स्पष्ट है कि आज से ६ हजार वर्ष पहले की, काल के गर्भ में छिपी भावनाएँ पुराणों में आज भी सुरक्षित हैं। पुराण हमारे अतीत काल का, संस्कृति का मान है, इसलिए हमें उन पर मान है।

पुराण अठारह क्यों हैं ?

भिन्न-भिन्न पुराणों की सृष्टि-प्रक्रिया में परस्पर सूक्ष्मतर विभिन्नता आ जाने से सृष्टि-उत्पत्ति के विषय में १८ मत हो गए हैं। इन्हीं १८ भेदों के कारण व्यास-संग्रहीत २० पुराणों की विद्यमानता में भी पुराणों की संख्या १८ से अधिक नहीं मानी गई। एक-एक सृष्टि-प्रकार का एक-एक पुराण में प्रतिपादन होने से पुराण १८ ही कहे जाते हैं। समान वाद के प्रतिपादक दो पुराणों से लोमहर्षण सूत ने किसी पुराण में एक का ग्रहण कर दूसरे को छोड़ दिया है तो उसके पुत्र उग्रश्रवा सूत ने दूसरे में उस पहले पुराण को न गिनकर दूसरे पुराण से १८ की संख्या पूर्ण कर ली है। यही भिन्न-भिन्न पुराणों में पुराणों के नामभेद का कारण है। उदाहरण के लिए आप देखेंगे कि जिन पुराणों में १८ पुराणों की नाम-गणना है, उनमें से^३ पद्म, ब्रह्मवैवर्त्त, भविष्य, भागवत, मार्कण्डेय, लिङ्ग, विष्णु, शिव तथा स्कन्द—ये नौ पुराण शिवपुराण की १८ पुराणों में गणना कर वायुपुराण को नहीं गिनते; और देवीभागवत, नारद, मत्स्य तथा वायु—ये चार पुराण शिव के स्थान पर वायु पुराण को गिनकर १८ की संख्या पूरी करते हैं। और मार्कण्डेय पुराण, लिङ्गपुराण को छोड़ नृसिंहपुराण से पुराणों की उस १८ संख्या को पूर्ण करता है, पर कूर्मपुराण तो १९ पुराणों के नाम गिनाकर (अष्टादशं समुद्दिष्टं ब्रह्माण्ड-मिति संज्ञितम्—कूर्म १।१।१५) दो पुराणों में सृष्टिवाद एक होने से उन्हें १८ ही

१ विष्णु पु० ४।२४।१३

२ 'हिन्दू' पृ० ११८

३ वायु पु० १।१५

४ पद्म ५।११५। ब्र. वै. ४।१३१। भविष्य १।१। भागवत १२।१३ मार्कण्डेय

१३७। लिङ्ग १३६। विष्णु ३। शिव ७।१। स्कन्द १।४ दे० भा० १।३

नारद १।६२। मत्स्य ५३। वायु ४।१०४। मार्कण्डेय १३७। कूर्म १।१

कह देता है। देवीभागवत के टीकाकार देवीभागवत को १८ पुराणों में गिना कर भागवत को १८ में से निकाल १८ की संख्या को पूरा करते हैं। पर यह उनका अपना मत है। यह कहना सृष्टिवाद के कारण नहीं, शाक्त-सम्प्रदाय को प्रधानता देने के उद्देश्य से है। कुछ आधुनिक पण्डितों ने शिव तथा वायुपुराण को एक बनाकर पुराणों की १८ की समस्या को हल किया है; परन्तु उनकी यह बात इसलिए ठीक नहीं कि शिवपुराण में वायवीय संहिता होने पर भी उससे भिन्न एक और वायुपुराण विद्यमान है जो ऐतिहासिकों को बहुत ही प्यारा है और जिसका उल्लेख (वायुप्रोक्तमनुस्मृत्य पुराणम्) महाभारत, वनपर्व १८७।५७ में भी आया है।

पुराणों की परम्परा

पुराणों की परंपरा बड़ी पुरानी है। कृष्णद्वैपायन व्यास ने पाण्डव-राज्य में इनका २८वीं बार सम्पादन किया था। इससे पहले २७ बार व्यास^१ इनका संपादन कर चुके थे। उन सम्पादकों में द्वैपायन व्यास के पूज्य पिता पराशर भी एक थे। इस सत्यवती-सुत द्वैपायन व्यास ने २८वीं बार पुराणों का ऐसा सुन्दर निर्माण किया था कि इस सम्पादन के अनन्तर अन्य ऋषियों ने जो पुराण बनाये, उनको पुराण न कहकर उपपुराण^२ कहा जाता है।

ये सब बातें जानने के बाद, आशा है, पाठकों को पुराण गौरवपूर्ण, रोचक तथा हितकर प्रतीत होंगे।

पुराण-कथा

पुराणों की कथा का रिवाज नया नहीं, वैदिक काल^३ से ही चला आ रहा है। अश्वमेध का नाम तो आपने सुना ही होगा। इसमें दिग्विजय के उद्देश्य से सेनासहित एक घोड़ा छोड़ा जाता था। यह वर्षभर देश-देशान्तरों में घूम घर आता था। इस घोड़े के साथ यज्ञ रचाने वाला राजा स्वयं नहीं जाता था। वह यज्ञ की दीक्षा ले यजमान बन यज्ञ-मण्डप में बैठकर वर्ष भर नित्य कुछ शास्त्रीय कृत्य किया करता था। वाल्मीकि^४ रामायण से पता चलता है कि इस यज्ञ में

१ अतीतास्तु तथा व्यासाः सप्तविंशतिरेव च ।

पुराणसंहितास्तैस्तु कथितास्तु युगे-युगे ॥ दे० भा० १।३।२४

२ तथा चोपपुराणानि मुनिभिः कथितानि च ॥ विष्णु० ३।७।२५

३ किञ्चित्पुराणमाचक्षीतैव मेव ध्वर्युं संप्रेष्यति । शतपथ १३।४।३।१३

४ वाल्मीकिरामायण बा० १ से १३

आमुन्त्रित-अनामन्त्रित (बुलाये-बिन बुलाये) हजारों लोग जमा होते थे। शतपथ^१ में लिखा है कि इस यज्ञ का प्रगन्धक अध्वर्यु यज्ञ के नवमें दिन होता नाम के ऋत्विज को आदेश दे कि यजमान की रुचि बढ़ाने के लिए बार-बार पुराण सुनाओ। उस दिन से आरम्भ कर यज्ञ की समाप्ति तक लगभग वर्ष भर वहाँ कथा नित्य होती रहती। यजमान के साथ बैठ उसे हजारों श्रोता सुनते। समयानुसार वहाँ वीरता, न्याय, सदाचार, धर्म की कथा होती। इन सुनने वालों में राजा से रंक तक सभी प्रकार के लोग होते थे। केवल जनसाधारण की ही इन कथाओं में रुचि हो यह नहीं, अपितु बड़े-बड़े शास्त्रमर्मज्ञ ऋषियों के १२-१२ वर्ष तक चलने वाले दीर्घकालीन सत्रों में भी पुराणों की कथा सुनायी जाती थी।

वेदव्यासजी का तो यह कहना^२ है, कि आप अपने-अपने स्वाध्याय के साथ यथाशक्ति पुराण भी पढ़िये, चाहे रोज थोड़ा-थोड़ा पढ़िये, पर आरम्भ किये को अधूरा न छोड़िये, पूरा पढ़िये।

जिन कथाओं की कभी इतनी माँग थी, उनमें क्या है—यही बतलाने के लिए सभी उपलब्ध पुराणों की एक-एक कथा आगे के पृष्ठों पर विज्ञ पाठकों के लिए दे रहा हूँ।

व्यास-पूर्णिमा
२०१६ विक्रमाब्द
दिल्ली

}

विनीत
रघुनाथदत्तबन्धुः

-
१. पुराणैरिमं यजमानं राजभिः साधुकृद्भिः समापतेति। शतपथ १३।४।३।३
 २. महाभारत, आदिपर्व १।१६
 ३. वेदव्यास स्मृति, अ. ३।१०

कथाग्रन्थ-तालिका

(वे ५२ ग्रन्थ, जिनकी कथाएँ इस ग्रन्थ में हैं)

	पृष्ठ		पृष्ठ
१. अग्निपुराण	२६६	२७. ब्रह्मवैवर्तपुराण	१५८
२. अग्निवेश्यरामायण	१२६	२८. ब्रह्माण्डपुराण	२८४
३. अङ्गिरापुराण	१	२९. भविष्यपुराण	२०७
४. अद्भुतरामायण	१४	३०. भागवतपुराण	६७
५. अध्यात्मरामायण	३०	३१. मत्स्यपुराण	१०३
६. आत्मपुराण	३०१	३२. माघमाहात्म्य	४
७. आदिपुराण	१६३	३३. मार्कण्डेयपुराण	१६६
८. आनन्दरामायण	४०	३४. महाभारत	२४
९. कपिलपुराण	१४८	३५. महारामायण	७३
१०. कल्किपुराण	८६	३६. युगपुराण	२१६
११. कालिकापुराण	१८०	३७. लिङ्गपुराण	२०३
१२. कूर्मपुराण	२२३	३८. वामनपुराण	१६५
१३. गणेशपुराण	२७६	३९. वायुपुराण	२५६
१४. गरुडपुराण	१६७	४०. वाराहपुराण	१४५
१५. गर्गसंहिता	१८६	४१. विष्णुपुराण	६७
१६. जैमिनिपुराण	८५	४२. विष्णुधर्मोत्तरपुराण	५५
१७. देवीभागवत	४७	४३. शिवपुराण (क)	१६
१८. नन्दिकेश्वरपुराण	१०६	४४. शिवपुराण (ख)	२२
१९. नारदीयपुराण	११६	४५. शिवधर्मपुराण	१४१
२०. नीलमतपुराण	१२१	४६. श्रीपुराण	२६१
२१. नृसिंहपुराण	१८४	४७. साम्बपुराण	२१२
२२. पद्मपुराण	२६८	४८. सूतसंहिता	२४८
२३. वाल्मीकिरामायण	६०	४९. सौरपुराण	२३७
२४. बृहद्धर्मपुराण	८१	५०. स्कन्दपुराण (क)	४३
२५. बृहन्नारदीयपुराण	८	५१. स्कन्दपुराण (ख)	२६४
२६. ब्रह्मपुराण	७०	५२. हरिवंशपुराण	२२८

१. राज्य-काण्ड

धर्मोदार राज्य

मान्धाता का राज्य भारत में ही नहीं, दूर-दूर के देशों और द्वीपों तक फैल गया । आर्य तथा आर्येतरों पर अपना राज्य होने के कारण सम्राट् मान्धाता ने यह जानने के लिए कि, उन पर कैसे शासन करना चाहिए, लोकपालक भगवान् विष्णु की तपस्या आरम्भ की । उसकी तपस्या पर प्रसन्न हो, भगवान् इन्द्र के रूप में उसके यहाँ पधारे । अपने सामन्त राजाओं से घिरे हुए मान्धाता ने उन इन्द्र-रूपधारी मुरारी का पूजन कर उनसे कहा, “पाकशासन ! मैंने भगवान् से कुछ जानने के लिए तपस्या आरम्भ की थी; पर मैं समझता हूँ कि उनके दर्शन के लिए दीर्घकालीन तपस्या की आवश्यकता होती है, किन्तु मैं अपनी शंका का समाधान राज्य-व्यवस्था को दृष्टि में रखकर शीघ्र कर लेना चाहता हूँ । आप पुण्यलोक के राजा हैं । आपका अनुभव भी कोई कम नहीं । मेरे जैसे लाखों राजा इस पृथ्वी पर राज्य कर उसका शुभाशुभ फल पाने के लिए परलोक में जाते आपने देखे हैं । इसलिए आप ही से राज्यधर्म के विषय में कुछ जानने की प्रार्थना करता हूँ । मेरे मन में जो शंका है, कृपया उसका समाधान करने का अनुग्रह करें । मैंने सुना है : राजा धर्म का रक्षक हुआ करता है । मेरे राज्य में यवन,^१ किरात, गान्धार, चीन, शबर, बर्बर,

१ यवनाः किराता गान्धाराश्चीनाः शबरबर्बराः ।

शकास्तुपाराः कङ्काश्च पल्लवाश्चान्द्रमद्रकाः ॥२१॥

पौण्ड्राः पुलिन्दा रमठाः काम्बोजाश्चैव सर्वशाः ।

ब्राह्मणक्षत्रियप्रसूताश्च वैश्याः शूद्राश्च मानवाः ॥२२॥

कथं धर्माश्चरिष्यन्ति सर्वे विषयवासिनः ।

मद्विधैश्च कथं स्थाप्या सर्वे ते दस्युजीविनः ॥२३॥

—अंगिरापुराण, अ० १०

शक, तुषार, कङ्क, पल्लव, आन्ध्र, मद्र, पौण्ड्र, पुलिक, रमठ, काम्बोज आदि देशों के वासी अन्यधर्मी भी हैं और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि आर्य धर्मी भी । अर्थात् मेरे राज्य में एक नहीं, अनेक धर्मों के लोग हैं । मैं किस धर्म की रक्षा करूँ और वे सभी किस धर्म का पालन करें ? उन लोगों से शासन कैसा व्यवहार करे ?”

मान्धाता का यह प्रश्न सुनकर इन्द्र बोले, “राजन् ! इसमें सोचने की कौन-सी बात है ! इस विषय में ऋषियों ने स्पष्ट कह रखा है कि यदि कोई देश वश^१ में आ जाय तो उस देश के लोगों के धार्मिक विचार, सदाचार तथा उनकी संस्कृति की रक्षा करना विजयी राजा का परम तथा चरम कर्तव्य होता है ।”

इन्द्र ने फिर कहा, “राजन् ! सत्य समझो प्रत्येक व्यक्ति की रुचि भिन्न-भिन्न होने से विचार भी पृथक्-पृथक् ही हुआ करते हैं ।^२ इसलिए उपासना के विषय में यही ठीक है, कि तुम जिस आराध्य देव की चाहो, उपासना करो और उन्हें भी अपने-अपने इष्टदेव का पूजन करने दो । अपना-अपना धर्म-पालन करने की प्रजा को पूरी स्वतन्त्रता हो और वे सब अपनी उस स्वतन्त्रता का स्वेच्छा से तब तक उपभोग कर सकें, जब तक उनकी वह स्वतन्त्रता किसी अन्य व्यक्ति या समुदाय की स्वतन्त्रता में बाधक न हो । फिर भी व्यवस्था तथा शान्ति के उद्देश्य से तुम्हारी समस्त प्रजा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौची, इन्द्रिय-निग्रह, दान, दया, दम तथा शान्ति इस साधारण धर्म का पालन अवश्य करे । जिससे राज्य मार-काट, धोखा-फरेब, चोरी-डाके, गन्दगी, व्यभिचार, कंजूसी, क्रूरता, वैर-विरोध और लड़ाई-झगड़े से सदा बचा रहे ।”

यह कहकर इन्द्र अन्तर्धान हो गए ।

१ यस्मिन् देशे हि यो धर्मः सदाचारः स्वसंस्कृतिः ।

तथैव परिपाल्योऽसौ यदा वशनुपागतः ॥१०-५॥

२ मुण्डे मुण्डे मतिभिन्ना सत्यमेतत् परंतप ।

स्वाभीष्टस्य कुरु पूजां स्वेष्टं वै पूजयन्तुते ॥११-६॥ अङ्गिरापुराण, अ० ११

तब से मान्धाता ने अपने राज्य में सभी को अपना-अपना धर्म-पालन करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी। उसके विशाल राज्य में सभी मत के लोगों को अपने-अपने मतों के मानने की पूर्ण रूप से स्वतन्त्रता थी। किसी को किसी मत के मानने से कभी कोई हानि नहीं उठानी पड़ी। कोई भी धर्म तब व्यवसाय या कलह का कारण नहीं बनता था। लोग आत्मोन्नति, लोकहित तथा परमार्थ के लिए धर्माचरण करते थे ; स्वार्थ, दिखावे, दम्भ या भगड़ों के लिए धर्म का आश्रय कोई न लेता था। इसीलिए मान्धाता के राज्य में धर्म परस्पर प्रेम का द्वार तथा प्रजा के सुख का साधन बना रहा। इसी उदारता के कारण मान्धाता को अन्त में स्वर्ग मिला।

(अङ्गिरापुराण, अध्याय १०)

साम्प्रदायिक राज्य

प्राचीन काल में चित्र नाम का एक चन्द्रवंशीय राजा था । दक्षिण समुद्र के तट पर द्राविड़ नगर में उसकी राजधानी थी । राजा चित्र बड़ा शूरवीर तथा सत्यपरायण था । उसने अपने पुरोहित के बतलाये हुए सभी वैदिक कर्म तथा तीर्थ किये थे । अपनी प्रजा का पालन वह बड़ी तत्परता से करता था । वह नित्य दान देता, अतिथियों का पूजन करता, ब्राह्मणों को बहुत मानता था, शस्त्र तथा शास्त्र दोनों पर ही उसका पूर्ण अधिकार था । वह राजा ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा सूर्य सब में समान भक्ति रखता था, और सभी की पूजा करता था ।

एक बार चित्र अपने परिवार-सहित कहीं भ्रमण करने गया । वहाँ उसने एक सुन्दर आश्रम देखा । कौतूहलवश राजा ने उस आश्रम में प्रवेश किया । वहाँ शरीर पर भस्म रमाये हुए, लम्बी-लम्बी जटाओं वाले महात्मा बैठे थे । राजा की उनसे बातचीत हुई । वार्तालाप से उसे पता चला कि इनका शैव धर्म वैदिक शैव धर्म से नितान्त भिन्न है । ये लोग शिव के अतिरिक्त और किसी देवता को मानना पाप समझते हैं । यह जानकर राजा हैरान हुआ, तब उन लोगों ने राजा से कहा, “राजन् ! शैव धर्म का प्रभाव देखो, इसकी दीक्षा लेकर श्वपच (कुत्ता पकाकर खाने वाला) भी मुक्ति पा लेता है । शैव धर्म की दीक्षा सभी वर्णों को सदा मुक्ति देने वाली है । इसी-लिए शैव दर्शन सर्वश्रेष्ठ है । हमारे इस शिव के पंथ में यही एक रहस्य की बात है । इसमें दीक्षित होकर पुरुष फिर किसी और देवता की पूजा न करे । विष्णु के तो दर्शन-मात्र से हम समझते हैं कि

शिव में द्रोह उत्पन्न हो जाता है और इसमें कोई संदेह नहीं कि शिव से द्रोह करने वाला रौरव नरक में पड़ता है। इसलिए संसार के दुःखों से जो बचना चाहता है, उसे विष्णु का नाम कभी भी न सुनना चाहिए। इसलिए शिव-भक्त को चाहिए, कि शिवजी को प्रसन्न करने के लिए सदा सभी देशों में निःशंक होकर वैष्णवों का वध^१ करे। हमारा यह शास्त्र शिवजी ने स्वयं बनाया है।”

इस प्रकार की बातें कर उन भ्रम में डालने वाले चालाक जटा-धारी लोगों ने उस राजा चित्र को अपने जाल में फँसा लिया। उनकी बातों में आ, राजा ने उस मत को स्वीकार कर लिया। उसने सभी वैदिक कार्य करने छोड़ दिये और वेद, शास्त्र तथा ब्राह्मणों की निन्दा करने लगा। उस नये मत में प्रविष्ट होते ही उसने अपने प्रासाद में जलने वाली अग्निहोत्र की अग्नियों को उसी दम बुझा दिया। मन्त्रियों के कहने पर भी वह अब धर्म की बात न मानता था। वह विष्णु भगवान् की घोर निन्दा करता और वैष्णवों से सदा द्वेष किया करता था। वह कहा करता था, वह विष्णु कौन है? किसने उसे देखा है? वह कहाँ रहता है? किस शास्त्र में उसका वर्णन किया गया है?

ईश्वर की माया देखो, राजा की बुद्धि ऐसी भ्रष्ट हुई कि वह विष्णु के विषय में बहुत ही असहिष्णु हो गया। उसके राज्य में जो नारायण का नाम लेते थे, उन्हें वह सब तरह से दुःख देने लगा। उसने ब्राह्मण तथा वेद दोनों को मानना छोड़ दिया। अब वह कोई वैदिक कर्म न करता था। मानव-व्रतों का पालन करना बेकार समझता था। उस पाखण्डी धर्म का आश्रय ले उसने दान देना भी बन्द कर दिया और अन्याय से लोगों को दण्ड दे प्रजा को कष्ट पहुँचाने लगा। उस दुरात्मा चित्र नृप के मन में विष्णु भगवान् के प्रति ऐसा द्वेष पैदा

१. अतो हि वैष्णवो वध्यः सर्वदेशेषु सर्वदा ।

शिवभक्तेन निःशङ्कं शिवस्य प्रीतिमिच्छता ॥

—पद्मपुराण, माघ-माहात्म्य, अ० २४

हुआ कि जो कोई विष्णु का नाम लेता, उसे वह मार देता था ।^१ राजा अपने नगर में रोज यह ढिंढोरा^२ पिटवाता था, कि जो आदमी विष्णु देवता का पूजन करेगा उसे सजा मिलेगी और वह सजा मौत तक होगी ।

राजा चित्र के डर से न केवल वैष्णव ब्राह्मण ही, अपितु प्रजा^३ के सभी वैष्णव उस देश को छोड़कर दूसरे देशों में जा बसे । और जो प्रजा द्राविड़ में रह गई, उसमें से कुछ ने तो लम्बी-लम्बी जटाएँ बढ़ा लीं और कुछ ने त्रिपुण्ड लगाना आरम्भ कर दिया । उन लोगों ने वैदिक कर्म छोड़ दिया, अतिथि-सेवा त्याग दी और व्रत, तप तथा दान करना छोड़कर वे उलटे मार्ग पर चलने लगे । देश में यज्ञ, श्राद्ध तथा विष्णु-पूजा बिलकुल बन्द हो गई । उस देश में सभी लोग विष्णु से द्वेष करने लगे । ठीक है, जैसा राजा हो, प्रजा वैसी ही हो जाया करती है ।^४

उस देश में जितने भी वैष्णव^५ मन्दिर थे, वे उन शैवों ने गिरा दिये और सभी विष्णु-प्रतिमाएँ समुद्र में फेंक दीं । इस प्रकार द्राविड़ राज्य के सभी व्यक्ति निर्दय, निष्ठुर, और क्रूर हो गए । इस तरह उस राजा ने अपना वह धर्म देश में फैलाया । देश में इस प्रकार अत्याचार होने से वहाँ के बहुत से धनी, गुणी तथा बली देश त्याग कर चले गए । इससे देश को धन-जन की अपार क्षति पहुँची, और व्यापार ठप हो गया । देश को निर्बल जानकर उसके सीमाप्रान्त पर बाहरी आक्रमण होने लगे । उस देश पर ईश्वर का भी कोप हुआ ; वहाँ वर्षा होनी

१. यः पठेत् विष्णुनामानि तं निहन्ति स पार्थिवः ॥३६॥

२. अवादयत नित्यं स ढिण्डिमां स्वपुरे नृपः ।

योऽर्चयेद्देवतां विष्णुं स दण्ड्यो वध्य एव वा ॥३७॥

३. तद्भ्रयाद्वैष्णवा विप्राः प्रजा वा वैष्णवी तथा ।

तं देशं संपरित्यज्य प्रविष्टा जननान्तरम् ॥३८॥

४. विष्णुद्वेषी च लोकोऽभूद्यथा राजा तथा प्रजाः ॥४१॥

५. उत्खाता वैष्णवाः शैवैः प्रासादास्तत्र ये स्थिताः ।

वैष्णव्यः प्रतिमाः सर्वाः प्रक्षिप्ताः सागराम्भसि ॥४२॥

बन्द हो गई। गौओं की वृद्धि रुक गई। बारिश न होने से वे लोग केवल नदियों के जल से निर्वाह करने लगे। विष्णु से द्वेष के कारण वे अपने आचारसे गिर गए और उनके सभी कर्म भ्रष्ट हो गए।

इस प्रकार वह राजा प्रजा पर अत्याचार करते हुए राज्य करने लगा। समय पा जब उसकी मृत्यु हुई तो यमदूत आकर उसे लोहे की कीलों से बने हुए और जलते हुए अंगारों से भरे हुए मार्ग से लेकर चले। नीचे मार्ग जल रहा था और ऊपर सूर्य की कड़ी धूप थी। उस मार्ग में धूप से बचाव के लिए कोई वृक्ष न था। यमदूत चित्र को लोहे की लाठियों से मार-मार कर ले जा रहे थे। रास्ते में उसे बिच्छू डँसने और कुत्ते काटने लगे। इस प्रकार वह अपने साथी पापियों की चीख-पुकार को सुनता हुआ यमराज के सामने लाया गया।

यम ने उसे तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव, कालसूत्र आदि अनेक नरकों में गिराया। वहाँ उसे बहुत ही असह्य कष्ट दिये गए और विष्णु-द्वेष के कारण उसे इक्कीस युगों नरक में रहकर वे सभी यातनाएँ भोगनी पड़ीं। २१ युगों के अनन्तर वह महागिरि पर्वत पर पिशाच-योनि में उत्पन्न हुआ और भूख-प्यास से सदा व्याकुल रहने लगा। ये सभी कष्ट उसे धर्म-द्वेष के कारण हुए। अब वह अपने किये पर पछताता था, पर अब पश्चात्ताप करने से क्या होता था !

(पद्मपुराण, माघ-माहात्म्य, अ० २४)

अधार्मिक राज्य

प्राचीन काल की बात है, कि एक राजा वेण (वेन) हुआ था। वह धर्म-मार्ग को छोड़कर अधर्म-पथ पर चलने वाला था। उसी के राज्य में वर्ण-संकर हुए थे।^१ वेण के पिता का नाम अंग और माता का नाम सुनीथा था।

अङ्ग का पुत्र वेण बचपन में ही समस्त जीवों के प्राणों का संकट बना हुआ था। उसका बचपन में यह खेल था कि वह लोगों के घरों^२ में जाकर उनके बच्चों को ले आता और बाद में उनको रस्सों से बाँध कर गहरे पानी में फेंक उनके डूबने का दृश्य देखा करता था। यह उसका एक मनोविनोद था। इस प्रकार के अनेक दुःखदायी काम वह प्रतिदिन^३ किया करता था। दुःखी लोगों ने जब राजा अङ्ग^४ से फरि-याद की, तब राजा ने अपने पुत्र को बहुत समझाया; पर जब वह न माना तब राजा अङ्ग^५ दुःखी होकर वन में चला गया।

राजा के न रहने से देश में अराजकता फैल गई। यह देख कुछ लोगों ने अङ्ग के उत्तराधिकारी वेण को राजा बना दिया। वेण स्वभाव से ही बहुत क्रूर था। उसने राज्य पाते ही वर्ण, आश्रम तथा कुल-धर्मों के अनुष्ठान का सर्वथा निषेध कर दिया। उसने यह घोषणा की

१. देखिये मनुस्मृति ६।६६-६७

२. गृहे गृहे गृहस्थानां बालानाकृष्य सम्भ्रमात् ।

बहून् बालागुणैर्बध्वा निक्षेपागाधपायसि ॥१५॥

३. इत्यादि दुःखदं कर्म करोत्यहरहस्तदा ।

४. लोकाश्च पुत्रशोकादितप्ता राजानमब्रुवन् ॥१६॥

५. तेन पुत्रेण तप्तोऽसौ राजा चाङ्गो वनं गतः ॥१७॥

कि उसके राज्य^१ में न कोई यज्ञ करे, न दान दे और न हवन ही करे। लोग इस डर^२ से कि ऐसा करने से तो धर्म का लोप हो जायेगा, राजा वेण के पास गये। ब्राह्मणों ने कहा—महाराज वेण, आप एक उत्तम वंश में उत्पन्न होकर राजसिंहासन पर बैठते ही धर्म को कैसे छोड़ रहे हैं? धर्म से बढ़कर मनुष्य का संसार में कोई बन्धु नहीं। जो धर्म छोड़ देते हैं, वे संसार । देर तक जीवित नहीं रह सकते। जो राजा अपना कर्तव्य कर्म छोड़ देता है, उससे कोई नहीं डरता। राजन्! राजा के अधर्मी हो जाने पर प्रजा भी धर्म छोड़ देती है।

अधर्मराजक^३ देश तथा राजाहीन- दोनों ही बराबर होते हैं देश जहाँ सृष्टि-पालक परमेश्वर का भय और सम्मान नहीं, उस विष्णु^४ भगवान् की पूजा नहीं की जाती, वह देश अराजक हो जाता है। अराजक^५ देश में लोग बलपूर्वक दूसरों की स्त्रियों को छीन लेते हैं। ब्राह्मण क्षत्रिया को और क्षत्रिय ब्राह्मणी को चाहने लगते हैं। इस विरुद्धा-चरण से संकरों की उत्पत्ति होती है और संकर^६ नरक के लिए ही हुआ करते हैं। इस प्रकार धर्म की दुर्गति तो किसी कुराज्य में ही हुआ करती है। अच्छे राजा कभी अधर्म के पक्षपाती नहीं होते। वेण बोला, हमने तुम से सुना कि संकर नरक के लिए होता है। इसलिए अब हम अपने देश में वर्ण संकरता^७ फैला कर देखेंगे, इन संकरों से धर्म की क्या

१. न यष्टव्यं न दातव्यं न होतव्यं द्विजः क्वचित् ।

इति निवारयद्धर्मान् भेरीघोषेण सर्व्वतः ॥१६॥

२. धर्मलोपभयाद्विप्रास्तं वेणं नास्तिकोत्तमम् ।

राजन् ! वेण महाभाग गत्वा भीता तदाब्रुवन् ॥२०॥

३. अधर्मराजको देशोऽराजश्चोभयः समः ।

४. विष्णुर्न पूज्यते यत्र सो हि देशो ह्यराजकः ॥२४॥

५. अराजके परस्त्रीभी रमते तु बलात् परः ॥२५॥

६. संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ॥२७॥

७. श्रुतं वो नरकार्थे हि संकरो भवति ध्रुवम् ।

तस्मादत्रकरिष्यामि संकरानेव सर्वथा ॥२८॥

दशा होती है ? यों कहकर वह अन्तःपुर में चला गया और बेचारे ब्राह्मण लोग दुःखी होकर लौट आये ।

तब से वेण ने वर्ण-धर्म को नष्ट करने के लिए बलपूर्वक^१ क्षत्रिय से ब्राह्मणी में पुत्र उत्पन्न कराये । इस प्रकार धर्म की अवहेलना^२ कर वह कामनाओं के वशीभूत होकर बड़ा लालची हो गया और उस राजा^३ ने धर्म-विरुद्ध कई कानून बना दिये । उसने द्विजातियों के लिए यह आज्ञा जारी की कि वे लोग सभी प्रकारके यज्ञों में केवल मेरी ही पूजा^४ करें, मेरा सम्मान करें, मेरे उद्देश्य से यज्ञ की सभी क्रियाएँ निष्पन्न करें और मेरे लिए ही सब हवन किये जायें । इस तरह प्राचीन मर्यादा को तोड़कर अनुचित दबाव से सम्मान तथा पूजा आदि ग्रहण करने वाले उस अत्याचारी राजा वेण के पास जाकर मरीचि आदि प्रमुख महर्षियों ने उसे फिर समझाया, 'महाराज वेण ! हम सब तुमसे धर्म की बात कहने आये हैं कि तुम अधर्म कर रहे हो । जैसा तुम कर रहे हो वैसा पहले कभी किसी ने नहीं किया । यह तुम्हारा आचरण इस देश की परम्परा के सर्वथा प्रतिकूल है । तुम्हें यह भी याद होना चाहिए कि अपने राज्याभिषेक^५ के समय तुम यह प्रतिज्ञा कर चुके हो कि मैं प्रजा का पालन करूँगा । यों कहने वाले उन महर्षियों से उस दुर्बुद्धि वाचाल वेण ने हँस कर कहा, 'ब्राह्मण लोगो ! धर्म को बनानेवाला^६ मेरे सिवाय इस संसार में दूसरा और कौन है, जिसकी मैं बात सुनूँ ? मैं जो करूँ वही ठीक और वही

१. बलात्कारेण ब्राह्मण्यां सुसंगम्य तु क्षत्रियम् ।

पुत्रमुत्पादयामास वेणो नास्तिक उत्तमः ॥—बृहद्धर्मपुराण, अ० १३-२६

२. स धर्मं पृष्ठतः कृत्वा कामाल्लोभे व्यवर्तत ।

३. स्थापनं स्थापयामास धर्मापितं स पार्थिवः ।—वायुपुराण, ६२-११२

४. अहमिज्यश्च पूज्यश्च सर्वयज्ञे द्विजातिभिः ।

मयि यज्ञो विधातव्यो मयि होतव्यमित्यपि ॥६१-११४॥

५. पालयिष्ये प्रजाश्चेति त्वया पूर्वं प्रतिश्रुतम् ।

६. स्रष्टा धर्मस्य कश्चान्यः श्रोतव्यं कस्य वै मया ।

—वायुपुराण, अध्याय ६२-११६

धर्म है। तुम स्वयं ही कहो—इस समय पराक्रम, शास्त्रज्ञान, तपस्या, सैन्यबल आदि साधनों में मेरे समान पृथिवी^१ पर कोई दूसरा है ? तुम मुझे सभी साधन-सम्पन्न एक महान् आत्मा समझ कर मुझसे बात करो। मैं कोई तुम्हारा भक्त नहीं, कि जो कहो वही सुने जाऊँ। मुझे समस्त प्रजा का स्वामी और सभी धर्मों का निर्माता समझो। राज्य मेरा है। मैं अपनी इच्छा से समस्त पृथ्वी को चाहे जला दूँ, या जल में डुबा दूँ; किसी उजड़ी जगह को बसा दूँ, या बस्ती को बरबाद कर दूँ। तुम्हें इससे क्या ?”

यह सुन ऋषियों ने कहा, “वेन ! ऐसा साहस मत करो ; तुम केवल प्रजापाल बनाये गए हो, और प्रजापालन धर्म से ही हो सकता है, अधर्म से नहीं। इसलिए पाप-कर्म छोड़कर तुम्हें धर्म पर चलना ही पड़ेगा।” उन ऋषियों के ऐसा कहने पर वेण उपेक्षा की हँसी हँसते हुए बोला—“अरे ! तुम धर्म किसे समझा रहे हो ? मैं ही सबसे बड़ा धर्म हूँ, क्योंकि मैं इस देश को धारण किये (सम्भाले) हूँ। इसकी रक्षा करता हूँ। मेरे वचन को ही वेदवाक्य समझो, अतः ब्राह्मणो ! मुझे धर्म का साक्षात् स्वरूप समझकर तुम सभी मेरा ही आज्ञापालन करो।”

१. वीर्यश्रुत तपः सत्त्वैर्मया वा कः समो भुवि ।

महात्मानमनूनं मां यूयं जानीत तत्त्वतः ॥

—वायुपुराण, अध्याय

इच्छन् दहेयं पृथिवीं प्लावयेयं जलेन वा ।

सजेयं वा असेयं वा नात्र कार्या विचारणा ॥

—वायुपुराण, अध्याय ६२-१२१

मा वेन ! साहसं कार्षीः प्रजापालो भवानिह ।

—पद्मपुराण, अध्याय ३८-१६

अहमेव परो धर्मोऽहमेवार्हः सनातनः । १८।

अहं धाता अहं गोप्ता अहं वेदार्थ एव च ।

—पद्मपुराण, अध्याय ३८-१६

तब ऋषि बोले, “वेन ! होश में आओ, निरंकुश न बनो; तुम कितने भी शक्तिशाली क्यों न हो, पर याद रखो—अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता । प्रजा-पीड़न का क्या परिणाम होता है—इसे बुद्धि हो तो ज़रा विचार कर देखो ।”

यह सुन वेन ने कहा—“मैं संसार में सबसे अधिक बुद्धिमान हूँ, इसलिए मैं यह सब जानता हूँ; और तुम भी निश्चय जान लो कि जो मेरी प्रचारित आज्ञाओं के विरुद्ध आचरण करेगा, उसे अवश्य ही दण्ड दिया जायेगा ।” इस प्रकार बढ़-बढ़कर^१ बड़बड़ाने वाले वेन को पापी समझकर ऋषि क्रोध में आ गए । तब उन्हें क्रोध में आया देख तथा देश को अपने विरुद्ध जान उन ब्राह्मणों के शाप के भय से वेन भाग खड़ा हुआ और एक बाँबी में जा छिपा । राजा को वहाँ से भाग गया जान क्रोध में आये हुए लोग उसे चारों ओर ढूँढ़ने लगे । जब उन्होंने उसे बाँबी में छिपा पाया तो बहुत-से ब्राह्मणों ने उस क्रूर वेन को बलपूर्वक बाँबी से निकाल, राज्य-पद से हटा, सदा के लिए देश से निकाल दिया ।

राजधानी से अपनी जान लेकर भागा वेन वन में दूर चला गया । वहाँ उसे एक कुटिया दिखाई दी । यहाँ तृणबिन्दु नाम के ऋषि रहते थे । भागे हुए वेन को ऋषि ने शरण दे अभयदान दिया । तृणबिन्दु के संसर्ग से वेन का मन शुद्ध हो गया । वह ज्ञान

१. अहं ज्ञानवतां श्रेष्ठः सर्वं ज्ञातं मया इह ।
योन्यथा वर्तते चैव स दण्ड्यो भवति ध्रुवम् ॥३१॥
२. अत्यर्थं भाषमाणं तं राजानं पापचेतनम् ।
कुपितास्ते महात्मानः सर्वे वै ब्रह्मणः सुताः ॥३२॥
३. कुपितेष्वेव विप्रेषु वेनो राजा महात्मसु ।
ब्रह्मशापभयात्तेषां बल्मीकं प्रविवेश ह ॥३३॥
४. अथ ते मुनयः क्रुद्धा वेनं पश्यन्ति सर्वतः ।
ज्ञात्वा प्रनष्टं भूपं तं बल्मीकस्थं सुसाम्प्रतम् ॥३४॥
५. बलादानिन्युस्तं विप्राः क्रूरं तं पापचेतनम् ॥३५॥

प्राप्त कर रेवा नदी के दक्षिण तट पर बसे तृणविन्दु के इस आश्रम में काम-क्रोध से रहित हो, तपस्या करने लगा । इस आश्रम में रह उसने अपनी आयु के पूरे सौ वर्ष^१ उस प्रजा-पीडन के पाप का प्रायश्चित्त करने में लगा दिये । तब भावनामय^२ भगवान् ने उससे पूछा, “अरे, तेरा वह अज्ञान जिसके कारण तू लोभ में पड़, अन्धेरे रास्ते पर जा गिरा था, अब कहाँ गया ?” वेन ने विनय की कि मेरे किसी पूर्वजन्म^३ के पाप के कारण अज्ञानवश मुझसे प्रजा-पीडन का घोर पाप हुआ था ; परमेश्वर, मेरा उस पाप से उद्धार कीजिये^४ ।

(बृ० ध० पु०, अ० १३; वायु० अ० ६२; पद्मपु०, अ० २८)

१. तृणविन्दोऽर्च्यैश्चैव आश्रमे पापनाशने ।
वर्णाणां तु शतं साग्रं कामक्रोधविवर्जितः ॥
रेवायाः दक्षिणे कूले तपश्चार स सद्विजः ॥
२. क्व गतोऽसौ महामोहो येन त्वं मोहितो नृप ।
लोभेन मोहयुक्तेन तमो मार्गे निपातितः ॥८॥
३. यन्मे पूर्वकृतं पापं तेनाहं मोहितो विभो !
अतो मामुद्धरास्मात्त्वं पापान्चैव सुदारुणात् ॥९॥

—पद्मपुराण भूमि अ० ३६-९

४. यह कथा वायुपुराण अध्याय ६२ तथा पद्मपुराण भूमि वियु अध्याय ३८ में भी किञ्चित् पाठ भेद से है ।

तलवार से धर्म-प्रचार पाप है

पहले कभी 'भुवनेश' नामक एक बड़ा धार्मिक राजा था। उसने अश्वमेध तथा वाजपेय जैसे अनेक बड़े-बड़े यज्ञ किये थे। वस्त्र, स्वर्ण, गाय, रथ तथा कन्यादान करना तो उसका नित्य का काम ही था। देश का प्रबन्ध और पालन भी खूब करता था, परन्तु उसमें ये सब अच्छाईयाँ होते हुए भी एक सनक थी। वह नहीं चाहता था कि भगवान् की पूजा कहीं, कोई, गाना गाकर करे। बलोन्मत्त होने के कारण उसने अपने इस विचार के प्रचार के लिए बहुत ही जघन्य उपाय ग्रहण किया। उसने यह आदेश दे दिया — "मेरे राज्य में कोई भी व्यक्ति पूजा में गाना न गाये, सभी वेद-मन्त्रों से पूजन किया करें। गाते हुए पूजा करता जो पकड़ा जायेगा, उसे मौत की सज़ा दी जायगी।"

पूजा में वेद-मन्त्र पढ़े जायें, यह विचार अच्छा होने पर भी उसके प्रचार के लिए तलवार के प्रयोग को कौन अच्छा कहे? फिर भी उसके राज्य में तलवार के भय से इस आज्ञा का लोगों को पालन करना पड़ा। पर उसकी राजधानी के पास ही हरिमित्र नाम का एक निर्भीक विष्णुभक्त ब्राह्मण रहता था। यह तपस्वी नदी पर जा, उसके रेतें

१. भुवनेश इति ख्यातो राजाभूद्धार्मिकः पुरा।

—अद्भुतरामायण, ६-४७

२. न्यवारयत्स्वके राज्ये गानयोगेन केशवम्।

—अद्भुतरामायण, ६-५०

अन्यं वा गानयोगेन गायेद्यदि स मे भवेत्।

वध्यः सर्वात्मना तस्माद्वेदैरीडयः परः पुमान् ॥

—अद्भुतरामायण, ६-५१

में बैठकर पहले नारायण-प्रतिमा का शास्त्रविधि से पूजन करता और उसके बाद अपनी वीणा से प्रेमपूर्वक भगवान् के गुण गाता था ।

राजा को जब इस बात का पता चला, कि उसके राज्य में अभी भी कोई गाकर पूजा करता है, तो उसकी भौंहें तन गईं । उसने आदेश दिया कि उसे इसी समय पकड़ कर उपस्थित किया जाय । फिर क्या था, राजसैनिक वहाँ गये । ब्राह्मण पूजा कर रहा था, उसके पूजन की सामग्री सिपाहियों ने चारों ओर बिखेर दी और उसे पकड़ कर राजा के सामने ले आये ।^१

राजा का पारा तो चढ़ा ही था, उसने बड़ी बुरी तरह हरिमित्र को भिड़का, उसका बहुत तिरस्कार किया । बन्दी ने उत्तर में उन्हीं सैनिकों की साक्षी से यह प्रमाणित कर दिया, कि उसने वहाँ पूजा पूर्ण शास्त्र-विधि से की थी । इससे उसे मौत की तो सज़ा न हुई, पर उसने पूजा में गाना भी गाया था, जो राजा की सम्मति से दोष और अपराध दोनों है—इसलिए हरिमित्र की सभी सम्पत्ति जब्त कर, उसे देश^२ से सदा के लिए निकल जाने की सज़ा मिली ।^३

हरिमित्र को अपनी मातृभूमि छोड़ते बड़ा दुःख हुआ और अनेक दिन भूखे भी रहना पड़ा । राजा के इस कृत्य से राजा के धर्म की

१. नदीपुलिनमासाद्य प्रतिमाञ्च हरेः शुभां ।

समभ्यर्च्य यथाशास्त्रं घृतदध्युत्तरं बहु ॥

—अद्भुतरामायण, ६-५५

अगायत हरिं तत्र तालवीणालयान्वितम् ॥५७॥

ततो राज्ञः समादेशाद्भूटास्तस्य समागताः ।

तदर्चनादिसकलं निर्धूय च समान्तः ।

—अद्भुतरामायण, ६-५८

ब्राह्मणं च ततो गृहीत्वा ते राज्ञे सम्यङ् न्यवेदयन् ।

—अद्भुतरामायण, ६-५८

२. ततो राजा द्विजश्रेष्ठं परिभर्त्स्य सुदुर्मनाः ।

राज्यान्निर्वासयामास हत्वा सर्वधनादिकम् ॥

—अद्भुतरामायण, ६-५९

कोई उन्नति हुई हो, यह तो आगे चलकर पता चलेगा ; पर इसमें सन्देह नहीं कि अपने विचारों को उसने तलवार के बल दूसरों पर लादने में जो सफलता पायी, उससे उसका शरीर अवश्य फूल कर कुप्पा हो गया । जिस देव-प्रतिमा के आगे गाने से हरिमित्र को यह दण्ड मिला उस प्रतिमा^१ का अब क्या हुआ ? वह कहाँ है ?

उसे राजा ने अपने-आप कभी देखा तक नहीं । फिर दूसरे देखते ही क्यों । राजा अपने में मस्त था । वह समझता था कि उसने अपने जीवन में वह धर्म का काम किया है, जो उसके पहले कोई नहीं कर सका । अतः अब वह सीधा स्वर्ग जायेगा ; पर हुआ इससे ठीक विपरीत । समय पा जब उसकी मृत्यु हुई तो अगले जन्म में उसे उलूक^२ की योनि मिली । उल्लू बनकर वह कई दिन दूर-दूर^३ तक घूमा, पर उसे कहीं भी कुछ खाने को न मिला । भूख से तंग आ एक दिन उसने यमराज से पूछा—“देव ! किस पाप के कारण मुझे ऐसी बुरी योनि मिली और भूखों मरना पड़ रहा ?”

यम ने धर्मराज की आज्ञा से उसे बतलाया—“राजा अज्ञान^४ से तुमने धर्म के नाम पर बहुत बड़े पाप किये हैं । अभी तो केवल वासुदेव परायण हरिमित्र पर तुमने जो अत्याचार किया है उसी पाप से तुम्हारी यह दशा हुई है । तुम्हें भूखे मरना पड़ता है और तुम्हारे दान, यज्ञ आदि सभी के पुण्य नष्ट हो गए हैं ! अरे उल्लू ! सोच, भगवान् के आगे गाना भी कोई अपराध है ? जिसे अपराध का नाम दे, तूने उसका

१. प्रतिमां च हरेश्चैव नापश्यत् स यदृच्छया ।

—अद्भुतरामायण, ६-६०

२. लोकान्तरमनुप्राप्य उलूकं देहमाश्रितः । ६१।

३. सर्वत्र गच्छमानोऽपि भक्ष्यं किञ्चिन्न चाप्तवान् ।

४. त्वया हि सुमहत्पापं कृतमज्ञानतो नृप !

हरिमित्रं प्रति तदा वासुदेव परायणम् । ६४।

हरिमित्रे कृतं पापं वासुदेवार्चनादिषु । ६५।

—अद्भुतरामायण, ६-६४

सभी धन^१ छीन लिया । तेरी ही^२ आज्ञा से तेरे नौकरों ने उसकी पूजा की सामग्री बिखेर दी । ऐसा करने से मारे हर्ष के तेरा अपना शरीर ही फूलकर कुप्पा हुआ था, अब^३ उसी को नोच-नोच कर खा । उस पाप से तेरे^४ स्वर्ग आदि लोक नष्ट हो चुके हैं । अतः इसी मानसवरय पर्वत की गुफा में रहकर मौत की प्रतीक्षा कर, परन्तु मरने पर तुम्हें एक^५ मन्वन्तर तक नरक में रहना पड़ेगा और फिर तू भूमि पर कुत्ता बन कर जन्म लेगा । उल्लू ! बहुत वर्षों बाद फिर कहीं तुम्हें मनुष्य-देह मिलेगी । यों कह यम चला गया । और वह वहीं अपना मुर्दा खाकर दुःखी रहने लगा ।

एक दिन दैवयोग से उस रास्ते स्वर्ग जाते हुए हरिमित्र ने मार्ग में पड़े मुर्दों के पास उलूक को देख उससे पूछा—उलूक ! यह तो भुवनेश राजा का शरीर दीखता है, इसे तू क्यों खा रहा है ? यह सुन उलूक ने हरिमित्र को पहचान प्रणाम कर विनयपूर्वक हाथ जोड़ बहुत करुणा भरे शब्दों में सुनाया कि मैं ही वह मन्दबुद्धि भुवनेश था, अपनी धार्मिक भावना को तलवार के बल दूसरों से मनवाने का मुझे यह फल मिल रहा है । मैंने आपका भी अपराध किया था, उसे क्षमा करें ! उसी पाप से, मरने के बाद मेरा यह हाल हुआ । अब एक मन्वन्तर तक मुझे यहीं मुर्दा खाकर रहना और बहुत दुःख सहना पड़ेगा, फिर कुत्ता बनूंगा । तब कहीं वर्षों बाद मनुष्य-योनि मिलेगी ।

१ गीतनाट्यलयोपेतं गायमानं सदा हरिम् ।

हरिमित्रं समाहूय हतवानसि तद्धनम् ॥६७॥

२ उपहारिकृतं सर्वं वासुदेवस्य सन्निधौ ।

तव भृत्याः समाहृत्य पापं चक्रुस्तवाज्ञया ॥ अद्भुतरामायण ६।६८

न गेययोगे मन्तव्यं तस्मात्पापं त्वया कृतम् ॥६९॥

३ नष्टं ते स्वर्गलोकाद्यं गच्छ पर्वतकोटरम् ।

४ पूर्वोत्सृष्टं स्वदेहं ते खाद नित्यं निकृत्य वै ॥

५ महानिरय संस्थास्त्वं यावत्मन्वतरं भवेत् ॥७१॥

मन्वन्तरे ततोऽस्तीते भूम्यां त्वं श्वा भविष्यति ॥ अद्भुतरामायण ६।७२

राजा ने हरिमित्र को बहुत कष्ट दिये थे, फिर भी उसके बदले राजा को मिल रही सजा की बात सुन हरिमित्र को बड़ी दया आई। उसने कहा, “उलूक ! तुमने मेरा जो अपराध किया था उसे मैंने क्षमा किया, मेरे तप से यह शव अन्तर्धान हो जाय तुम्हें ! दूसरे जन्म में कुत्ता न बनना पड़े ! भगवान् से मेरी प्रार्थना है, वे तुम्हें सद्बुद्धि दें, जिससे भविष्य में तुम विष्णु-मन्दिर में गान करने वालों से द्वेष न करो, अपितु स्वयं भी गान-विद्या में प्रवीण हो भगवत्-भक्ति में विभोर हो गाना गया करो।” हरिमित्र के ऐसा कहते ही वहाँ से नरक की सब सामग्री नष्ट हो गई।

ठीक है, भगवान् के भक्त स्वभाव से ही दयालु होते हैं। दुःख देने वालों का भी दुःख दूर करने को वे सदा उद्यत रहते हैं।

(अद्भुतरामायण, सर्ग ६)

१ प्रकृत्या विष्णुभक्तानामीदृशी करुणा द्विज ।—अद्भुतरामायण ६।८८
कृतापराधलोकानामपि दुःखं व्यपोहति ।—अद्भुतरामायण ६।८९

प्रजापीडक का दान

पुरानी बात है कि राजा शतानीक का पुत्र सहस्रानीक अपनी प्रजा की बाहरी तथा भीतरी शत्रुओं से रक्षा और उसका न्याय से पालन तो करता था, परन्तु वह अपने पिता की तरह ब्राह्मणों को बहुत दान न देता था।

एक बार कुछ ब्राह्मण मिलकर उसके पास आये और कहने लगे, “राजन् ! ज़रा ध्यान देकर हमारी बात सुनें, आपके पिता हम ब्राह्मणों को भोजन, आच्छादन तथा धन-दान किया करते थे। उससे हम ब्राह्मण लोग अपनी इच्छानुसार अपने-अपने घरों में सुख से रहते थे। परन्तु इस समय आपके राज्य में रहते हुए भी हम, उस दान के न मिलने से, सकुटुम्ब दुःख भोग रहे हैं। बताओ, हम भूखे, दुःखी अब कहाँ जायें ?”

ब्राह्मणों की बात सुनकर राजा बोले, “यह सत्य है कि ब्राह्मणों को देने से बड़ा पुण्य होता है। परन्तु मैं आपसे एक बात पूछना चाहता हूँ। लिखा है दान से स्वर्ग मिलता है और फिर जन्म लेने पर सुख प्राप्त होता है। अतः यह बतलायें कि मेरे पिताजी का इस समय स्वर्ग में क्या हाल है ? यह बात जानकर आप कृपया मुझे संक्षेप में बतला दीजिये। यदि नहीं बतला सकते तो पहिले पिताजी से जो ले गए हैं उसके लौटाने की फिक्र कीजिये।” यह सुनते ही ब्राह्मणों पर मानों बिजली गिर पड़ी। वे सब आपस में कहने लगे—“राजा मरकर कहाँ गया, यह हम कैसे जान सकते हैं ?” यह सोच वे सब चुपचाप अपना-सा मुँह लेकर वहाँ से लौट गए। उन्होंने घर आकर कई दिन अग्निहोत्र न किया। तब सूर्य भगवान् ब्राह्मण के रूप में उनके पास आये और बोले—“ब्राह्मणो, तुम दुःखी क्यों दीख रहे हो, क्या करना

चाहते हो ? तुमने अपना नित्य-कर्म करना क्यों छोड़ दिया है ? पञ्च यज्ञ-कर्म कभी छोड़ने नहीं चाहिए । यह ठीक है कि नित्य-कर्म का कोई अपना फल नहीं होता ; पर इसमें भी संदेह नहीं कि नित्य-कर्म करने वाले को नैमित्तिक कार्य का सौ गुना फल मिलता है ।”

ब्राह्मणों से उनकी उदासी का कारण जानकर उस ब्राह्मण ने कहा, “तुममें से जिसने कभी दान न लिया हो और सदा जप करता रहा हो वह उस मरे हुए राजा के पास जा, उसे देखकर उसकी सभी बातें यहाँ आकर बता सकता है । यह सुन सबने कहा, “हम में से तो ऐसा कोई नहीं है । पर यह बात भी नहीं है कि ऐसा कोई न मिले । हम ऐसा ब्राह्मण ढूँढ़ लेंगे ।” फिर सबने उसे नमस्कार किया और बड़ी सावधानी से ऐसे ब्राह्मण की खोज करने लगे । परन्तु उन्हें ऐसा ब्राह्मण न किसी छोटे गांव में मिला और न ही किसी बड़े नगर में । तब वे सब वन में गये और वहाँ उन्होंने तपस्या करता हुआ एक भृगु-वंशी ब्राह्मण देखा । उसने वहाँ अपने रहने के लिए कोई आश्रम न बनाया था । वह खुले मैदान में अपनी भुजा को उठाये, एक पैर के बल खड़े होकर तपस्या कर रहा था । उसे देख वे सब ब्राह्मण वहीं बैठ गए ।

सूर्यास्त के समय उस ब्राह्मण ने जप समाप्त कर नित्य-कर्म किया और फिर उन सबकी पूजा की तथा उनसे वहाँ आने का कारण पूछा । तब उन्होंने अपने मुँह-फट राजा की कही हुई बात तथा उस वृद्ध ब्राह्मण के बतलाये उपाय उस ब्राह्मण को सुना दिये । फिर उन्होंने कहा, “हम दुःखी हैं, हो सके तो आप हमारी सहायता करें !” यह सुन वह ब्राह्मण अपने मन में सोचने लगा कि मुझे क्या करना चाहिए । क्या यह कहकर कि मैं तपस्या कर रहा हूँ इन्हें टरका दूँ, या इस तपस्या को छोड़कर इन सबकी विपत्ति को दूर करने जाऊँ ! मैं समझता हूँ

१ मनसा चितयामास किं कृतं सुकृतं भवेत् ॥ ४३

त्यजेच्चाहं तपः किं वाप्यथ वार्तिं विनाशये ।

तपसोऽधिकमेवासौ धर्मो दुःख विनाशनः ॥ ४४ ॥

कि किसी के दुःख को दूर करना यह तप करने से भी बड़ी बात है और भयभीत प्राणियों को^१ अभयदान देना सबसे उत्तम धर्म है। इस प्रकार सोचकर उस ब्राह्मण ने अपनी तपस्या छोड़ दी और अपने तपोबल से परलोक में चला गया।

परलोक में उस ब्राह्मण ने बड़े भारी भयंकर नरक-लोक को देखा और वहाँ नरक-वासियों को मिलने वाले कष्ट भी, जो सुन रखे थे, अपनी आँखों देखे तथा उनके क्रन्दन को कानों से सुना। फिर वह कुछ आगे बढ़ा ही था कि एक ब्राह्मण^२ हाथ में लाठी लिये आया और उसे रोक कर कहने लगा, “अरे ब्राह्मण, मेरी दक्षिणा चुकाये बिना तू आगे कहाँ जा रहा है ? जो कभी पहले मुझे तूने मृत्युलोक में देने को कहा था वह अभी तक नहीं दिया। उसे ज़रा याद तो कर !” यह सुन भृगुवंशी ब्राह्मण ने कहा, “हाँ-हाँ, याद है, तेरे माँगने पर मैंने तुझे एक पुराण^३ (भारतीय मुद्रा) देने को कहा था। मेरे आगे से हट जा, मैं घर जाकर वह दे दूँगा।” तब ब्राह्मण बोला, “अब मैं वहाँ हूँ ही नहीं, तो जाकर तुम किसे दोगे ? दूसरे, जब तुम यहाँ आ गए तो अब जो कुछ तुम्हारा था वह तो दूसरों का हो गया। यही मृत्युलोक का व्यवहार है, अब वहाँ जाकर भी तुम मुझे क्या दे सकते हो ?”

यह सुनकर उस भार्गव ब्राह्मण ने कहा, “यहाँ भी तो मेरे पास कुछ नहीं है, फिर तुझे यहाँ मैं क्या दूँ ?” तब उस प्रेत ब्राह्मण ने कहा, “अरे,

१ प्राणिनां भयभीतानामभयं यत्प्रदीयते ॥४५॥

सर्वसत्त्वेषु यद्दानमेकभूते तु या दया ।

सर्वसत्त्वप्रदानाच्च दयैकात्र विशिष्यते ॥४६॥

शिवपुराण, धर्मसंहिता, २७

२ विवृतो ब्राह्मणैकेन तदा लकुटपाणिना ।

भो भो द्विज क्व यास्यग्र्य-मदत्वा मम दक्षिणाम् ॥४३॥

या दत्ता ते पुरा मह्यं कस्मिन् काले तु तां स्मर ।

शिवपुराण, धर्मसंहिता, २७

३ पुराणः षोडशपणे, इति हैमः ।

जो कुछ तुमने पुण्य किया हुआ है वही तो यहाँ सबसे बड़ा धन माना जाता है, उसीका आधा भाग मुझे दे दो।” यह सुनकर उसने कहा, “भला मैं तुम्हें अपना आधा पुण्य १६ पैसों के लिए कैसे दे दूँ ! न, मैं नहीं देता।” वह बोला, “देगा कैसे नहीं; तुझे पता नहीं, कहकर न दिया गया दान दिन बीतने पर ही दस गुना हो जाता है ! तेरे कहे को तो वर्षों बीत गए, आधा तो मैंने माँगा ही कम है। अब वह दान थोड़े है, वह तो मेरा तुम पर ऋण है। उसे दिये बिना देखें तू यहाँ से आगे कैसे जा सकता है ? यह मृत्युलोक नहीं परलोक है; यहाँ किसी की धींगा-धींगी या लिहाज नहीं चलते, पूरा न्याय होता है।”

यह भंगड़ा देख सूर्यनारायण ने दोनों को समझाकर भार्गव के पुण्यों का छठा भाग उस प्रेत को दिला दिया। तब उस प्रेत ने ब्राह्मण को वहाँ से हिलने दिया। जब वह आगे गया, तो उसे एक ग्वाले ने रोक कर कहा, “अरे, तूने मुझे अपनी गाय एक कौड़ी महीने पर रख-वाली के लिए दी थी, वह एक कौड़ी वेतन भी तुमने मुझे नहीं दिया। सुना, तुम कहीं वन में भाग गए थे, तब के अब मिले हो। अब वह लेकर छोड़ूँगा।” ब्राह्मण लज्जित होकर बोला, “देर हो जाने के कारण मैं उसे भूल गया था।” तब ग्वाले ने भी उस ब्राह्मण के धर्म का छठा भाग बलपूर्वक ले लिया। आगे चलकर एक छठा भाग एक धोबी^२ ने, एक चमार ने, एक दर्जी ने और एक बनिये ने यह कहकर ले लिया कि तुमने मृत्यु लोक में हमारा देना नहीं दिया, सो उसके बदले में तुम्हारे पुण्य का छठा भाग हम चारों ने ले लिया है। अपना सारा पुण्य बँट जाने के कारण ब्राह्मण निस्तेज हो गया और पुण्य समाप्त हो जाने के

१ विप्रोऽसौ लज्जया तस्माद्विस्मृतः कालपर्ययात् ॥६१॥

२ तथैव वसुधौतेन चर्मकारेण वा पुनः ।

वस्त्रकारपवित्रेण तथैव वणिग्धर्मिणः ॥६२॥

गृहीतः सर्वधर्मोऽपि ततोऽसौ द्विजसत्तमः ।

निस्तेजश्चाभवत् तस्माद् गन्तुं चाग्रे न शक्तवान् ॥

—शिवपुराण, धर्म-संहिता २७।६३

कारण उसकी परलोक में चलने की शक्ति भी समाप्त हो गई। तब सूर्य ने अपनी किरणों द्वारा उसे वहाँ पहुँचा दिया जहाँ शतानीक राजा कष्ट भोग रहा था।

ब्राह्मण यह देखकर हैरान हुआ कि राजा को एक कुम्भ में डाल कर अग्नि पर पकाया जा रहा है। कुछ देर वहाँ ठहर कर ब्राह्मण ने राजा शतानीक से पूछा, “राजन्, आपने तो १६ प्रकार के महा-दान किये थे, ब्राह्मणों को रत्न तथा वस्त्र दिये थे, कई गाँव, पुर तथा नगर दान किये थे। और हमने बड़े मुनियों से सुन रखा है, कि तप तथा दान से स्वर्ग मिलता है। आपको यह किस कर्म का फल मिल रहा है? यदि आपको पता लग गया हो तो बतला दें!” यह सुन राजा ने कहा, “यह ठीक है कि मैंने ब्राह्मणों^१ को बहुत दान दिया है, परन्तु वह सभी धन अज्ञान से अन्धे होकर मैंने प्रजा^२ को पीड़ा देकर इकट्ठा किया था। प्रजा-पीड़न के सन्ताप से उत्पन्न हुई आग से रात-दिन मैं प्रेत बनकर जल रहा हूँ। हे ब्राह्मण! यहाँ से आप शीघ्र जाकर मेरे बेटे से कहना, कि यदि मुझे इस दुस्सह कष्ट से छुटकारा मिल सके तो उसके लिए वह कोई उपाय करे और मेरे जीवन से शिक्षा ले।”

(शिवपुराण, धर्मसंहिता, अ० २७)

१ मया दानानि दत्तानि ब्राह्मणेभ्यो यतस्ततः ॥७०॥

सुबहूनि प्रगृह्यापि परेभ्योऽज्ञानचक्षुषा ।

२ प्रजापीडनसन्तापात् समुद्भूतो हुताशनः ॥३१॥

तेन दह्याम्यहं विप्र ! प्रेतसंस्थादिवानिशम् ॥७२॥

—शिवपुराण, धर्मसंहिता, २७

प्राचीन शासक

लोपामुद्रा के अनुरोध से राजसी ठाठ से रहने के लिए एक बार अगस्त ऋषि को बहुत धन की आवश्यकता पड़ी और उसे प्राप्त करने के लिए वह राजा श्रुतवीण के पास गये। ऋषि को आते देख राजा ने उनका स्वागत किया। सत्कार कर चुकने पर उनके आने का उद्देश्य जानने के लिए उनसे विनय की। ऋषि बोले, “मुझे बहुत धन की आवश्यकता है। उसे देने से प्रजा के विकास-कार्यों में यदि बाधा न पड़े तो तुम मुझे धन दो। पर यदि बाधा पड़ती हो तो मैं धन किसी और से लूंगा। तुम मुझे अपना आय-व्यय का लेखा दिखला दो।” यह सुन श्रुतवीण ने अपने आय-व्यय का लेखा मँगवाकर ऋषि के सामने रख दिया। उसे देख ऋषि बोले, “तुम्हारा आय-व्यय समान होने से यदि इसमें से मैं कुछ ले लूँ तो तुम्हारी प्रजा को अवश्य कष्ट होगा। इसलिए मैं किसी दूसरे राजा से जाकर माँगूंगा।” यह सुन राजा श्रुतवीण भी उनके सम्मानार्थ उनके साथ हो गया।

दोनों राजा ब्रध्नश्व के पास गये। उसने महर्षि तथा श्रुतवीण का स्वागत-सत्कार करके उनके पधारने का कारण पूछा। ऋषि बोले, “राजन् ! मुझे काफी धन की आवश्यकता है, वही लेने हम दोनों तुम्हारे पास आये हैं। यदि धन देने से तुम्हारे देश के सुधार के कार्यों में बाधा न पड़े तो मुझे धन दो !” नृप ब्रध्नश्व ने भी अपने आय-व्यय का लेखा मँगवाकर ऋषि के सम्मुख उपस्थित किया। उसे देख अगस्त बोले, “तुम्हारा आय-व्यय बराबर ही है। तुमसे कुछ लेने पर देश-सुधार के कार्य रुकेंगे, इसलिए हम तुमसे कुछ नहीं लेंगे।

१ ततः आयव्ययौ दृष्ट्वा समौ सममतिद्विजः ।

सर्वथा प्राणिनां पीडामुपादानादमन्यत ॥ महाभारत पर्व ६६।६१

हम किसी और राजा के पास धन माँगने चलते हैं।” यों कह जब वे चलने लगे तो राजा ब्रध्नश्च यह कहकर कि मैं भी आपके साथ किसी धनी के पास धन माँगने चलूँगा, उन दोनों के साथ हो लिया। अब ये तीनों इक्ष्वाकु-वंशी महाधनी राजा त्रसदस्यु के पास चले। उनका आना सुन राजा त्रसदस्यु ने इनका बड़ा स्वागत किया। आदर-मान कर चुकने के बाद वह बोला, “ऋषिवर, आपके आने से न केवल मेरा गृह, अपितु मेरा देश भी पवित्र हो गया और इन दो महाराजाओं ने मेरी राजधानी में पधार मेरे गौरव को शिखर पर पहुँचा दिया है। किसी पूर्वपुण्य के प्रभाव से आज आप तीनों मेरे अतिथि हुए हैं। कहिये ऋषिवर, मेरे लिए क्या आज्ञा है?”

अगस्त बोले, “मुझे धन चाहिए। ये दोनों राजा भी मेरे लिए धन माँगने ही तुम्हारे पास आये हैं। पर धन देने से यदि प्रजा के हितों का शोषण हो, उनकी उन्नति के कार्य में बाधा पड़े, तो मैं ऐसा धन नहीं चाहता। मैं तो वैसा धन चाहता हूँ, जो कर के रूप में आकर राजकोष में यों ही बेकाम पड़ा हो।” यह सुनते ही राजा त्रसदस्यु ने अपने खाते मँगवाकर ऋषि की सेवा में उपस्थित किये। उन्हें देख अगस्त ने फिर वही बात कही, “नृपवर ! तुम्हारी आमदनी और खर्च दोनों बराबर हैं; इसमें से कुछ लेने से प्रजा के अभीष्ट कार्य पूर्ण न हो सकेंगे, इसलिए हम तुमसे कुछ न लेकर किसी और राजा के पास चलते हैं।”

तब उन तीनों ने मिलकर ऋषि से प्रार्थना की, “महाराज ! यहाँ समीप ही इल्वल नामक एक असुर नृपति बड़ा धनी है। हम सबके साथ आप उसके पास चलिये। उसके पास काफ़ी धन जमा है। आप जितना चाहते हैं, उतना दे देना उसके लिए साधारण-सी बात है। पर वह आर्य नहीं अनार्य है, शायद आपको न जानता हो। हम तीनों को आपके साथ देखकर लिहाज में आकर अधिक नहीं तो जितना आप चाहते हैं उतना तो अवश्य दे देगा।” यों कह वे इल्वल महीपाल के पास चल पड़े और अपने आने की सूचना उन्होंने इल्वल

को पहले ही भिजवा दी।

एक ऋषि के साथ तीन राजा उसके पास उसके देश में आ रहे हैं, यह जान महाराज इल्वल उनके स्वागत के लिए अपने मन्त्री तथा अनेक गण्यमान्य व्यक्तियों के साथ अपने देश की सीमा पर पहुँच गया। उन लोगों ने ज्यों ही उसके राज्य में प्रवेश किया, उसी समय इल्वल की ओर से उनका बड़े समारोह से महान् स्वागत किया गया। वहाँ से उन चारों को बड़ी धूमधाम से राजधानी में ला इल्वल उन्हें अपने महल में ले आया। और वहाँ पहुँचते ही उनसे भोजन के लिए निवेदन किया।

जब भोजन आया तो ऋषि ताड़ गए कि दाल में कुछ काला है। हम तो इससे कुछ लेने आये थे, पर यह लालची इन राजाओं के शरीर पर धारण किये हुए आभूषणों के लोभ से हमारी ही जान ले लेना चाहता है। ऐसा विचार आते ही ऋषि ने कहा, “देखो, पहले हम खायेंगे और जब हम तृप्त हो लेंगे तब तुम लोगों को खाने बैठना होगा। इल्वल ने बहुत यत्न किया कि वे तीन राजा भी ऋषि के साथ ही भोजन कर लें, पर ऋषि के आदेश को वे राजा कैसे टाल सकते थे ! उन तीनों ने इल्वल से कहा, “ऋषि हमारे पूज्य हैं, पहले वे भोजन कर लें, उसके बाद हम तीनों भोजन करेंगे। यही हमारे यहाँ की प्रथा है और उसी के अनुसार आपको भी आचरण करना चाहिए। फिर जब उनकी स्वयं यही इच्छा है तो शिष्टाचार के अनुरोध से आपको भी पहले ऋषि को ही भोजन कराना चाहिए। इल्वल ने फिर भीवहुत चाहा कि ये तीनों राजा भी ऋषि के साथ ही भोजन कर लें, पर वे नहीं माने।

तब ऋषि को भोजन कराया गया और अगस्त वह सारा भोजन समाप्त करके ही उठे जो बना था। अब इल्वल ने अपना पाप छिपाने के लिए ऋषि से प्रार्थना की कि आप एकान्त में विश्राम कर लें। उसे भय था कि उनके पास इन राजाओं के बैठे रहने से उसके पाप का भण्डा फूट जायेगा। उसके हाथ आये तीन शिकार भाग जायेंगे।

और उनके चले जाने से स्वर्ण-मुकुट, कुण्डल, माला आदि आभूषण उसे प्राप्त न हो सकेंगे । इसी भय से इल्वल ने उनसे तो यह कहा कि पहला भोजन बचा ही बहुत कम है और जो बचा है वह भी ठंडा हो जाने के कारण खाने लायक नहीं रहा । अतः कुछ देर के लिए ठहरिये, अभी गर्म भोजन आपके लिए आता है; और ऋषि से बोला कि ये तो अब भोजन करेंगे, अतः आप तब तक विश्राम कर लें । यों कहकर अगस्त को एक एकान्त कक्ष में सुला आया ।

जब अगस्त विश्राम कर रहे थे, तब इल्वल प्रकोष्ठ के बाहर खड़े हो “वातापि ! वातापि !” चिल्लाने लगा । अन्दर से अगस्त बोले, “अरे, अब सोने भी दे ! उसे अपने हाथों मारकर अब पुकार रहा है, वातापि.....वातापि ! अब वह कहाँ है तेरा वातापि ? वह तो कब का हज़म हो गया । जिस पेट में समुद्र समा गया, उससे वातापि जैसे क्षुद्र जीव के निकल आने की आशा छोड़कर तू भी आराम कर और हमें भी विश्राम करने दे ! वह लोभी-लालची या भीरु लोगों का पेट फाड़कर ही निकल आया करता था । अब यहाँ से नहीं निकल सकता । वह अब सदा के लिए स्वाहा हो गया है ।” इल्वल यह सुन कर बहुत चकित हुआ और सोचने लगा, वातापि का तो यह नित्य का काम था, कि मैं उसे मारकर उसका मांस लोगों को खिलाया करता था । जब वे खा चुकते थे तो मैं उसे आवाज़ देता था और उसके सभी अवयव मेरी आवाज़ सुनते ही उनका पेट फाड़कर बाहर ढेर हो जाते और मिलकर फिर मेरा भाई वातापि पूरा होकर मेरे पास पहुँच जाया करता था । पर आज उसे क्या हो गया कि वह आना तो दूर, चूँ तक नहीं करता ! यह ऋषि क्या बला है ! इस प्रकार उसे पहले आश्चर्य हुआ और बाद में वह भयभीत हो गया । ‘भूठे का सहारा अई अई’—इस लोकोक्ति के अनुसार इल्वल बोला, “नहीं नहीं, ऐसी बात नहीं है, यह तो व्यर्थ ही आपको भ्रम हुआ है । अच्छा जो हुआ, जाने दीजिये । आप अपनी असली बात पर आइये और बतलाइये कि आप सबका यहाँ आगमन कैसे हुआ है ?” इतने में वे

तीनों राजा भी वहाँ आ गए। उनके आने पर इल्वल ने फिर घबराकर वही पूछा कि आप लोग किस लिए यहाँ पधारे हैं ? तब सबने मिलकर इल्वल से कहा, “हम तो ऋषि महाराज के लिए आपसे धन माँगने आये हैं। हम सब तो जितना कर प्रजा से लेते हैं उतना ही उसकी उन्नति के कामों में व्यय कर देते हैं। इसलिए आय-व्यय समान होने से ऋषि जितना धन चाहते हैं, उतना हम ऋषि को नहीं दे सके। पर हम भली भाँति जानते हैं कि आपके पास प्रचुर मात्रा में धन है। आप जितना कर लेते हैं उतना धन प्रजा की उन्नति के कार्यों में कभी व्यय नहीं करते। इसीलिए आपके पास ज़रूरत से ज्यादा धन जमा हो गया है।” यह सुन इल्वल मन ही मन सोचने लगा, ‘अरे, यह आफत कहाँ से आ गई, इनसे साफ इन्कार कैसे करूँ।’ देर तक सोचने के बाद वह बोला, “आदरणीय राजाओं, आप ऋषि के लिए मुझसे धन लेना चाहते हैं। जैसे ऋषि आपके मान्य हैं, वैसे ही मैं भी इन्हें पूज्य मानता हूँ। आप मेरे घर आये, यह मेरा अहोभाग्य है। मैं केवल ऋषि को ही नहीं, आप तीनों को भी धन भेंट करूँगा। पर तब दूँगा जब आप में से कोई यह बतलाये कि मैं आपको क्या देना^१ चाहता हूँ ?”

इल्वल की शर्त सुनकर राजा बोले, “हम क्या लेना चाहते हैं, यह तो बतलाया जा सकता है; पर देने वाले के मन में क्या है, यह कैसे पता चले ? यह तो न देने का एक बहाना ही है।”

इल्वल बोला, “भाई, आप चाहे इसे बहाना समझें या कुछ और; पर मैंने तो यह पक्का निश्चय कर लिया है कि आपको दूँगा तो इसी शर्त पर। अब लेना न लेना आपकी इच्छा पर निर्भर करता है।” यह सुन राजा लोग तो क्या बतलाते, पर अगस्त बोल पड़े, “इल्वल, हम

१ दित्सितं यदि वेत्सि त्वं ततो दास्यामि ते वसु ।

बतलाते हैं कि तुम अभी-अभी मन में क्या देने की सोच रहे हो । सुनो, इस समय तुम्हारे मन में आ रहा है कि ये राजा माँगने आये हैं इसलिए प्रत्येक राजा को दस-दस^१ हजार गौएँ और उतनी ही स्वर्ण-मुद्राएँ देनी चाहिए और मेरे विषय में मन में सोच रहे हो कि यह इनका गुरु है इसे इनसे दुगुनी गौएँ, स्वर्ण-मुद्राएँ और एक सोने का रथ देना चाहिए । बतलाओ, यह सोचा है न ? पर भाई, हमें तो इससे बहुत अधिक चाहिए ।” यह सुनते ही उसकी हैरानी का ठिकाना न रहा । वह बहुत डरा और ऋषि ने जितना कहा, उतना देकर उन्हें विदा किया । वातापि की मृत्यु से अनेक लोगों की जानें बची और विदेशी का बल भी घट गया ।

(महाभारत, वनपर्व, अ० ६६)

१ गवां दशसहस्राणि राज्ञामेकैकशोऽसुर ।

तावदेव सुवर्णस्य दित्सितं ते महासुर ॥१४॥

मह्यं ततश्च द्विगुणं रथश्चैव हिरण्यमयः ।

भारत का राज्य और भरत

भरत अपनी माता कैकेयी के घर आये। उन्होंने अपनी माता को देख बड़ी भक्ति से उसके चरणों पर सिर रखकर प्रणाम किया। माँ ने झट पैरों पर पड़े बेटे को उठाकर गले लगा लिया। भरत ने अपने पिताजी को वहाँ न देख माँ से पूछा “माँ, पिताजी कहाँ हैं ? उन्हें न देखने से, पता नहीं क्यों मुझे अत्यन्त शंका और अनिष्ट का भय है।” कैकेयी ने कहा, “निष्पाप पुत्र ! तेरी शंका ठीक है महाराज नहीं रहे, पर इसमें दुःख की कौन-सी बात है ? जाना तो सभी को है, तुम्हारे यशस्वी पिता तो अश्वमेधादि यज्ञ करने वाले धर्मपरायण पुरुषों की गति को प्राप्त हुए हैं।” यह सुनते ही भरत पृथ्वी पर गिरकर बेहोश हो गए। फिर होश आने पर “हा तात ! हा तात ! मुझे दुःखसागर में छोड़कर आप चले गए। हा महाराज ! राम^१ को मुझे साँपे बिना ही आप कहाँ चले गए ?”

इस प्रकार विलाप करते हुए भरत के आँसू पोंछ कैकेयी ने कहा, “बेटा ! तुम्हारा भला हो, हौसला करो, मैंने तुम्हारे लिए सभी कुछ ठीक कर लिया है।”^२

रोते-रोते भरत ने पूछा, “मरते समय महाराज ने क्या कहा था ?”

कैकेयी भयभीत होकर बोली, “वे हा राम ! हा लक्ष्मण ! हा सीते ! ! यों बार-बार देरतक विलाप करते स्वर्ग सिधार गए।” भरत ने पूछा, “तो क्या माता, उस समय राम, लक्ष्मण और सीता-जी भी उनके पास न थे। वे कहाँ थे ?” कैकेयी ने कहा, “तुम्हारे

१ असमर्प्यैव रामाय राज्ञे मां क्व गतोऽसि भोः । अद्भुतरामायण ७।६७

२ समाश्वसिहि भद्रं ते सर्वं सम्पादितं मया । अद्भुतरामायण, ७।६६

पिता ने राम को युवराज बनाने की तैयारी की थी। बहुत पहले कभी राजा ने मुझे दो वर माँगने को कहा था, वे दोनों मैंने उस समय माँग लिये; एक से तुम्हें राज्य और दूसरे से राम को वनवास दिला दिया। पतिव्रता सीता उसके साथ गयी और लक्ष्मण भी भ्रातृ-प्रेम दिखाने के लिए उनके साथ हो लिया। इस प्रकार उन सबके चले जाने पर 'राम-राम' कहते राजा ने प्राण दे दिये।" कैकेयी के ये शब्द भरत पर बिजली बनकर गिरे। वह पृथ्वी पर गिरकर फिर बेहोश हो गए। भरत की यह दशा देख कैकेयी ने दुःखित होकर कहा—“बेटा ! तुम शोक क्यों करते हो ! ऐसे महान् राज्य को पा लेने पर तुम्हारे सभी दुःख अपने आप ही दूर हो जावेंगे। तुम पर दुःख आने का कोई मौका ही न रहेगा। अब दुःख का, प्रश्न ही क्या रहा, मजे से रहो, राज भोगो !”

यह सुन रोते-रोते भरत ने कहा—“पति की हत्या करने वाली, चुप रह ! मैं तेरे गर्भ से पापी पैदा हुआ हूँ, जिसके लिए यह सभी हुआ। अब मैं^१ आग में जल मरूँगा या अभी विष खा लूँगा अथवा खड्ग से आत्म-हत्या कर लूँगा।” यों कहते-कहते भरत उठे और कौशल्या के घर चले गए।

भरत को देखते ही कौशल्या ऊँची आवाज़ से रोने लगी और भरत भी उसके पैरों पर गिरकर रोने लगे। माँ ने बेटे को उठाकर गले लगा कर कहा, “बेटा, तुम्हारे^२ घर से बाहर रहने से जो-जो अनर्थ हुए वे सब तुमने अपनी माता से सुन ही लिये होंगे। इस समय मेरा राम अपनी पत्नी और भाई लक्ष्मण के साथ वन के दुःख भोग रहा है। मैंने राम जैसे सर्वेश्वर पुत्र को जन्म दिया, फिर भी दुःख ने मेरा पीछा नहीं छोड़ा। इससे मैं समझती हूँ, विधाता बड़ा ही बलवान् है !”

१ राज्ये महति सम्प्राप्ते दुःखस्यावसरः कुतः ॥७९॥

२ अहमग्निं प्रवेक्ष्यामि विषं वा भक्षयाम्यहम् ।

खड्गेन वाथ चात्मानं हत्वा यामि यमक्षयम् ॥ अद्भुतरामायण ७।१८

३ पुत्र त्वयि गते दूरमेवं सर्वमभूदिति ॥८४॥

भरत ने कौशल्या को इस प्रकार विलाप करते देख उनके पैरों पर पड़कर कहा—“माताजी ! मेरी बात सुनिये, कैकेयी ने रामराज्याभिषेक के समय जो करतूत की है, यदि वह काम मेरी सम्मति से हुआ हो, या मुझे आज से पहले उसका कुछ भी ज्ञान रहा हो, तो मुझे सौ ब्रह्महत्याओं^१ का पाप लगे । अगर माँ, उस विषय में मेरा ज़रा भी हाथ हो तो अपने कुल-गुरु वसिष्ठ तथा पूज्य अरुन्धती को तलवार से मारने से जो पाप होता है वह मुझे लगे !” यों कहकर भरत रोने लगे । यह सुन कौशल्या ने उसे कहा, “बेटा ! मैं तुम्हें जानती हूँ, तुम इसकी सोच मत करो ।”

अपने पिता दशरथ के क्रिया-कर्म के लिए भरत को अयोध्या में रहना पड़ा । अब वह सोचने लगे—राम, सीता, लक्ष्मण वन में दुःख उठा रहे होंगे, अच्छा तो मैं भी कुछ दिनों बाद यह सभी ऐश्वर्य-सम्पत्ति छोड़ उन्हीं के पास वन में चला जाऊँगा । राजा की क्रिया-कर्म के बाद वसिष्ठ मुनि मन्त्रियों को साथ ले राज-सभा में आये और उन्होंने भरत को बुलाकर कहा—“वत्स ! तुम्हारे पिताजी के कथन-अनुसार आज हम तुम्हारा^२ राजपद पर अभिषेक करेंगे ।” यह सुन भरत ने कहा, “मुनीश्वर ! राज्य से मेरा क्या सम्बन्ध है ? हमारे राजा तो राम हैं । मैं तो उनका दास हूँ । आज तक कार्यवश यहाँ ठहरा हुआ था । मैं, आप और कैकेयी के सिवाय और माताएँ हम सब कल प्रातःकाल ही श्रीराम को लौटाने के लिए वन में चलेंगे । अथवा और कोई चले या न चले, मैं शत्रुघ्न को साथ ले कल प्रातःकाल पैदल ही दण्डकारण्य को जाऊँगा । मुनिवर ! जिस प्रकार राम^३ गये हैं, उसी प्रकार जब तक राम न लौटेंगे, तब तक मैं भी वल्कल-वस्त्र और

१ पापं मेऽस्तु यदि मातर्ब्रह्महत्याशतोद्भवम् ॥८८॥

२ वत्स ! राज्येऽभिषेक्ष्यामस्त्वामद्य पितृशासनात् ॥८९॥

३ रामो यथा वने यातस्तथाहं वल्कलाम्बरः ।

फलमूलकृताहारः शत्रुघ्नसहितो मुने ॥

भूमिशायी जटाधारी यावद्रामो निवर्तते ॥९०॥

जटा-जूट धारण कर कन्द-मूल-फलादि का भोजन करूँगा और पृथ्वी पर सोया करूँगा ।” अपना यह निश्चय बता भरत चुप हो गए । तब सब लोग भरत की सराहना करते हुए चले गए ।

प्रातःकाल होते ही भरत ने चलने की तैयारी की । उनकी प्रेरणा से हाथी, घोड़े, और सेना उनके साथ चली । अभिषेक का सभी सामान साथ ले लिया गया और कुलगुरु वसिष्ठादि अनेक ब्राह्मण तथा सभी माताएँ भी उनके साथ श्रीराम को लौटाने चले ।

जब पैदल चलकर भरत शृंगवेरपुर में पहुँचा, तो गुह ने यह समझकर कि भरत राम का कोई अनिष्ट करने आ रहा है, अपने सभी जाति-बन्धुओं से कहा, “अपने शस्त्रास्त्र लेकर सावधानी से इसका पूरा ध्यान रखो और घाट की नावों^१ को गंगा की मझधार में खड़ा कर दो । मैं भरत के आने का उद्देश्य जानकर अभी आता हूँ ।” यों कह गुह भेंट लेकर अपने बहुत से सशस्त्र जाति-भाइयों के साथ भरत के पास गया और वहाँ उसने वल्कल पहने, राम के वियोग से दुःखी, बार-बार ‘राम-राम—हा राम’ करते हुए विह्वल भरत को देखा । उसे देख गुह ने पृथ्वी पर सिर रख भरत को प्रणाम कर कहा, “मैं गुह हूँ ।” भरत ने उसे उठाकर अपने गले लगाकर पूछा, “भैया, तुम यहाँ रामजी के साथ रहे थे न ? ! सुना है उन्होंने तुम्हारा आलिङ्गन किया था । सीता और लक्ष्मण सहित श्रीराम ने तुमसे बातें भी की थीं । तुम धन्य हो ! सुव्रत, तुमने श्रीराम को जहाँ देखा था, मुझे अभी वहाँ ले चलो ।” तब गुह उन्हें वहाँ ले गया, जहाँ राम ने रहकर रात बितायी थी । वहाँ भरत सोने के लिए बिछायी हुई कुशा देखकर रोते हुए बोले, “जो राजमहल में रत्नजडित पर्यङ्कों पर कोमल बिस्तरे बिछवाकर सोया करते थे, उन्हें मेरे दोष^२ से कुशाओं की साथरी पर

१ गङ्गा नोचेत्समाकृष्य नावास्तिष्ठन्तु सायुधाः ।

२ सीता रामेण सहिता दुःखेन मम दोषतः ।

धिङ् मां जातोऽस्मि कैकेय्यां पापराशि समागतः ॥३॥

सोना पड़ रहा है ! मुझे धिक्कार है, जिसके कारण श्रीराम को यह सब कष्ट उठाना पड़ रहा है !”

फिर गुह के साथ गंगा पार कर भरत आदि सब भरद्वाज के आश्रम की ओर चले । अपनी सेना तथा साथियों को पीछे छोड़ शत्रुघ्न के साथ भरत भरद्वाज के आश्रम में गये और उन्होंने ऋषि को साष्टाङ्ग प्रणाम किया । भरद्वाज ने भरत को बिल्कुल पहने देख कर पूछा, “भरत, शासक^१ होकर तुमने यह मुनिवेश क्यों धारण किया है और इस वन में किस लिए आये हो ?” भरत ने आँखों में आँसू भरकर कहा, “आप सर्वज्ञ होकर यह क्यों पूछ रहे हैं ? कैकेयी ने राज्याभिषेक में जो विघ्न डाला है, आपके चरणों को साक्षी बनाकर कहता हूँ कि उस विषय में मेरा कोई हाथ न था ।”

भरत ने भरद्वाज के चरण पकड़ कर कहा, “मुनिश्रेष्ठ, आप स्वयं अपने तपोबल से जान सकते हैं कि मैं दोषी हूँ या निर्दोष हूँ ? स्वामिन् ! श्रीराम के रहते हुए मुझे राज्य से क्या प्रयोजन है ? मैं तो सदा ही श्रीराम जी के चरणों में रहने वाला उनका दास हूँ । इसलिए मैं श्रीराम के पास जा, उनके चरणों में पड़कर यह सभी राज्याभिषेक की सामग्री उन्हें सौंप दूँगा और वहीं वसिष्ठादि ऋषि, पुरवासियों तथा साथ आये हुए देशवासियों के साथ मिलकर उनका राज्याभिषेक करेंगे, फिर मैं उन्हें अयोध्या ले जाऊँगा । और वहाँ अति तुच्छ दास के समान उनकी सेवा करूँगा ।” यह सुन भरद्वाज बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने सभी का अतिथि-सत्कार किया ।

इस प्रकार वे सब उस रात आश्रम में रहे ।

प्रातः श्रीराम के आश्रम के पास पहुँच भरत ने पृथ्वी पर अंकुश-कमल, ध्वजादि चिह्नों से युक्त पाँवों के निशान देखे । यही मेरे भाई के चरण-चिह्न हैं, यों कहकर उस चरण-रज पर लोटने लगे । राम अब मिल जायेंगे, इस आशा से उनका मुरझाया मुँह खुशी से

१ राज-प्रशासतस्तेऽद्य किमेतद्वल्कलादिकम् ॥४४॥

एक बार फिर खिल उठा । वह बड़ी उत्कण्ठा से प्रेम-मग्न हो आगे बढ़े । सामने राम, सीता, लक्ष्मण को देख वह दौड़कर हर्ष और शोक से हिलोरें लेते हुए श्रीराम के चरणों पर गिरकर, “भाई, यह क्या ? यह क्या ?” कहते, बच्चों की तरह रोने लगे ।

राम ने चरणों पर पड़े भरत को उठा अपने गले से लगा लिया । इतने में तीनों माताएँ पहुँच गईं । श्रीराम, सीता और लक्ष्मण ने उनके चरण छूकर उन्हें प्रणाम किया । फिर मुनि वसिष्ठजी को आते देख उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम कर कहा, “मैं आज धन्य हुआ !” इसके अनन्तर दशरथ की मृत्यु सुन राम-लक्ष्मण शोक के मारे बेसुध होकर गिर पड़े । फिर सभी ने नदी पर जा राजा को जलाञ्जलि दी तथा श्रीरामचन्द्र ने पिता को पिण्ड दिया और स्नान कर सभी आश्रम को लौट आए । दूसरे दिन स्नान कर भरतजी ने आश्रम में बैठे हुए श्रीराम को कहा—“राम ! आप अपना अभिषेक कीजिये । आप हमारे बड़े भाई होने से पिताजी के तुल्य हैं ; यह पैतृक राज्य आपका ही है । उसे सँभाल हमारा तथा समस्त प्रजा का पालन कीजिये । क्षात्रधर्म का पालन कर पितृ-ऋण से मुक्त हो अपने पुत्र को राजसिंहासन पर बैठा, फिर निःशंक वन में आइये । अभी आपके वनवास का समय नहीं । आप मुझ पर प्रसन्न होकर, मेरी माता ने जो कुछ किया है, उसे भूल जाइये !” यों कहकर भरत ने श्रीराम के सामने भूमि पर पड़कर उनके चरणों में दण्डवत् प्रणाम किया ।

श्रीराम भरत को उठाकर गोद में बिठा आँखों में आँसू भरकर बोले, “भरत, हमें और तुम्हें दोनों को पिताजी की आज्ञा का पालन करना चाहिए । जो पिता की आज्ञा का उल्लङ्घन कर मन-मानी करता है, पिता के लिए उस पुत्र का होना न होना एक-सा है ।” भरत ने कहा, “पिताजी ने तो मेरी माता के वश में होने से ऐसा कर दिया है ।” राम बोले, “भरत, ऐसा मत कहो; पिताजी ऐसे

न थे । वे सत्यवादी^१ थे, उन्होंने अपनी पूर्व प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए यह सब किया है । ऐसा न करने से उनकी प्रतिज्ञा टूटती, वह भूठे होते । महान् पुरुषों को असत्य से, नरक की अपेक्षा भी अधिक भय हुआ करता है । मैं ऐसा ही करूँगा, यह मैं भी उनसे प्रतिज्ञा कर चुका हूँ; फिर रघुकुल में उत्पन्न हो मैं अपनी बात से कैसे पलट जाऊँ ?” यह सुन भरत बोले, “यदि वन में रहना आवश्यक है, तो मैं आपकी जगह बिल्कुल पहनकर वन में रहूँगा और आप जाकर सुखपूर्वक राज्य कीजिये ।”

राम बोले, “भरत ! पिताजी ने मुझे^२ वनवास और तुम्हें राज्य दिया है; यदि इससे उलटा करूँ तो भी बात न बनेगी । बात बदलने के बहाने धर्म में नहीं, राजनीति में ढूँढ़े जाते हैं । मेरे बदले तुम्हारे यहाँ रहने पर भी पिताजी की आज्ञा-भंग के दोष से मैं न बच सकूँगा ।” भरत ने कहा, “यदि आप वन से नहीं लौटते तो मुझे आज्ञा दीजिये मैं भी वन में रहकर लक्ष्मण की तरह आपकी सेवा करूँ ।”

जब श्रीराम यह भी न माने, तब भरत ने कहा, “अच्छा, यदि आप यह भी नहीं मानते तो मैं अन्न-जल छोड़ इस शरीर^३ को त्याग दूँगा ।” यों निश्चय कर, धूप में कुशा बिछाकर, पूर्व की ओर मुख कर, भरत सत्याग्रह करके बैठ गया ।

भरत का ऐसा हठ देख श्रीराम ने विवश हो, गुरु वसिष्ठ को आँख से इशारा कर, भरत को समझाने का संकेत किया । तब वसिष्ठजी ने भरत को एकान्त में ले जाकर बतलाया कि “श्रीराम

१ पूर्व प्रतिश्रुतं तस्य सत्यवादी ददौ भयात् ।

—अध्यात्मरामायण, अयोध्याकाण्ड ६।३४

२ पित्रा दत्तं तवैवैतद्राज्यं मह्यं वनं ददौ ।

व्यत्ययं यद्यहं कुर्यामसत्यं पूर्ववत्स्थितम् ॥३८॥

३ नोचेत्प्रायोपवेशेन त्यजाम्येतत्कलेवरम् ।

इत्येवं निश्चयं कृत्वा दर्भानिस्तीर्णं चातपे ॥४॥

का वन में आना तो रावण^१ के विनाश के लिए है। ब्रह्माजी की बनायी इस योजना को बना रहने दो, राम को लौटाने का आग्रह छोड़ दो। माताओं सहित अयोध्या लौट चलो। श्रीराम तो अब कुल-सहित रावण राक्षसका संहार करके ही लौटेंगे।” गुरुजी के वचन सुन भरत किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर श्री रामचन्द्रजी के पास जा कहने लगा—“पूज्य तात ! यदि यह बात है तो आप मुझे राज्य-शासन के लिए अपनी चरणपादुकाएँ^२ दे दीजिये; मैं आपके लौटने तक इनकी सेवा करूँगा।” यों कहकर भरतजी ने अभिषेक के सामान में से रत्न-जड़ित पादुका उन्हें पहना दीं; फिर उन्हीं पादुकाओं को लेकर श्रीराम की परिक्रमा कर उन्हें बारम्बार प्रणाम किया और भरती हुई आवाज़ से श्रीरामजी कहा—“यदि चौदह वर्ष पूर्ण होने पर आप पहले दिन ही अयोध्या में न पहुँच गए, तो मैं अग्नि में बैठकर जल मरूँगा।”

श्रीराम ने चौदह वर्ष बाद लौटने की बात स्वीकार कर भरत को विदा किया। पादुकाओं को सिर पर उठा सभी के साथ भरत लौटकर अयोध्या आये; पर भाई वन में रहते हैं, इस विचार से वह अयोध्या नगर से कुछ दूर नन्दिग्राम के पास वन में एक सिंहासन पर राम-पादुकाओं को रखकर श्रीराम के सम्मानार्थ उनका प्रतिदिन पूजन करने लगे। भरत अब वल्कल पहनते, फल-मूल खाते, भूमि पर सोते थे। उनकी जटाएँ बड़ी-बड़ी हो गईं। उन्होंने भाई के वियोग के दुःख से दुःखी हो सभी सांसारिक सुख छोड़ इन्द्रियों का दमन किया। वह ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कर वहीं वन में रहने लगे। राज्य के सभी कार्य उन्हीं पादुकाओं के सामने निवेदन कर किये जाते थे। राज्य के सभी काम अब राम की चरण-पादुकाओं के नाम से होते। उन्हीं के नाम से राजाज्ञाएँ निकाली जातीं। इस प्रकार पूरे चौदह वर्ष भारत के सिंहासन पर पादुकाओं का राज्य रहा।

१ रावणस्य वधार्थाय जातो दशरथात्मजः ॥१॥४३

२ पादुके देहि राजेन्द्र ! राज्याय तव पूजिते ॥१॥४६

वनवास से पूरे चौदह वर्ष बाद रावण को मारकर पञ्चमी के दिन श्रीराम विमान द्वारा भरद्वाज के आश्रम में पहुँचे और ऋषि को प्रणाम कर उन्होंने अयोध्या के समाचार पूछे। भरद्वाज बोले, “आपके यहाँ सब कुशल है, परन्तु भरत को शीघ्र मिलो। भरत तो जटा-वल्कल धारण किये फल-मूल से निर्वाह करते हुए, राज्य का सभी कार्य-भार पादुकाओं को सौंपकर आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।” यह सुन श्रीरामजी ने उसी समय अपने आने की सूचना श्रीहनुमान द्वारा भरतजी को भिजवा दी। श्रीहनुमानजी ने अयोध्या से एक कोस^१ की दूरी पर भरतजी को अति दीन और दुर्बल अवस्था में चीर-वस्त्र और कृष्णमृग-चर्म धारण किये, जटा बढ़ाये, बार-बार राम का स्मरण करते हुए देखा। वह राम-पादुकाओं के सामने बैठ, शासन के कार्य पादुकाओं की ओर से कर रहे थे। उनके पास कषाय वस्त्र धारण कर मन्त्री तथा प्रमुख पुरवासी बैठे थे। हनुमानजी ने प्रणाम कर भरत को राम के आने का जब सुखद समाचार सुनाया, तो वह खुशी से उछल पड़े और उन्होंने कहा, “मेरे अच्छे दिन आ गए; यह सत्य है कि यदि मनुष्य जीता रहे तो कभी न कभी उसके अच्छे दिन आ ही जाते हैं।” फिर उन्होंने हनुमानजी को अपने हृदय से लगा कर कहा, “भैया! इस प्रिय समाचार के सुनाने के बदले मैं आपको एक लाख गाय और सौ गाँव अपनी जागीर में से देता हूँ।” उसी समय उन्होंने नगर सजाने की आज्ञा अयोध्या में भिजवा दी। प्रातः लाखों लोग राम के स्वागत के लिए जमा हुए। भरत^२ भी अपने

१ क्रोशमन्ते त्वयोध्याया : ॥५०॥

२ भरतः पादुके न्यस्य शिरस्येव कृताञ्जलिः ॥७५॥

३ भरतः पादुके ते वै राघवस्य सुपूजिते ।

योजयामास रामस्य पादयोर्भक्तिसंयुक्तः ॥

सिर पर राम की पादुका उठाकर उनकी प्रतीक्षा करने लगे । इतने में विमान पृथ्वी पर उतरा, लाखों कण्ठ-ध्वनियों से निकली 'श्रीराम की जय' से आकाश गूँज उठा । भरत ने राम को प्रणाम कर वह खड़ाऊँ सिर से उतार उनके पैरों में पहनाते हुए कहा, "भैया ! अब आप अपना राज्य-भार सँभालिये' । चौदह वर्ष पूरे हो गए हैं ।"

(अध्यात्मरामायण, अयोध्याकाण्ड सं० ७)

राम-राज्य में भिखारिणी

एक दिन सीताजी ने श्रीराम से कहा, “आइये, ऊपर बैठकर नगर का अवलोकन करें।” श्रीरामचन्द्र सीताजी के साथ महल की ऊपर की मंजिल में बैठ भरोखे से सीताजी को नगर की शोभा अंगुली के संकेत से दिखलाने लगे। नगर में बड़ी चहल-पहल थी। लोग बड़े उत्साह से इधर-उधर हँसते-खेलते जाते-आते दीख रहे थे। आने-जाने वालों में एक भी ऐसा न था जिसने उत्तमोत्तम वस्त्राभूषण न पहन रखे हों। उन लोगों के बिना कहे ही उनकी चाल-ढाल तथा शक्ल-सूरत उनके प्रसन्न तथा सुखी होने की गवाही दे रही थी। प्रजा को इस प्रकार प्रसन्न तथा खुशहाल देख श्रीराम बड़े सन्तुष्ट थे। सीताजी भी खुशी से फूली न समाती थीं।

इतने में महारानी सीताजी की दृष्टि^१ एक ऐसी स्त्री पर पड़ी, जिसके शरीर पर गहने की कौन कहे, पहनने के पूरे कपड़े भी न थे। बेचारी ने अपना छोटा-सा नन्हा बच्चा अपनी कमर में बाँध रखा था। वह बड़ी कमजोर थी और नगर में भीख माँगती हुई घूम रही थी।

उसे वस्त्रालंकार-हीन तथा भीख माँगते देख सीताजी को बड़ा दुःख तथा आश्चर्य हुआ। उसी समय उन्होंने एक दासी भेज उसे अपने पास बुलाया। आज्ञा पाते ही दासी गयी और उसे अपने साथ लेकर सीताजी के सामने उपस्थित हुई। उसे सामने देख सीताजी ने पूछा, “तुम्हारे पास कपड़े-गहने क्यों नहीं?” यह सुन उस

दृष्टालंकारवस्त्राद्यैर्हीना कटिधृताभका ।

गच्छन्ती राजमार्गेण कृशाभिक्षार्थमुद्यता ॥

आनन्दरामायण, विलासकाण्ड, स० ६।२१

स्त्री ने निवेदन किया—“महारानी ! मेरे पतिदेव मुझे मेरे मैके छोड़ आप तीर्थ-यात्रा करने चले गए हैं । पिताजी मेरा पालन-पोषण करते थे, परन्तु वह वृद्ध थे, अब उनकी मृत्यु हो गई है । दूर अवन्ती के गुरुकुल में मेरे दो छोटे भाई तो हैं, पर वे अभी बहुत ही छोटे हैं । अब मेरे घर^१ में मेरा पालन करने वाला कोई नहीं । इसीलिए मेरे पास वस्त्राभूषण नहीं हैं ।”

श्री सीताजी ने श्रीराम की ओर देखा और फिर अपने^२ पास से उस स्त्री को गहने-कपड़े पहनने को देकर कहा, “देवी ! तुम लक्ष्मण के पास जाकर कहो कि वह मेरी आज्ञा से तुम्हें एक लाख^३ स्वर्ण-मुद्रा दे दें ।” “जो आज्ञा” कहकर वह ब्राह्मणी लक्ष्मणजी के पास गयी और महारानी सीता की वह आज्ञा सुना दी ।

लक्ष्मणजी ने श्रीजानकीजी के कथनानुसार उसे एक लाख मुद्रा दे दीं । उस ब्राह्मणी की बात पर लक्ष्मण को कोई सन्देह नहीं हुआ, क्योंकि श्रीरामचन्द्र के राज्य में किसी को झूठ^४ बोलने का साहस कैसे हो सकता था ? इसके पश्चात् सीता ने लक्ष्मण के पास एक दासी द्वारा यह कहला भेजा कि “मेरी इस आज्ञा का अयोध्या^५ के समस्त राज्य में ढिंढोरा पिटवा दो और सातों द्वीपों के सभी भिन्न-भिन्न देशों में अच्छी तरह कहलवा भेजो कि किसी भी राज्य में कोई स्त्री या पुरुष ऐसा न दिखायी दे जिसके शरीर पर पहनने लायक अच्छे वस्त्र तथा गहने न हों । हमारे गुप्तचर सर्वत्र यह देखने के लिए सदा घूमते रहेंगे । जिस देश वा जिस नगर में उन्होंने

१ न पोपकः कोऽपि गेहेऽधुना सीतोऽस्ति वै मम ॥२४॥

तस्मान्नसन्त्यलंकारवासांसि जनकात्मजे ॥२५॥

२ निजालंकारवासांसि ददौ तस्यै विदेहजा ॥२६॥

३ हेममुद्रालक्षमितास्त्वं गृहाण ममाज्ञया ॥२७॥

४ कः समर्थो रामराज्ये मृपां वक्तुं भवेदिति ॥३१॥

५ अयोध्यायां तथा राष्ट्रे घोषयामास दुन्दुभिः ।

सप्तद्वीपेषु सर्वत्र पृथग्वर्षेषु सादरम् ॥३२॥

कभी कोई स्त्री या पुरुष वस्त्राभूषण-हीन देखा है, यह मुझे मालूम हुआ, तो उस देश वा नगर के शासक को, मैं और राजा रामचन्द्र, कड़ा दण्ड देंगे ।

“मेरे इस आदेश को सुनकर सब राजा अपने-अपने खजाने के धन से वस्त्राभूषण बनवाकर अपनी-अपनी प्रजा के लोगों में बाँटते रहें ।” तदनुसार सातों द्वीपों के राजाओं ने गजदुन्दुभि द्वारा घोषित श्रीसीता की उस घोषणा को सुन-सुनकर पूर्णरूप से उस आदेश का पालन किया । तब से लेकर सीताजी के भय से संसार में कहीं भी कोई स्त्री-पुरुष ऐसा दिखायी नहीं देता था जो वस्त्राभूषणों से हीन हो । इस प्रकार राम-राज्य में कभी कोई भूखा-नंगा न रहता था ।

(आनन्दरामायण, विलासकाण्ड, स० ६)

६ काचिन्नारी पुमान् वापि विनासद्वस्त्रभूषणैः ॥
 दृष्टश्चारैर्मया ज्ञातो यद्देशे यत्पुरे कदा ।
 तद्राज्ञश्चाऽस्तु मे दण्डो रामस्याऽपि विशेषतः ॥३३॥
 इति मद्रक्षितं ज्ञात्वा स्वकोशे स्वीयराष्ट्रके ।
 वस्त्रालंकारभूषाभिर्भूषणीया द्विजादयः ॥३४॥
 वस्त्रालंकारहीनो वा तद्राष्ट्रे चापरेऽपि वा ।
 नारी वा पुरुषो वासीत् कुत्राप्यवनिजा भयात् ॥

—आनन्दरामायण, विलासकाण्ड, स० ६।३६

मेरे राज्य में विदेशी हस्तक्षेप न हो !

एक समय की बात है । प्रजापति ब्रह्माजी ने राजर्षि राजा रिपुञ्जय को प्रत्यक्ष दर्शन देकर कहा, “रिपुञ्जय ! तुम समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी के शासक बन उसका पालन करो । नागराज वासुकि तुमसे अपनी कन्या अनङ्गमोहिनी का विवाह कर देंगे । देवता भी तुम्हारे प्रजापालन से सन्तुष्ट होकर मेरे कहने से तुम्हें स्वर्गीय रत्न प्रदान करते रहेंगे । फिर ‘दिवो दास्यन्ति’ इस व्युत्पत्ति के अनुसार तुम्हारा नाम ‘दिवोदास’ हो जायेगा । पाताल के राजा से सम्बन्ध तथा देवों का कृपा-भाजन हो जाने के कारण और मेरे प्रभाव से तुम्हें दिव्य सामर्थ्य की प्राप्ति होगी ।”

ब्रह्माजी की बात सुनकर राजा रिपुञ्जय ने बड़ी नम्रता से कहा, “पितामह ! मनुष्यों से भरे हुए इस भूतल पर क्या दूसरे राजा नहीं हैं ? फिर मुझे ही ऐसी आज्ञा क्यों दी जा रही है ?” ब्रह्माजी ने कहा, “राजन् ! तुम राज करोगे तो इन्द्रदेव इस पृथ्वी पर ठीक समय पर वर्षा किया करेंगे । दूसरा कोई पापी राजा राज्य करेगा, तो ठीक समय पर वर्षा न होगी ।” राजा बोले, “महामान्य पितामह ! आप स्वयं ही तीनों लोकों की रक्षा करने में समर्थ हैं, तो भी आप मुझे जो यह यश दे रहे हैं, यह आपकी मुझ पर महान् कृपा है । अतः मैं आपकी आज्ञा शिरोधार्य करता हूँ । परन्तु मुझे भी कुछ आपसे निवेदन करना है यदि आप मेरी इस प्रार्थना को स्वीकार कर लेंगे, तो मैं भूतल का अकण्टक राज्य

१ पितामहा प्राज्ञ जनाकीर्णो महीतले ।

कथं नान्ये च राजानो मां कथं कथ्यते त्वया ॥ स्का० का० ३६।४५

करूँगा ।” ब्रह्माजी ने कहा, “राजन् ! तुम्हारे मन में जो बात है उसे शीघ्र कहो !”

राजा बोले—“पितामह^१ ! यदि मैं पृथ्वी का अधिपति होऊँ, तो देवलोक के निवासी देवगण अपने ही लोक में ठहरें, भूलोक में न आवें । जब देवता^२ देवलोक में रहेंगे और इस पृथ्वी पर निवास करूँगा, तब यहाँ अकण्टक राज्य होने से प्रजावर्ग को सुख की प्राप्ति होगी ।” ‘तथास्तु’ कहकर ब्रह्माजी ने जब उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली, तब राजा दिवोदास ने डंका बजाकर राज्य में यह घोषणा^३ करवा दी कि देवता लोग स्वर्ग को चले जायें और नागगण^४ भी यहाँ कभी न आयें । जिससे मनुष्य स्वस्थ एवं सुखी रहें । पृथ्वी पर मेरे राज्य-शासनकाल में देवता स्वर्ग में सुखी रहें और मनुष्य पृथ्वी पर स्वस्थ रहें, यही मेरी कामना है ।

ब्रह्माजी के वचनों के गौरव से शिव मन्दराचल पर चले गए । उनके चले जाने से सम्पूर्ण देवता भी अपने लोक में जा बसे । पृथ्वी से देव-समुदाय के चले जाने पर प्रतापी राजा दिवोदास ने यहाँ निर्द्वन्द्व राज्य किया । उन्होंने काशीपुरी में सुदृढ़ राजधानी बना धर्म-पूर्वक प्रजा का पालन करते हुए सबको उन्नतिशील बनाया । शक्ति-शाली दिवोदास का अपराध कभी नाग लोग भी नहीं करते थे । दानव भी मानव की आकृति धारण करके उनकी सेवा करते थे ।

१ यद्यहं पृथिवीनाथः सर्वलोकपितामह !

तदा दिविषदो देवा दिवि तिष्ठन्तु मा भुवि ॥४६॥

२ देवेषु दिवि तिष्ठत्सु मयि तिष्ठति भूतले ।

असपत्नेन राज्येन प्रजा सौख्यमवास्यति ॥४७॥

३ पटहं घोषणां चक्रे दिवं देवा व्रजन्त्विति ॥४८॥

४ माऽऽगच्छन्त्वहं वै नागा गृहे स्वस्था भवन्त्वितः ।

गुह्यक लोग सब ओर मनुष्यों में राजा के गुप्तचर बनकर रहते थे । राजा के विद्वान् कभी किसी सभा में पराजित न होते थे, तथा रण में डटे हुए उनके योद्धाओं को कभी किसी ने अस्त्र-शस्त्रों द्वारा परास्त नहीं किया था । उनके राज्य में कभी ऐसे लोग नहीं देखे गए, जो पदभ्रष्ट तथा दूसरों के द्वेष-भाजन हों । उस समय सब प्रजा अपने-अपने पद पर प्रतिष्ठित एवं सुखी थी । राजा दिवादास के राज्य में सभी गाँव ईति-भीति से रहित थे । कोई गाँव ऐसा नहीं था, जिसकी रक्षा के लिए राजकर्मचारी उत्सुक न हों । घर-घर में लोग कुबेर के समान धनी और दान करने वाले थे ।

इस प्रकार दिवोदास को राज्य करते बहुत समय हो गया, पर प्रजा का अपने पुत्रों की भाँति पालन करने वाले उस राजा रिपुञ्जय के राज्य में कभी थोड़ा-सा भी अन्याय वा अधर्म की बात नहीं हुई । राजा राजनीति-सम्बन्धी छः गुणों के परम ज्ञाता थे, इसलिए देवता उनके शासन में ढूँढ़ने पर भी नहीं कोई छिद्र निकाल सके । दिवोदास के राष्ट्रमण्डल में सभी पुरुष एकपत्नी-व्रती थे । स्त्रियों में कोई भी ऐसी नहीं थी जो पतिव्रता न हो । राज्य-भर में कोई ब्राह्मण ऐसा न था जिसने वेद-शास्त्र का अध्ययन न किया हो, सभी क्षत्रिय शूरवीर थे, वैश्य अर्थोपार्जन में कुशल थे, शूद्र नाना गिल्पों द्वारा देव-सेवा में तत्पर थे । राजा दिवोदास के राज्य में कोई सन्तानहीन, निर्धन, वृद्धों की सेवा न करने वाला वा अकाल-मृत्यु से मरने वाला नहीं था । और न ही कोई चञ्चल, वाचाल, वञ्चक, हिंसक, पाखण्डी, विधुर वा मदिरा बेचने वाला दिखायी देता था । सब ओर आनन्द-मंगल के गीत गाये जाते थे ।

मांस-भक्षी' ऋण लेने वाले और चोर भी उनके राज्य में नहीं थे । राज्य में सभी लोग हृष्ट-पुष्ट थे । राज्य के लोग देवोपासना को परम धर्म समझा करते थे ।

उस भूपाल के दोष ढूँढ़ने के लिए देवताओं ने बहुत चेष्टा की, किन्तु उन्हें कहीं भी कोई छिद्र नहीं प्राप्त हो सका । ऊपर से अपना-अपना कहते हुए भी ईर्ष्याविश इन्द्रादि देवताओं ने दिवोदास के राज्य-शासन को असफल बनाने के लिए अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित किये, किन्तु धर्मात्मा राजा दिवोदास ने अपने तपोबल से उन सब विघ्नों पर विजय प्राप्त की ।

(स्कन्दपुराण, काशी, खण्ड, अ० ३६)

सोमा-विवाद

भारत के पश्चिमी^१ समुद्र से पूर्व, मलयाचल से पश्चिम, श्री शैल से उत्तर और गन्धमादन गिरि से दक्षिण इस प्रकार तीन ओर पर्वतों से और चौथी ओर समुद्र से घिरे इस बीस कोस चौड़े तथा दो हजार कोस लम्बे भू-भाग पर दानव-राज शंखचूड़ ने यह कहकर सहसा कब्जा कर लिया, कि पहले कभी हमारे देश के सम्राट् बलि ने इस देश को जीता था। इस पर देवों का कहना था कि जब बलि को ही राज्यच्युत कर बन्दी बना, भारत से निर्वासित कर दिया गया, तो उसके सैकड़ों वर्ष बाद इस भूमि पर शंखचूड़ का अधिकार जतलाना हुज्जत के सिवाय और क्या हो सकता है ? असल में यह शंखचूड़ नहीं, उसका सैन्य-बल बोल रहा है। उसे अपनी सेना और शस्त्रों पर बड़ा गर्व है; किन्तु उसे मालूम होना चाहिए कि हम भी किसी से कम नहीं। शंखचूड़ युद्ध में मर कर तो भारत में भले रह जाय, परन्तु जीते-जी हम उसे यहाँ कभी न रहने देंगे।

इस विवाद का निपटारा करने के लिए देवों ने संहार के देवता रुद्र को नियुक्त किया। शिव ने भारत में आ पुष्पभद्रा नदी के तट पर डेरा डाल और पुष्पदन्त को दूत बनाकर शंखचूड़ के पास भेजा। पुष्पदन्त शंखचूड़ के दरबार में गया। वहाँ उसने राजा से कहा, “राजेन्द्र^२ ! मैं शिवजी का भृत्य हूँ। मेरा नाम पुष्पदन्त है। उन्होंने आपको जो संदेश दिया है, उसे ध्यान से सुनें। शंकर ने कहा है—

१. पश्चिमोदधिपूर्वे च मलयस्य च पश्चिमे । श्रीशैलोत्तरभागे च गन्धमादन-दक्षिणे । पंचयोजनविस्तीर्णा दैर्घ्ये शतगुणा तथा ॥

—देवीभागवतपुराण, ६।२।१५

२. राजेन्द्र ! शिवभृत्योऽहं पुष्पदन्ताभिधः प्रभो ! —देवीभागवतपु० २३।६।२०

‘तुम’ राज्य और यहाँ के सभी अधिकार इसी समय देवों को दे दो, उनका देश उन्हें देकर यहाँ से चले जाओ अथवा युद्ध के लिए तैयार हो जाओ ।’ वह इस समय पास ही पुष्पभद्रा नदी के किनारे डेरा डाले हुए हैं । महाराज ! बतलाइये, मैं आपकी ओर से उन्हें जाकर क्या उत्तर दूँ ?”

दूत की बात सुनकर शंखचूड़ हँसा और कहने लगा, “जाओ, उनसे कहो, प्रातःकाल मैं वहीं उन्हें मिलूंगा ।” यह सुन दूत चला गया ।

शंखचूड़ ने शिवजी के पास जाना तो स्वीकार कर लिया था, पर उसकी सुलह की इच्छा विलकुल न थी, इसलिए प्रातः सुलह करने शंकर के पास जाने से पहले उसने अपने सेनापति को बुलाकर युद्ध के लिए तैयार होने का आदेश दे दिया और अपने पुत्र को राजा बना स्वयं अपने सलाहकारों और साथियों के साथ विमान पर चढ़कर शंकर के पास चला गया ।

उधर दानव-राज की इस चेष्टा को गुप्तचरों से जान देवों के प्रधान सेनापति स्कन्द शंकर के पास पहुँच गए । और स्वयं भद्र-

१. यदुक्तं शंकरेणैव तद् ब्रवीमि निशामय ।
राज्यं देहि देवानामधिकारे च साम्प्रतम् ॥२४॥
२. विषयं देहि तेषां च युद्धं वा कुरु निश्चितम् ॥२६॥
३. गत्वा वक्ष्यामि किं शंभुमथ तद्वद मामपि ।
दूतस्य वचनं श्रुत्वा शंखचूड़ः प्रहस्य च ॥१७॥
४. प्रभातेऽहं गमिष्यामि त्वं च गच्छेत्युवाच ह ॥२८॥
५. भृत्यद्वाराक्रमेणैव चकार सैन्यसंचयम् ॥ ६।२१।१०
६. पुत्रं कृत्वा तु राजेन्द्रं सर्वेषु दानवेषु च ॥
७. रत्नेन्द्रसारनिर्माणविमानमारुरोह सः ।
गुरुवर्गान् पुरस्कृत्य प्रययौ शंकरान्तिकम् ॥१५॥
८. एतस्मिन्नन्तरे स्कन्द आजगाम शिवान्तिकम् ॥६।२०।२७

काली^१ भी आ पहुँचीं । शंखचूड़^२ जब अपने वायुयान^३ से अपने साथियों के साथ उतरा तो उसने सामने स्कन्द^४ और शिवजी के वाम भाग में खड़ी भद्रकाली को देखा । राजा और उसके सभी साथियों ने उन तीनों को झुककर प्रणाम किया और उन तीनों^५ ने भी राजा को आशीर्वाद दिया । शंखचूड़^६ को आया देख, नन्दीश्वरादि सब खड़े हो गए । फिर^७ दोनों पक्ष के राजनैतिकों ने आपस में शिष्टाचार की बातें कीं और राजा सबसे बातें कर शिवजी के पास जाकर बैठ गया ।

महादेव बोले, “महाराज शंखचूड़ ! शुरू से ही तुम्हारा वंश बहुत धार्मिक रहा है । तुम्हारे पिता दम्भ विष्णु के बड़े भक्त हैं । फिर वैष्णव^८ तो किसी को तंग नहीं करते । स्वार्थ तो उनमें लेश-मात्र भी नहीं होता । वैष्णव, ब्रह्मा से तिनके तक सभी छोटे-बड़ों को समान मानते हैं और वे परस्व के लाभों को तुच्छ समझते हैं । वैष्णव कभी किसी का कुछ छीनें या दबायें, यह तो हो ही कैसे सकता है ! वे तो लोक-सेवा के सिवाय भगवान् से प्राप्त चारों प्रकार की मुक्ति भी लेने को तैयार नहीं होते । उनकी दृष्टि में ब्रह्म-पद या इन्द्रासन किसी

१. स्वयं चाष्टभुजादेवी भद्रकाली भयंकरी ॥६॥२०॥३६

२. अवरुह्य विमानाच्च तं दृष्ट्वा दानवेश्वरः ॥२७

सर्वे सार्धं भक्तियुक्तः शिरसा प्रणनाम सः ।

३. वामतो भद्रकालीं च स्कन्दं च तत्पुरः स्थितम् ॥२८

४. आशिषं च ददौ तस्मै काली स्कन्दश्च शंकरः ।

५. उत्तस्थुरागतं दृष्ट्वा सर्वे नन्दीश्वरादयः ॥२९

६. परस्परं च भाषन्ते चक्रुस्तत्र च साम्प्रतम् ।

राजा कृत्वा च संभाषामुवास शिवसंनिधौ ॥

७. आब्रह्मस्तंबपर्यन्तं तुच्छं मेने च वैष्णवः ।

सालोक्यसार्ष्टिसायुज्यसामीप्यं च हरेरपि ॥३०

दीयमानं न गृह्णन्ति वैष्णवाः सेवनं विना ।

ब्रह्मत्वममरत्वं वा तुच्छं मेने च वैष्णवः ॥३१

इन्द्रत्वं वा मनुत्वं वा न मेने गणनासु च ॥३२॥४१

गणना में ही नहीं होते । वे बहुत ऊँचे और उदार हुआ करते हैं, परन्तु कृष्णभक्त^१ कहलाते हुए भी तुम देवों के देश को हथियाने की यह गलती कैसे कर रहे हो ? अच्छा, जो हो गया वह हुआ; अब मेरे कहने पर मेरी बात रखने के लिए तुम देवों^२ को यहाँ का राज्य दे दो, जिससे तुम अपने राज्य में सुखी रह सको और देवता अपने देश में प्रसन्न रहें । अरे, दूसरों से विरोध करना ठीक नहीं; फिर देव^३ तथा तुम तो दोनों कश्यप के वंशज होने से परस्पर भाई-भाई हो और जाति-द्रोह^४ से बढ़कर संसार में और कोई पाप नहीं । इसलिए ऐसा मत करो । तुम^५ यदि इस समय इस पर अपना क्रव्जा समझकर इसे लौटा देना अपनी संपत्ति^६ की हानि समझते हो तो भी यह समझकर दे दो कि सदा एक ही हालत किसी की नहीं रहती । अतः यह सम्पत्ति अब तुम्हारे पास अधिक देर तक नहीं रह सकेगी ।”

शंकर जब मौन हो गए तब राजा शंखचूड़ ने कहा—“वह^७ सभी ठीक है, पर फिर भी मुझे इस विषय में कुछ निवेदन करना है ।

“अभी आपने जाति-द्रोह^८ की जो बात कही, उसी पर विचार

१. कृष्णभक्तस्य ते किंवा देवानां विषये भ्रमः ॥४०

२. देहि राज्यं च देवानां मत्प्रीतिं रक्ष भूमिप ।
सुखं स्वराज्ये त्वं तिष्ठ देवास्तिष्ठन्तु वै पदे ।

३. अलं भूतविरोधेन सर्वे कश्यपवंशजाः ।

यानि कानि च पापानि ब्रह्महत्यादिकानि च

४. जातिद्रोहस्य पापस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥४२

५. स्वसंपदां च हानिं च यदि राजेन्द्र मन्यसे ॥४३

सर्वाविस्था च समतां केषां याति च सर्वदा ॥४४

६. त्वया यत्कथितं देव ! नान्यथा वचनं स्मृतम् ।

तथापि किञ्चिद् याथार्थ्यं श्रूयतां मन्निवेदितम् ॥६४

७. जातिद्रोहे महत्पापं त्वयोक्तमधुना च यत् ।

गृहीत्वा तस्य सर्वस्वं कुतः प्रस्थापितो बलिः ॥ देवीभाग० १।२१।६८

कीजिये। जिन्हें आप हमारे जाति-भाई कह रहे हैं, उन्होंने बलि के साथ वही किया, उसका सर्वस्व छीनकर उसे यहाँ से कहाँ भेज दिया ! मैं उसी अपने ऐश्वर्य को फिर उनसे वापस ले रहा हूँ। उनकी भूमि नहीं दबा रहा। और देखिये यदि कश्यप के वंशज भाई-भाई हैं तो आपके इन देवों ने अपने भाई हिरण्यक्ष को क्यों मार डाला ? असल में सत्य यह है, कि यह विश्व परमात्मा की प्रकृति का खेल है। परमात्मा जिसे ऐश्वर्य देता है वह उसी का हो जाया करता है। जब मुझ में बल है तब मैं उससे लाभ क्यों न उठाऊँ ?”

शंकर बोले, “यदि तुम इस प्रदेश पर से हटना नहीं चाहते और उस आक्रमणकारी बलि को इस देश का स्वामी समझते हो, तो बहुत बातें करने से क्या लाभ ? तब तुम मुझ से युद्ध करने को तैयार हो जाओ !” शंखचूड़ उठकर शंकर को प्रणाम करके अपने अमात्यों के साथ विमान पर चढ़कर अपनी राजधानी को चला गया। देव-दानव दोनों पहले से ही युद्ध के लिए तैयार बैठे थे। सन्धि-चर्चा के असफल होते ही दोनों सेनाएँ मैदान में उतर आईं। देवों को मालूम था कि दानवों के पास दिव्यास्त्र हैं। दिव्यास्त्रों का दर्पशमन दिव्यास्त्रों से ही किया जा सकता है। इसलिए वे भी १. वैष्णवास्त्र २. वारुणास्त्र ३. वाह्मेय ४. नागपाश ५. नारायणास्त्र ६. गांधर्वास्त्र ७. ब्राह्मास्त्र ८. गारुडास्त्र ९. पार्जन्यास्त्र १०. पाशुपतास्त्र ११. जृम्भणास्त्र १२. पार्वतास्त्र १३. माहेश्वरास्त्र १४. वायव्य १५. दण्डास्त्र १६. संमोहनास्त्र १७. अव्यर्थास्त्र—ये सब दिव्यास्त्र सैकड़ों की संख्या में ले आये। दिव्यास्त्र प्रलयंकर होने से बुरे तो हैं, यदि युद्ध में वे एक पक्ष के पास हों। यदि वे दोनों सेनाओं के पास हों, तो फिर वे शत्रु के दिव्यास्त्र शमन कर संसार के रक्षा-कार्य में प्रयुक्त किये जा सकने के कारण विश्व-शान्ति के रक्षक का काम देते हैं। (जैसे इस युग में विज्ञान का आविष्कार ऐटम बम कुछ वर्ष पहले जब केवल अमरीका के पास

था, तो उसने उसे जापान में फेंक उस देश की महान् हानि की । परन्तु अब जब वह अन्य राष्ट्रों के पास भी हो गया, तो अब वही विश्वशान्ति में सहायक हो रहा है । उसी के भय से मतों में परस्पर द्वेषाग्नि रखते हुए भी कई शक्तिशाली राष्ट्र एक-दूसरे से युद्ध का नाम न ले शान्ति चाह रहे हैं ।) यही समझ उस समय देव दिव्यास्त्र युद्ध में ले गए और भद्रकाली देवी अपने वायुयान पर बैठ वहाँ आ गई । खूब युद्ध हुआ ।

पहले दानवों ने देवों^१ के पैर उखाड़ दिए । जब वे भाग रहे थे तो उनका सेनापति स्कन्द^२ युद्धस्थल में पहुँच गया । उसके आते ही युद्ध का पाँसा पलट गया । दानव हारने तथा भागने लगे । यह देख शंखचूड़ वहाँ पहुँचा और उसने अपने विमान^३ में बैठ देवों की सेना पर आकाश से पत्थरों, सर्पों और वृक्षों की झड़ी लगा दी । स्कन्द ने दिव्यास्त्र से उन सब को काट डाला । तब उसने स्कन्द पर दिव्यास्त्र चला उसकी सवारी^४ को निकम्मा कर दिया और अग्न्यास्त्र से रण में

१. वैष्णवास्त्रं वारुणास्त्रं बाह्यं यं नागपाशकम् ॥४१
नारायणास्त्रं गांधर्वं ब्रह्मास्त्रं गारुडं तथा ।
पार्जन्यास्त्रं पाशुपतं जृम्भाणास्त्रं च पार्वतम् ॥४२
माहेश्वरास्त्रं वायव्यं दण्डं संमोहनं तथा ।
अव्यर्थमस्त्रकं दिव्यं दिव्यास्त्रशतकं परम् ॥४३
रत्नेन्द्रसारनिर्माणविमानोपरि संस्थिता ॥६।२०।४४

१. देवाश्च दुद्रुवुः सर्वे भीताश्च क्षतविग्रहाः ।
चकार कोपं स्कन्दश्च देवेभ्यश्चाभयं ददौ ॥
२. स्कन्दस्य शरजालेन दानवाः क्षतविग्रहाः ।
भीताश्च दुद्रुवुः सर्वे महारणपराक्रमाः ॥२०
३. राजा विमानमारुह्य चकार बाणवर्षणम् ।
पर्वतानां च सर्पाणां शिलानां शाखिनां तथा
नृपश्चकार वृष्टिं च दुर्वारां च भयंकरीम् ॥२७

४. मयूरं जर्जरीभूतं दिव्यास्त्रेण चकार सः ॥ दे० भा० ६।२२।३०

आग लगा दी । परन्तु स्कन्द^१ उसी समय वायुयान में बैठकर गया और उसने दिव्यास्त्र द्वारा लगायी आग को पार्जन्यास्त्र^२ से बुझा डाला ।

इधर स्कन्द पर दिव्यास्त्र-प्रहार होते देख काली^३ ने दानव-सेना पर बहुत भयंकर आग्नेयास्त्र छोड़ा, पर शंखचूड़^४ ने उसे बड़ी आसानी से पार्जन्यास्त्र से ठंडा कर दिया । तब काली^५ ने वारुणास्त्र चलाया, राजा शंखचूड़^६ ने उसे भी गांधर्वास्त्र से बेकार कर दिया । काली ने माहेश्वरास्त्र^७ चलाया, राजा^८ ने वैष्णवास्त्र से वह भी नष्ट कर दिया । फिर काली ने राजा पर नारायणास्त्र छोड़ा, तब राजा रथ से नीचे उतर पहले झुका और फिर सीधा लेट गया, अतः वह उसके ऊपर से निकल गया । काली ने फिर ब्रह्मास्त्र चलाया, राजा ने भी ब्रह्मास्त्र चला उसको काटकर निकम्मा कर दिया । फिर देवी ने एक और दिव्यास्त्र चलाया, उसे भी शंखचूड़ ने शान्त कर दिया । अब दिव्यास्त्रों से दोनों ने काम चलते न देख साधारण शस्त्रों से लड़ाई शुरू की । इस लड़ाई में दानव बहुत मारे गए । साधारण शस्त्रों से मार खा दानव-सेनानी फिर आकाश से युद्ध करने लगे । अब देवी ने विमान द्वारा आकाश में जा पाशुपतास्त्र द्वारा बहुत-से दानवों को मार डाला । इतने में स्वयं शिव विमान पर बैठ वहाँ आये और शंखचूड़ से युद्ध करने लगे । फिर शिव और शंखचूड़ भूमि पर आकर लड़े और तभी

१. रसेन्द्रसारनिर्माणयानमारुह्य कार्तिकः ॥३२

२. वह्निर्निर्वापयाभास पार्जन्येन प्रतापवान् ।

३. काली चिक्षेप वह्निश्च प्रलयाग्निशिखोपमम् ।

४. राजा निर्वापयामास पार्जन्येन च लीलया ॥४८

५. चिक्षेप वारुणं सा च तीव्रं च महदद्भुतम् ।

६. गांधर्वेण च चिच्छेद दानवेन्द्रश्च लीलया ॥४९

७. माहेश्वरं प्रचिक्षेप काली वह्निशरोपमम् ।

८. राजा जघान तं शीघ्रं वैष्णवेन च लीलया ॥ दे० भा० ६।२२।५०

शिवजी ने त्रिशूल से शंखचूड़ को मार डाला । उसके मरते ही दानव भागे और देव उन्हें पकड़ने दौड़े । जो दानव पहले लड़ाई के लिए बड़े शेर बने बैठे थे, अब वे भीगी बिल्ली की तरह भागने और सुलह की प्रार्थना करने लगे । उन्होंने कहा—“हमने अपने अनुभव से देख लिया, लड़ाई बड़ी बुरी चीज है ।” शंखचूड़ के साथी जो एक दिन पहले सुलह से नाक सिकोड़ते थे, आज देवी से कहने लगे, “यह ठीक है कि लालची लोग अपने-अपने लाभ के लिए आपस में लड़ते हैं । परन्तु शान्ति युद्ध से नहीं, सदा सुलह से होती है ।

“सच यह है कि संसार में युद्ध^१ बहुत ही दुःख देने वाली वस्तु है । बुद्धिमानों को चाहिए कि युद्ध कभी न करें । दूसरों को फूलों^२ से मार कर भी युद्ध करना बुरा है । फिर तेज शस्त्रों की तो क्या बात ही क्या है ! भला अपने शरीरों को काटना किसकी प्रसन्नता का कारण होता है ! इसलिए परस्पर के भगड़े, लड़ाई से नहीं, सुलह से निपटाओ ।”

(देवीभागवत, स्कन्द ६, अ० २२)

१. संसारे दुःखदं युद्धं न कर्तव्यं विजानता ।

लोभाऽऽसक्ताः प्रकुर्वन्ति संग्रामं च परस्परम् ।

२. पुष्पैरपि न योद्धव्यं किं पुनर्निशितैः शरैः ॥६१

भेदनं निजगात्राणां कस्य तज्जायते मुदे ॥ दे० भा० ५।११।६१

गन्धर्व-दमन

शैलूष के नेतृत्व में गन्धर्वों ने सिन्धु^१ नदी के तट पर बसनेवाले मनुष्यों पर आक्रमण किया और उन्हें मार, देश को उजाड़, सिन्धु नदी के आर-पार दोनों ओर अपनी बस्तियाँ बसा लीं। वहाँ से वे आस-पास के राज्यों^२ पर छापे मार छोटे-छोटे राजाओं को तंग करने लगे। यह देख केकय देश के राजा युधाजित् ने अपने बूढ़े पुरोहित गार्ग्य को दूत बना, महाराज रामचन्द्र के पास अयोध्या में यह सन्देश भेजा—“नरेन्द्र राम^३ ! सिन्धु नदी के दोनों तटों के मनोहर देश में बसनेवाले मनुष्यों को मार कर वहाँ गन्धर्व आ बसे हैं। लक्ष्मण, भरत व शत्रुघ्न को वहाँ भेज गन्धर्वों का दमन कीजिये। जिससे आपके^४ उस देश की रक्षा हो और वहाँ शासक निर्भय होकर रहें।” यह सन्देश पा, श्रीराम के मन में आया कि लंका के राक्षस मेघनाद को मार लक्ष्मण बहुत बड़ी ख्याति पा चुका है। शत्रुघ्न ने भी मथुरा में लवणासुर को मार खूब नाम पाया है। परन्तु अभी तक भरत की वीरता जनता पर प्रकट नहीं हुई। इसलिए उसे ही गन्धर्व-दमन के लिए भेजता हूँ। यह सोच राम ने भरत को कहा—“वत्स ! गार्ग्य जी के साथ अभी राजगृह में जाओ और अपने मामा को

१. सिन्धोरुभयकूलेषु देशमुत्साद्य ते तदा ।

हत्वा मानुजांस्तत्र निवसन्ति गतव्यथाः ॥५

२. उत्सादयन्तो राष्ट्राणि राज्ञां विप्रियकारकाः ॥६

३. सिन्धोरुभयकूलेषु राम ! देशो मनोहरः ।

हत्वा रणे मनुष्येन्द्र ! गन्धर्वैर्विनिवेशितः ॥४

४. राजानो निर्भयाः सन्तु देशश्चास्तु तथा तव ।

साथ ले उस विदेशी आक्रमणकारी शैलूष को मार व भगाकर अपने देश की रक्षा करो ।” आज्ञा पाते ही वीर भरत मारे हर्ष के फूल उठा । उसके वीरोत्साह को देख केवल मनुष्य ही नहीं, देवता भी भरत के गुणों की प्रशंसा करने लगे । सभी कहते—“भरत का क्या कहना ! राम के वन में रहते इसने^१ जो कर दिखाया है, वैसा करनेवाला संसार में तो क्या, स्वर्ग में भी नहीं मिलेगा । लोग प्रभुत्व पाने के पीछे मरते फिरते हैं; परन्तु इसने इतने बड़े राज्य^२ को, आग से जल रहे घर की तरह, यह कहकर छोड़ दिया, कि बड़े भाई के राज्य को लेनेवाला मैं कौन होता हूँ ! राम के वनवास के दिनों पूरे १४ वर्ष यह सुख की नींद^३ नहीं सोया । सुख के सामान के बिना राम को वन में रहना पड़ रहा है—यह सोच सभी ऐश्वर्य^४-भोगों के पास रहते भी यह श्रीराम की ही भाँति लम्बी जटा बढ़ा, कन्दमूल खा, श्रीराम के इस राज्य की रक्षा कर प्रजापालन करता रहा है ।” इधर ये बातें हो रही थीं, उधर भरत को आज्ञा देने के अनन्तर श्रीराम ने लक्ष्मण को आदेश दिया, “लक्ष्मण ! भरत की चतुरंगिणी सेना के साथ बहुत-से विष-चिकित्सक^५, शल्य-चिकित्सा के विशेषज्ञ तथा शारीर-चिकित्सा करनेवाले वैद्यों को भेजो । कलाकार, कारीगर, राज, लुहार, तरखान, मार्गदर्शक और वृक्ष बोने वाले भी साथ हों !” राम-आज्ञा से सेना उसी दिन तैयार होकर चली । सेना के

१. अनेन यत्कृतं कर्म रामे वनमुपागते ।

न तस्य कर्ता लोकेऽस्मिन् दिवि वा विद्यते क्वचित् ॥३२

२. अनेन राज्यं संत्यक्तं गृहं दग्धमिवाऽग्निना ।

३. अनेन दुःखशय्यासु शयितं सुमहात्मना ॥३३

४. नित्यमासन्न-भोगेन जटा-वलकल-धारिणा ।

फलमूलाशिनानेन रामराज्यं हि पालितम् ॥१०२॥३४

५. विषवैद्याः शल्यवैद्यास्तथा कायचिकित्सकाः ।

कर्मान्दिस्थपतयो मार्गिणो वृक्षरोपकाः ॥१०३॥३६

कर्मन्देन प्रोक्तं सूत्रमधीते चेति कर्मन्दी (राजनैतिकः) ।

वाद्यों ने अभियान-स्वर निकाला । राज्य के झण्डे का पूजन कर भरत घोड़े पर सवार हो, राज-सभा की ओर चले । सभा के पास पहुँच घोड़े से उतरकर वह राज-दरबार में गये और उन्होंने सिंहासन पर विराजमान राम को पृथ्वी से माथा^१ लगाकर दण्डवत् प्रणाम किया । श्रीराम ने सिंहासन से झट उतर, उठाकर भाई को गले लगाते हुए कहा—“वत्स ! गन्धर्वों^२ को मार भगाओ । वे फिर कभी हमारे देश पर आक्रमण का उत्साह न कर सकें, इसके लिए सिन्धु नदी के इस और उस पार दो नगर बसाकर इधर तक्ष का और उधर पुष्कर का देश-रक्षा के लिए अभिषेक कर लौटना । मैं तुम्हें क्षात्र^३ धर्म का पालन करने भेज रहा हूँ ।” यों कह भरत को हाथी पर चढ़ाया गया । भरत के सम्मानार्थ लक्ष्मण^४ प्रेमवश छत्र लेकर उसके पीछे बैठ उसे विदा करने चला । आगे-आगे यान का बाजा बजने लगा । लोगों ने राज-पताका के पीछे सेना की जाते देखा । देश-सेवा के लिए युद्ध में साथ चलने की उत्कट इच्छा रखनेवाले नागरिकों को अयोध्या वापस भेजने के लिए भरत को अयोध्या नगरी की सीमा से बाहर एक कोस चलकर रात्रि-विश्राम के लिए पड़ाव डालना पड़ा । वहाँ से लोगों को भरत ने बड़ी कठिनता से लौटाया और लक्ष्मण भी भाई के गले लग वहीं से वापस लौट आया ।

इन सबके चले जाने पर भरत ने अपने सेनापति विजय को आदेश दिया कि “एक सैनिक टुकड़ी को आज्ञा दे कर, इसी समय आगे भेजो । वह ऊबड़-खाबड़^५ मार्ग को ठीक करती, मार्ग रोकने

१ दृष्ट्वा तं भरतः श्रीमान् जगाम शिरसा महीम् ॥२०४॥७

२ गन्धर्वपुत्रांस्तान् हत्वा कर्तव्यं नगरद्वयम् ।

सिन्धुयोरुभयपार्श्वेतु पुत्रयोरुभयोः कृते ॥२०४॥१०

३ क्षात्रधर्मं पुरस्कृत्य तत्र त्वं प्रेषितो मया ॥१२

४ छत्रमादाय तं प्रेम्णा चारुरोह सलक्ष्मणः ॥२०४॥२६

५ द्रुमाः कण्टकिनश्चैव ये च मार्गप्ररोधकाः ॥४३

छिन्दन्तु गत्वा तानद्य तीक्ष्णैः शीघ्रं परश्वधैः ।

वाले कँटीले वृक्षों को काटती, नदियों पर रास्ता बनाती, जहाँ जल नहीं वहाँ कूप खोदती और सेना के ठहरने के पड़ावों का प्रबन्ध करती आगे चले ! ” आदेश पाते ही पुरोगामी सैनिक मार्ग का प्रबन्ध करने चल दिए ।

प्रातःकाल होते ही सेना में अभियान-दुन्दुभि वजी, फिर भट सामान^१ ऊँटों, गदहों, बैलगाड़ियों और हाथियों पर लाद सेना भी चल पड़ी । भरत आज पालकी^२ में सवार हुए । सेना के आगे ‘भण्डा’^३ राम-सेना के आगमन की सूचना देता चला । भरत-सेना के सभी चिकित्सालय^४ तथा औषधि-भण्डारों पर ‘कल्याण-गृह’^५-सूचक ध्वजा फहरा रही थी । इस प्रकार बड़े ठाठ से चलती सेना गंगा-तट पर जा पहुँची । वहाँ पहुँचते ही नौकाध्यक्ष को आज्ञा हुई, “अभी सभी नौकाएँ यहाँ लाओ^६ और इसी समय सेना गंगा-पार हो जाय ! ” आदेश पाते ही वहाँ कई नावें आ पहुँचीं । अनेक चमड़े^७ की नावें वहाँ फुलाकर बनायी गई तथा सैकड़ों भण्ड^८ बने । फिर कोई नाव सामान से लदी, कोई पुरुषों से भरी, कई घोड़ों, बैलों, गदहों और

तोयहीनेषु देशेषु कूपा कुर्वन्तु ये तथा ।

विषमांश्च तथा देशान् समा कुर्वन्तु मे पथि ॥ २०४।४५

१ ततस्त्वं रोपयां चक्रुः करभेषु खरेषु च ।

गोरथेषु तु मुख्येषु तथा दन्तिषु सत्त्वराः ॥५

भाण्डमुच्चावचं चैव शयनानि मृदूनि च ॥६

२ भरतोऽपि समारुह्य शिविकां रत्नभूषिताम् ॥१६

३ सपताकं नरा दृष्ट्वा प्राप्तः स्म इति मेनिरे ॥३५

४ स्थानानि सर्ववैद्यानां सध्वजानि नराधिप ॥५४

सागदानि च दृश्यन्ते कटके भरतस्य तु ॥ २०५।५७

५ कल्यं नीरुजत्वमाणायतीति कल्याणं, तस्य गृहं औषधालयम् ।

६ आनीयतां तथा नावः सैन्यस्य तरणाय वै ॥८

७ क्रियतां चर्म नावश्च प्लवाश्च शतशस्तथा ॥१०

८ भाण्डैः पूर्णस्तथा काचित् काचित्पूर्णा जनेन च ।

तुरङ्गमैस्तथापूर्णा गोखरोष्ट्रैस्तथा पराः ॥ वि० ध० पु० २०६।२५

ऊँटों से भरी पार जाने लगीं । कुछ लोगों ने हाथियों^१ पर चढ़ गंगा पार की और कुछ हाथी नावों पर चढ़ गंगा पार हुए । नदी पार कर सेना ने पड़ाव डाला और रात्रि में डोनों में दीप जलाकर गंगा-जल पर प्रवाहित किये । दूसरे दिन सेना के यमुना^२ पार करते ही अगवानी के लिए आये तीन राजा (मत्स्यों का राजा सुरथ, साल्वों का गोरसेन और शिवियों का प्रभद्रक) भरत को मिले और वे उसे कुरुक्षेत्र ले आये ।

वहाँ से चल व्यास पार^३ कर उसके कटक ने कुणि देश^४ में प्रवेश किया । वहाँ उसके स्वागत के लिए आया त्रिगर्तो^५ का राजा वसुधान, कुल्लू का अधिपति जय, तथा दाशेरकों^६ का राजा गोवाशन मिले । इनके साथ भरत ने रावी^७ पार कर डेक^८ (देविका नदी) के किनारे डेरा डाला ।

वहाँ उसे अपनी पदाति सेना के साथ^९ पहाड़ी राजा कुमार,

१ काचित् कुञ्जरानावो ययुः पारं तदापरम् ॥२०६॥२५

२ समुत्तीर्णस्य यमुनां भरतस्य महात्मनः ।

विवेश कटकं राजा मत्स्यानां सुरथस्तदा ॥१२

गोरसेनश्च साल्वानां, शिवीनां च प्रभद्रकः ।

सर्वैर्नृपतिभिः सार्धं कुरुक्षेत्रमुपाययौ ॥२०७॥१३

३ विपाशां च समुत्तीर्णे भरते धर्मवत्सले ।

४ विवेश कटकं तस्य कुणिदेशे महोदयः ॥१५

५ त्रैगर्तो वसुधानश्च, कुलूताधिपतिर्जय ।

६ दाशेरकस्तथा राजा गोवाशन इति श्रुतः ॥५२

७ इरावतीं शीघ्रगमां भरतोऽपि तदा ययौ ।

८ उत्तीर्यतां ययौ शीघ्रं देविकां पापनाशिनीम् ॥५५

९ भरते चाथ तत्रस्थे विविशुः पञ्च पार्थिवाः ॥५७

पर्वतीया महाराजा पदातिगणसंकुलाः ।

कुमारः श्रेणिमाञ्छूरो वसुबन्धु सुयोधनः ॥५८

मद्राजोऽशुमानश्चतथैव च महाबलः ।

श्रेणिमान्, वसुबन्धु, सुयोधन तथा मद्र देश का राजा अंशुमान् ये पाँच राजा मिले । स्यालकोट (शाकल) के रहने वाले मद्रदेश^१ के राजा ने भरत का बड़ा भव्य स्वागत किया । तीन^२ दिन वहाँ विश्राम करने के अनन्तर भरत-सेना ने चनाब पार की । उस जगह उसे श्रुतंजय^३, अभिसार देश का राजा कृतंजय और काश्मीर-नरेश^४ सुबाहु मिले । भरत ने उनके साथ जेलम^५ नदी पार की । फिर सुदामा प्रान्त की सुदामा^६ नदी पार कर भरत ने केकय देश^७ में प्रवेश किया ।

भरत का आना सुन उसका मामा युधाजित् अपनी समग्र सेना के साथ उसकी अगवानी के लिए आया । राजगृह नगर के समस्त लोगों ने देश-त्राता भरत का नगर से बाहर आकर स्वागत किया । वीर भरत यहाँ पहुँच गए । वह इस राजमार्ग से राजप्रासाद में जायेंगे— यह समाचार सुन, जिनके घर राजमार्ग से दूर थे, वे सभी स्त्रियाँ अपने घरों को खाली छोड़-छोड़कर उस देशरक्षक वीर को देखने के लिए राजमार्ग के दोनों ओर खड़ी हो गई । उस समय^८ राजमार्ग पर के मकानों को छोड़ समस्त नगर विल्कुल खाली हो गया और राजमार्ग के दोनों ओर स्त्रियों^९ की भीड़ लग गई ।

इधर, जिनके घर राजमार्ग पर ही थे, वे स्त्रियाँ भी घरों^{१०} के और सभी काम छोड़कर वीर भरत के दर्शनों के लिए बड़ी त्वरा

१ पूजितो मद्रराजेन शाकलेन नरोत्तमः ॥५६

२ त्रिरात्रमुपितः श्रीमांश्चन्द्रभागां नदीं ययौ ॥६०

३ एकच्छ्रुतंजयः श्रीमानभिसारः कृतंजयः ॥६२

४ काश्मीरेशश्च धर्मात्मा सुबाहुरिति विश्रुतः ।

५ आससाद स तैः सार्द्धं वितस्तां तु महानदीम् ॥६३

६ भरतस्तां समुत्तीय सुदामां चैव निम्नगाम् ॥ २०५।६५

७ आससाद महातेज कैकेयान् यदुनन्दन !

८ राजमार्गादिपाकृष्ट - शून्यसर्वनिवेशनम् ।

९ योषिद्वृन्दसमाक्रान्तं राजमार्गं महागृहम् ॥२०६।८

१० गृहकार्याणि संत्यज्य ययु नार्यो गवाक्षकान् ।

से तैयार हो रहीं थीं। किन्तु 'देशरक्षक की जय !' यह जय-घोष सुनते ही कई अंगराग^१ लगा रही थीं तो वे आधे ही अंगों पर अनु-लेप किये, कोई सुरमा डाल रही थी तो वह एक ही आँख में सुरमा डाले, बाल^२ सँवारने वाली आधे सँवरे तथा बिखरे बालों को लिये और कई अधूरा जूड़ा किये, अपने-अपने झरोखों से झाँकने लगीं। किसी ने बिना देखे जल्दी से एक^३ पाँव में खड़ाऊँ तथा दूसरे में चप्पल डाल भागना प्रारम्भ किया और कई पहले झरोखा^४ रोक कर खड़ी स्त्रियों को धक्का दे यह कहकर लड़ने लगीं, 'क्या तुम ही देखोगी, या और किसी को भी देखने दोगी ?' कुछ अन्य^५ स्त्रियों को झरोखों की ओर जाते देख उनसे पहले पहुँचने के लिए नंगे पाँव ही झरोखों की ओर दौड़ चलीं। इस प्रकार बड़े सम्मान तथा समारोह के साथ भरत ने राजा के राजगृह में प्रवेश किया।

इस विचार के लिए कि शत्रु पर कब तथा कैसे आक्रमण किया जाय, रात को वहाँ एक सभा हुई, उसमें उस प्रदेश के अनेक राजा बैठे। युधाजित् ने कहा, "मेरे विचार से तो रात^६ को आक्रमण कर, सोये शत्रु को सदा के लिए सुला देने में ही हमारी भलाई है।"

इस पर अयोध्या सरकार के युद्ध-परामर्शक कालविद् ने कहा, "राजन् ! सुभीता भले ही हो, किन्तु सोतों पर आक्रमण करना तो छद्म-युद्ध हुआ। मेरी सम्मति से तो दिन के समय ही युद्ध करना

१ काश्चिदधानुलिप्तांगाः काश्चिदेकाञ्जितेक्षणः ॥६

२ केशैः संयमितैरर्धैः काश्चिदधनिवेशितैः ।

३ एकस्मिंश्चरणे काचित् गृहीत्वा काष्ठपादुका ॥१०

त्वरिताशा ययुर्नार्यो द्वितीयं चर्मपादुकाः ।

४ तथापराः समाक्षिप्य पूर्वाक्रान्तगवाक्षकाः ॥१२

५ व्रजन्तीषु तथान्यासु काश्चिन्नार्यो गवाक्षकान् ।

वेगवत्यो ययुः शीघ्रं संत्यक्त्वा चर्मपादुकाः ॥२०६॥१३

६ तत्र यावन्न जानन्ति गन्धर्वास्ते त्वदागमम् ।

अवस्कन्देन तानद्य तावद्रात्रौ जहि प्रभो ॥६६

ठीक होगा, हम अवश्य जीतेंगे ।” गार्ग्य बोले, “राजनैतिक युद्ध को पहला नहीं, अन्तिम उपाय समझते हैं । इसलिए पहले एक दूत^१ भेज कर हमें गन्धर्वों को अपनी बात कहनी चाहिए कि वे हमारा^२ देश छोड़कर हिमालय के उस पार अपने देश में चले जायें ; क्योंकि जिस जगदीश्वर^३ ने इस संसार को बनाया है, उसी ने बीच में हिमालय डालकर दो देशों की यह प्राकृतिक सीमा बना दी है । क्योंकि यह देश गन्धर्वों का नहीं, मनुष्यों^४ का है, इसलिए तुम्हें यह शीघ्र छोड़ देना चाहिए ।” यह सुन भरत ने कहा, “पुरोहितजी, आपकी बात मैंने मान ली, इसलिए आप अभी जाइये और शैलूष को समझाइये; परन्तु मामा की बात मानने में मैं सर्वथा असमर्थ हूँ, क्योंकि रघुवंशी सदा ही सत्य के पक्षपाती रहे हैं ।^५ किसी के साथ धोके से युद्ध करना हमने आज-तक कभी सीखा ही नहीं । इसलिए धोखे से नहीं, अपितु युद्ध-नियमों^६ के अनुसार आमने-सामने लड़कर ही मैं शैलूष को मारूँगा ।” इस निश्चय के अनुसार गार्ग्य दूत बनकर गन्धर्व नगर में गया । वहाँ उसने शैलूष को समझाना चाहा, पर उसने उसकी एक न सुनी । गार्ग्य वहाँ से निराश हो लौटा और आकर उसने भरत से कहा—“मैंने^७ अपनी सभी बातें शैलूष को सुनायीं, पर वे उसे अच्छी नहीं लगीं, अतः वह सुलह नहीं, लड़ाई^८ चाहता है ।”

१ रात्रौ जागरणश्रान्ते छद्मयुद्धं विधीयते ॥७१

विजयश्च दिवा युद्धे भरतस्य प्रदृश्यते ॥७२

२ आदौ दूतेन वक्तव्यं गन्धर्वाणां प्रयोजनम् ॥७३

यथा देशमिमं त्यक्त्वा व्रजध्वं तुहिनाचलम् ।

३ गन्धर्वाणां निवासस्तु हिमवत्यचलोत्तरे ॥७४

पूर्वमेव कृतस्तेन येनेदं निर्मितं जगत् ।

४ स्थानमेतत् मनुष्याणां त्यक्तुमर्हथ मा चिरम् ॥७५

५ राघवा सत्यसन्धास्तु कूटयुद्धं न शिक्षिताः ।

६ तस्मात्तेषां वधः कार्यः सुयुद्धेन मया नृप ॥ ७६

७ ततो वाक्यानि सर्वाणि शैलूषः श्रावितो मया ॥७७

८ न तानि तस्य रोचन्ते संग्रामस्तस्य रोचते ॥ वि० ध० पु० २११।६५

गार्ग्य को बात सुनते ही भरत ने सेना को आक्रमण करने की आज्ञा दी और वह एकान्त^१ में बैठ अपने गुप्तचरों की बातें सुनने लगा ।

उधर गार्ग्य के चले जाने के बाद राजा का भुकाव युद्ध की ओर देख, गन्धर्व-सभा में भी बड़े रोष तथा जोश में भाषण दिये गए । जिन सब का अभिप्राय प्रायः एक ही था, कि भरत ने युद्ध की धमकी दे हमारा बड़ा अपमान किया है । वह हमें निर्बल समझता है । अतः उससे अवश्य ही युद्ध करना चाहिए । यह सब सुन राजपुरोहित 'नाडायन' ने शैलूष से कहा—“राजन् ! यह ठीक है कि राजाओं के परस्पर भगड़े निपटाने के लिए युद्ध भी एक उपाय है । परन्तु साम, दाम, भेद, इन तीनों उपायों के पूर्णतया असफलता हो जाने पर विवश^२ होकर ही राजनीतिविशारद उसके प्रयोग की सम्मति दिया करते हैं । आपस के भगड़े सुलह-सफाई से मिटें तो वे उत्तम तथा चिरस्थायी होते हैं । इसीलिए शास्त्र ने सभी उपायों में से 'साम' को मुख्य माना है । विचार कर देखो, इतनी बड़ी सेना साथ लाकर भी भरत^३ ने पहले ही आक्रमण नहीं कर दिया, हमें सुलह की शर्त भेजी है । भरत^४ से सन्धि कर यदि हम अपने पर्वतीय देश में चले जायें, तो हमारी जाति तथा आप के कुल का बड़ा भारी कल्याण होगा । ज़रा सोचो, सेना ले हम पर चढ़ाई करने में भरत का क्या दोष है ? पहले आपने^५ ही तो राजाओं से बिना कारण वैर कर उन्हें मार उनके देश में अपनी बस्तियाँ बसायीं

१ रहोगतः सशुश्राव नराणां गूढभाषितम् ॥ वि० पु० २११।१०२

२ उपायश्च चतुर्थोऽत्र दण्डस्त्वगतिकागतिः ॥४

३ भरतस्य वयं साम्ना बले महति तिष्ठता ।

प्रथमं समुपाक्रान्तं तदेव तव रोचताम् ॥१०

४ भरतस्य वयं साम्ना यदि गच्छेम पर्वतम् ।

हितं तत्स्यान्महाभाग ! सकुलस्य तवाऽनघ !

५ त्वया कृत्वा समुच्छेदं राज्ञां जननिवासिनाम् ।

अकारणान्महद्वैरं कृतं भूपतिभिः सह ॥२१२।१३

हैं। विदेशी गन्धर्व हमारे देश पर बलपूर्वक अधिकार जमाये बैठे हैं—यह भाव यहाँ के लोगों के मनो में उत्पन्न हो जाने से वे हमसे घृणा करने लगे हैं। इस दशा में अब उन लोगों^१ में रहना हमारा नीचता ही होगी। अब जब यहाँ के लोगों में जागृति आ चुकी है, तो वे हमारे आधीन कैसे रह सकते हैं? उनके साथ यहाँ इकट्ठे रहने से तो अब बार-बार^२ मार-काट वा युद्ध हुआ करेंगे। हम यहाँ खेती^३ नहीं करते और न ही इस देश में व्यापार करना हमारा उद्देश्य है। युद्ध में जन-संहार हो, इससे तो यह अच्छा है कि अब हम यह भूभाग^४ छोड़ अपने देश में चले जायें। क्योंकि युद्ध अवश्य ही करना चाहिए, यह बात आवश्यक नहीं। जहाँ जिस^५ समय सन्धि से लाभ हो, वहाँ सन्धि, और युद्ध से हो तो युद्ध करना चाहिए। यही ठीक होता है। भूमि, धन वा मित्र-प्राप्ति ये तीन ही युद्ध के उद्देश्य हुआ करते हैं और भूमि^६ पर अधिकार किया जाता है—वास, कृषि वा व्यापार के लिए। परन्तु महाराजा, हमारे रहने के लिए हमारा अपना ही देश बहुत बड़ा है। और खेती-व्यापार हमें यहाँ करना नहीं। इसलिए यह भूमि हमारे किस काम की है? रही धन की बात; हमारे अपने देश में सोने का सुमेरु पर्वत^७ होने से धन की हमारे पास कमी नहीं। लड़ रहे दो राजाओं में से एक को सहायता दे उसे मित्र बनाना भी हमारे इस युद्ध का उद्देश्य नहीं, •

१ जने विवासादस्माकं केवलं लघुता भवेत् ।

२ मनुष्यैः संगमश्चैव विग्रहश्च पुनः पुनः ॥ १३

३ न कृषिं न च वाणिज्यं जनेऽस्माकं प्रयोजनम् ।

४ ते वयं सजनां भूमिं त्यक्त्वा यामः शिलोच्चयम् ॥ १४

५ अपेक्ष्य देशकालौ च सन्धिविग्रहमेव च ।

फलं बुध्वा तु यः कुर्यात् स राजन् ! पण्डितो नरः ॥ २१२।१५

६ भूमिर्हिरण्यं मित्रं च त्रिविधं विग्रहास्पदम् ।

७ कृषि नास्ति यतोऽस्माकं ततो भूनिष्प्रयोजना ॥ १७

स्वयं ग्रहो यदस्माकं मेरु कनकपर्वतः ॥ १६

हिरण्येन तदा कार्यं न नोऽस्ति रिपुसूदन ॥ २१२।१७

फिर हम क्यों लड़ें ?' हमें तो सन्धि कर, भरत को अपना मित्र बना, यह देश छोड़ कर अपने देश में चले जाना चाहिए। मुझे यही न्याय्य तथा युक्तिसंगत प्रीति होता है।" यह सुन शैलूष ने कहा, "तुम बार-बार जो कह रहे हो, तुम्हारी वह बात मैंने कभी की सुन ली; परन्तु मेरा आत्म-सम्मान मुझे भरत के आगे झुकने की अनुमति नहीं देता।" नाडायन ने कहा, "तो क्या मैं समझूँ कि आप देश-हित वा न्याय के लिए नहीं; वरन् केवल अपने अहंकार की पुष्टि के लिए अपने देश के धन-जन का स्वाहा करना चाहते हैं?" राजा ने बड़ी अवहेलना से कहा, "एक बार यह कह तो दिया, कि तुम्हारी सब सुन ली; पर मैं भरत के आगे नहीं झुक सकता। युद्ध अवश्य होगा।" यह सुन नाडायन विरोध-प्रदर्शन के लिए सभा से उठ बाहर चला गया। 'कायर गया तो क्या हुआ'—यह कहते हुए सभा का कार्य पूर्ववत् चलता रहा। अपने राजनीति के सलाहकार की इस प्रकार उपेक्षा कर राजा ने सभा को अब यह सलाह दी कि अभी यहाँ से कुछ सेना जाय और रात में सोई^१ भरत-सेना पर छापा मार उसके सहस्रों सैनिकों को मारकर लौट आये। राजा की हाँ में हाँ मिलानेवाले सभासदों ने उसकी इस सूझ की बहुत प्रशंसा की। इस आज्ञा के अनुसार गन्धर्व-सेना ने रात को जाकर भरत-सेना पर छापा मारना चाहा; परन्तु गार्ग्य की बात सुन उसी दिन भरत ने अपनी सेना को यह आदेश दिया था, कि कल गन्धर्वों पर आक्रमण किया जाय। अतः प्रातः युद्ध पर जाना है, इस खुशी से उस रात वहाँ कोई सोया ही न था। इसलिए उन्हें जगा हुआ देख वहाँ से विफल-मनोरथ हो गन्धर्व-सेना को लौट आना पड़ा।

१ तस्मात् भरतमन्विच्छ मित्रं साम्ना नराधिप !

मित्रं रघुकुलं कृत्वा निवासस्तु हिमालये ॥ २१२।१८

२ श्रुतमेतन्मया सर्वं यत्त्वयोक्तं पुनः पुनः ।

प्रणिपातमहं कर्तुं न शक्तो भरताय त ॥ २५४।११

३ निघ्नन्तु तत्र संसुप्तान् रात्रौ वै तस्य सैनिकान् ॥ वि० ध० अ० २५४।१४

दूसरे दिन भरत-सेना ने गन्धर्वों पर आक्रमण किया, वे भी तैयार थे, इसलिए आज घोर युद्ध हुआ। यह युद्ध वीरों को हर्षित^१ करने और कायरों को डराने वाला था। इस युद्ध में दोनों पक्षों की सम्मति^२ से नित्य सूर्यास्त होते ही युद्ध बन्द कर सैनिक अपने-अपने शिविरों में चले जाते और प्रातः रणभेरी बजते ही पुनः युद्ध करने लग जाते थे। यह भयंकर युद्ध बराबर छः दिन चलता रहा। सातवें दिन भरत के हाथों शैलूष की मृत्यु होते ही सब गन्धर्व-सेना भाग खड़ी हुई। अत्याचारी गन्धर्वों के हाथों से देश का उद्धार कर विजयी भरत राजगृह लौट आया। और इस उद्देश्य से कि गन्धर्व कहीं फिर आक्रमण न करें, वह वहाँ सेना-सहित वर्ष भर रहा।^३ इन्हीं दिनों उसने सिन्धु^४ के उस पार पुष्पावती और इधर तक्षशिला दो नगरियाँ बसाकर देश-रक्षा के लिए पुष्पावती में अपने कुमार^५ पुष्कर का तथा तक्षशिला में अपने द्वितीय पुत्र तक्ष का अभिषेक किया और फिर आप अयोध्या लौट राम-राज्य की सेवा करने लगा।^६

(विष्णुधर्मोत्तरपुराण, अ० २०१)

Ramakrishna Mission Library

Muthiganj, Allahabad.

Class No. 200

Book No. २-८१, Vol.

Accession No. 13612

१ शूराणां हर्षजननं भीतानां भयवर्धनम् । २६०।१

२ ततोऽस्तं भगवत्यर्के प्रयाते पृथिवीपते ।

परस्पयानुमते शिविरायैव जग्मतुः ॥ २६४।१३

३ सांवत्सरं पुरस्कृत्य स्थपतींश्च स राघवः ॥ २६६।११

४ सिन्धोरुभयपार्श्वे तु स चकार पुरद्वयम् ।

५ पुष्करं पुष्पवत्यां तक्षं तक्षशिलां प्रति । विष्णुधर्मोत्तर पु०, अ० २६६।१२

६ यह कथा वाल्मीकि रामायण, उत्तर काण्ड, अ० १०० में भी है।

पराई सहायता

एक बार देवता तथा असुर दोनों ही ब्रह्माजी के पास जा पूछने लगे कि पितामह ! हमारे इस संग्राम में किसकी विजय होगी ? ब्रह्मा बोले, “अब के जिनकी ओर राजा रजि होंगे; उस पक्ष की विजय होगी।” यह सुन दैत्य वहाँ से भटपट लौट पड़े और राजा रजि के पास आकर उनसे बोले, “महाराज, देव हमें सदा तंग करते रहते हैं, तंग आकर हमने उनसे युद्ध करने का निश्चय किया है, फिर भी उनसे युद्ध करने की हमारी हिम्मत नहीं पड़ती। विश्व में शान्ति के लिए किये गए हमारे इस प्रयास में आप हमारी मदद करने को हमारी ओर से देवों से लड़ें।” रजि बोले, “मैं जानता हूँ तुम शान्ति के लिए नहीं, लोभ के लिए लड़ना चाहते हो। शान्ति का तो यों ही नाम है, युद्ध का उद्देश्य तो वही ऐश्वर्य तथा प्रभुत्व की आकांक्षा ही होती है।” दैत्य बोले, “राजन् ! धनादि की हमें परवाह नहीं, आप विश्वास करें ! हम युद्ध सचमुच केवल शान्ति के लिए ही चाहते हैं।” यह सुन रजि बोले, “यदि यह बात है कि तुम धन और प्रभुत्व नहीं चाहते, केवल विश्व में शान्ति स्थापित करना चाहते हो, तो मैं तुम्हारी ओर से देवों के साथ युद्ध करूँगा, परन्तु इस शर्त पर कि हम जीत गए तो तुम मुझे अपना इन्द्र बना लोगे।” यह सुनकर दैत्य बोले, “न महाराज ! हम झूठ नहीं बोलते; हम आपको इन्द्र नहीं बना सकते। हमारा इन्द्र तो हमारी जाति का राजा प्रह्लाद ही होगा। उसी के लिए तो हम यह

१ योत्स्येऽहं भवतामर्थं यद्यहममरजयाद्भवतामिन्द्रो भविष्यामि ।

विष्णु पु० ४।१।७

२ न वयमन्यथा वदिष्यामोऽन्यथा करिष्योऽस्माकमिन्द्रः प्रह्लादः, तदर्थमेव मुद्यम इति ।

विष्णुपु० ४।१।८

सारे प्रयत्न कर रहे हैं। यह सुन रजि ने कहा, “तो फिर मैंने तुम्हारी शान्ति के रहस्य को खूब समझ लिया, जाइये मौज कीजिये। मैं तुम्हारी युद्ध में कोई सहायता नहीं कर सकता।” इतना कह रजि महाराज चुप हो गए और दैत्य अपना-सा मुँह लेकर वहाँ से निराश होकर लौट पड़े। दैत्यों के चले जाने पर वहाँ देवता पहुँचे। उन्होंने भी रजि से उसी प्रकार वही बात कही और रजि ने उनको भी वही उत्तर दिया। देवताओं ने यह कहकर कि आप ही हमारे इन्द्र होंगे, उसकी यह बात स्वीकार कर ली। तब राजा रजि देव-सेना की सहायता करने के लिए देवपक्ष में होकर असुरों से लड़े और उन्होंने अपने महास्त्रों से असुरों की सभी सेना समाप्त कर दी। इस युद्ध में असुर हारे और देवों ने विजय प्राप्त की।

विजय प्राप्त कर देवराज इन्द्र^१ ने राजा रजि के चरणों पर अपना मस्तक रखकर कहा—“भय से रक्षा करने तथा अन्न-दान देने के कारण आप हमारे पिता हैं। आप सम्पूर्ण लोकों में सर्वोत्तम हैं, क्योंकि मैं त्रिलोकी का इन्द्र आपका पुत्र बन गया हूँ।” इन्द्र के इस प्रकार कहने पर राजा रजि ने हँसकर कहा, “अच्छा, यों ही सही। जब शत्रु-पक्ष की अनुनय-विनय और चापलूसी की बातें मान ली जाती हैं, तो उनका अतिक्रमण करना अनुचित-सा मालूम होता है ; तब तुम तो अपने पक्ष के ही ठहरे, तुम्हारी बात कैसे टाली जा सकती है ?” यों कहकर रजि अपनी राजधानी को लौट गए और शतक्रतु ही इन्द्र-पद पर स्थित रहा। जब तक राजा रजि जीता रहा, उसके त्याग तथा प्रभाव के कारण युद्ध बन्द रहे। उसके मरते ही रजि^२ के पुत्रों ने नारद के उकसाने पर इन्द्र से कहा—“आप हमारे पिता के

१ रजिचरणयुगलमात्मनः शिरसा निपीड्याह । १०

भयत्राणादन्नदानाद्भवानस्मत् पिताशेषलोकांमुत्तमो भवान्, यस्याहं पुत्रास्त्रिलोकेन्द्रः ।

विष्णु पु० ४।६।११

२ रजिपुत्राश्शतक्रतुमात्मपितृपुत्रं, समाचाराद्राज्यं याचितवन्तः ।

वि० पु० ४।६।१५

पुत्र बनकर उनके जीते राज्य का उपभोग करते रहे हैं। हम भी उन्हीं के पुत्र हैं। पिता के मरने पर पिता के धन का बँटवारा आपस में कर लेने का शास्त्र में विधान है, इसलिए हमारे पिता के राज्य में से हमें भी हमारा उचित भाग दीजिये।” उनकी यह बात इन्द्र ने न मानी। युद्ध फिर शुरू हो गया, परन्तु शक्तिशाली रजि-पुत्रों ने इन्द्र से लड़ उसे जीतकर स्वयं इन्द्र-पद उससे छीन लिया। तब स्वर्ग छोड़ इन्द्र भाग गया। शतक्रतु के इन्द्र न रहने से उसे यज्ञ-भाग मिलना बंद हो गया। इस प्रकार बहुत समय बीत जाने पर एक दिन अपने गुरु बृहस्पति को एकान्त में बैठे देख यज्ञ-भाग से वंचित शतक्रतु ने बृहस्पति से कहा—“क्या मेरी तृप्ति के लिए एक बेर के बराबर पुरोडाश-खण्ड मुझे देंगे?”

यह सुन दयालु बृहस्पति ने कहा—“यदि ऐसा है तो पहले ही तुमने मुझसे क्यों नहीं कहा! तुम्हारे लिए भला मैं क्या नहीं कर सकता! अच्छा अब थोड़े ही दिनों में मैं तुम्हें फिर इन्द्र-पद पर स्थिर कर दूँगा।” इधर रजि के पुत्र ऐश्वर्य पाकर मदमत्त होने लगे, उनका आचार भ्रष्ट हो गया। तब आचारहीन^१ जान इन्द्र ने उन्हें मार डाला और वह फिर से स्वर्ग का राजा बन गया।

(विष्णुपुराण ४।६)

१ तत्स्नानपेतधर्माचारानिन्द्रो जघान। विष्णु पु० ४।६।२१

राजनैतिक समझौता

देवों और दानवों में परस्पर अनेकों युद्ध हुए। वे सदा एक-दूसरे के खून के प्यासे रहते थे, पर लड़ते-लड़ते दोनों ही लड़ाई से तंग आ गए थे। उस युद्ध की मार से बचने के लिए दोनों को एक साथ ही एक बात सूझी, कि समुद्र से अमृत निकालकर अमर क्यों न हो जाएँ ! इस विचार के मन में आते ही दोनों ने बहुत सोचा, पर एक-दूसरे की सहायता के बिना अमृत को समुद्र से प्राप्त कर लेना अपने लिए दोनों ने ही असम्भव समझा। फिर क्या था, इस विचार के मन में आने से वे चिर-शत्रु मन में मैल रखते हुए भी, अपने-अपने स्वार्थवश, दिखावे की प्रीति प्रकट करने लगे। मन से शत्रु होने पर भी इस दिखाऊ प्रेम के कारण वे आपस में बहुत समीपी हो गए और एक-दूसरे की बात पर ध्यान देने लगे। फिर एक दिन देवों तथा दानवों ने एक-दूसरे के हित के लिए मेरु पर्वत पर इकट्ठे होकर विचार किया। दोनों ने कहा—अमृत से हम अमर हो सकते हैं। इसलिए अमृत को निकालकर पीएँगे और सबके सब अमर हो जायेंगे। फिर एक इकट्ठी^१ सरकार बनाकर लोगों की पालना करेंगे और सुख से रहेंगे। हम दोनों लड़ाई^२ को सर्वदा के लिए छोड़ देंगे। और इकट्ठे किये धन का मोह छोड़कर प्रेम से उपभोग करेंगे। क्योंकि हम समझ गए हैं कि परस्पर स्नेह के व्यवहार से ही हम सुखी रह सकते हैं। हम पिछली दुश्मनी की बातें भूल जायेंगे और आगे कभी लड़ाई का नाम न लेंगे। क्योंकि हमें मालूम हो गया है कि तीनों^३ लोक के राज्य की तो बात ही क्या, मुक्ति

१ एकीभूत्वा वयं लोकान् पालयामः सुखानि च ।

२ प्राप्स्यामः संगरं हित्वा संगरो दुःखकारणम् ॥ ब्रह्म गौतमीया ३६।५

३ न च त्रैलोक्यराज्येऽपि कैवल्ये वा सुखं मनाक् ।

तदूर्ध्वमपि वा यत्तु निर्वैरत्वादवाप्यते ॥ ३६।७

या उससे बढ़कर कुछ और मिल जाने पर भी वैसा सुख नहीं मिल सकता, जैसा वैर के त्याग से प्राप्त होता है ।

इस प्रकार समझौता कर देव और दानवों ने इकट्ठे मिलकर बड़े प्रेम से समुद्र-मन्थन करना आरम्भ किया । फिर क्या था, उसमें से अमृत निकल आया । परन्तु दोनों के मन साफ़ न थे । देव दैत्यों को तथा दैत्य देवों को अमृत देना नहीं चाहते थे । क्या करें, कैसे करें, ऐसा दोनों सोचते थे । दैत्यों को धोका देने की सूझी; उन्होंने मन में सोचा देव सीधे हैं इन्हें धोखा दिया जा सकता है । इस समय मुहूर्त का बहाना बना अमृत यहीं रख जाते हैं । हमें जाते देख देव भी चले जायेंगे । तब कल आकर हम सब अमृत आप पी लेंगे । यह सोचकर दैत्यों ने देवों से कहा—हे देवगण ! हम^१ सफल तो हो गए हैं, पर साथ ही हमें थकावट भी बहुत हो रही है, इसलिए अब सब घर चलें । फिर किसी अच्छे मुहूर्त^२ में यहाँ इकट्ठे आयेंगे । उस समय इस अमृत को बराबर-बराबर बाँट कर पी जायेंगे ।

यों कह दैत्य-दानव अपनी बात का विश्वास दिलाने के लिए एक-दम उठकर चले गए । पर कुछ आगे जा उन्होंने राहु में कहा—तू अभी वेष बदल कर जा और चुपके से अमृत-कलश चुरा ला । कहते हैं मन का मन साक्षी होता है । दैत्यों के चले जाने पर देवों के मन में आया यदि दैत्य आ अमृत उठा ले जायें तो क्या होगा ! वे हमारे शत्रु^३ हैं, उन्हें अमृत कभी नहीं देना चाहिए । अमर हो वे हमें कभी जीने न देंगे । उनसे समझौता हुआ तो क्या हुआ ! सभी समझौते जीने और सुख पाने के लिए किये जाते हैं । मरने या दुःख पाने के लिए कभी

१ यामः स्वस्वमधिष्ठानं कृतकार्याः श्रमं गताः ।

सर्वे समं च सर्वेभ्यो यथायोग्यं विभज्यताम् ॥११

२ यदा सर्वांगमो यत्र यस्मिन्नल्लगने शुभावहे ।

विभज्यतामिदं पुण्यममृतं सुरसत्तमाः ॥१२

३ रिपूणाममृतं नैव देयं भवति सर्वथा ॥ ब्रह्म गौ० अ० ३६।१४

कोई राजनैतिक समझौता नहीं करता। सबकी सम्मति सुन वृहस्पति बोले, तुम लोगों ने ठीक सोचा है, अतः अभी अमृत उठा लाओ और चुपचाप मेरु की कन्दरा में चलकर जल्दी उसे पी^१ लो। जिससे दैत्यों को पता न चले। क्योंकि राजनीति में वही मन्त्रणा अच्छी समझी जाती है, जिससे अपना लाभ और शत्रु को हानि पहुँचे। यह सुनते ही देवता गये और अमृत उठा लाये। यह सब अमृत ले जाने के उद्देश्य से छिपे हुए राहु ने भी देखा। पर इतनों से लड़ने का साहस वह न कर सका। उसके मन में आया, भागकर दैत्यों को बुला लाऊँ जिससे मेरी जाति अमृत-पान से वंचित न रहे। पर उसके इस विचार को उसके स्वार्थ ने दबा लिया। राहु ने सोचा, इस भीड़-भाड़ में मुझे कोई नहीं पहचानेगा, अतः देवों में बैठा मैं निस्संदेह अमृत पी सकूँगा; पर दैत्यों के आने पर यदि वे हार गए तो उनकी तरह मुझे भी अमृत-पान से वंचित रहना पड़ेगा फिर मैं ऐसा क्यों करूँ, सन्देह में क्यों पड़ूँ ! यह सोच वह देवों की भीड़ में मिल गया। मेरु^२ पर्वत की कन्दरा में इकट्ठे हो देवों ने अमृत-पान किया। उस बँटवारे में अमृत राहु को भी मिला, पर साथ ही पहचान लिया जाने के कारण उसका सिर वहीं काट दिया गया। अमृत पी जाने की यह बात जब असुरों को मालूम हुई, तो उन्होंने समझौते के नाम पर शिकायत की। देवों ने उत्तर में कहा कि तुम्हारा राहु अमृत चुराने आया था, अतः समझौता तुमने तोड़ा है, हमने नहीं। यह सुन दैत्य चुप बैठ गए, क्योंकि यह बात सच थी। सच्ची न भी हो तो भी देव अब अमर हो चुके थे। मृत्यु से डरने वाले दैत्यों का उनसे लड़ना अब असम्भव था।

(ब्रह्मपुराण, गौतमीमाहात्म्य, अ० ३६)

१ न जानन्ति यथा पापा पिबध्वं त्वं तथाऽमृतम् ।

२ मेरुकन्दरमागत्य न जानन्ति यथाऽसुराः ॥ ब्र० गौ० ३६।३४

एक काल्पनिक युद्ध का दृश्य

सिन्धुराज तथा विदूरथ दोनों पड़ौसी राजा थे। दोनों का एक ही धर्म था। दोनों शक्ति के उपासक थे, परन्तु एक धर्म होने से क्या होता है ! एक दूसरे की सीमा साथ-साथ होने से अपने-अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए उनमें सदा तनाव बना रहता था। उनके धर्म की एकता, उनके स्वार्थ की विभिन्नता को समेट देने में सर्वथा असमर्थ थी। मन की ईर्ष्या के कारण दोनों ने ज्ञान-विज्ञान की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती की उपासना आरम्भ की, परन्तु मतिभेद से दोनों की उपासना के उद्देश्य में भेद हो गया। सिन्धुराज की उपासना का उद्देश्य था 'पर देश' पर विजय; और विदूरथ ने राजा होकर भी आराधना का लक्ष्य समझ रखा था अपनी मुक्ति। विदूरथ के पास दिव्यास्त्रों की कमी न थी, इसीलिए उसे किसी से भय न था। सिन्धुराज की सीमा के साथ लगी सीमावाले देश के पास इतने ध्वंसक अस्त्र हों, कि वह जब चाहे उसे दबोच ले—इसका भय उसे सदा बुरी तरह खटकता था। उसने भी अब लुके-छिपे अपनी रक्षा के ब्याज से उन ध्वंसक शस्त्रास्त्रों की तैयारियाँ कीं, बहुत से शस्त्रास्त्र दूसरों^१ से लिये और कुछ आप बना लिए। इसका परिणाम यह हुआ, कि बात-बात में दबने वाला सिन्धुराज उन अस्त्रों के घमण्ड से विदूरथ से बात-बात में युद्ध का बहाना ढूँढ़ने लगा। जब कोई लड़ने पर उतारू ही हो जाय तो उसे बहाना ढूँढ़ने में कितनी देर लगती है ? सिन्धुराज ने एक बड़ी साधारण-सी बात पर विदूरथ को युद्ध की धमकी दे डाली। अपने दिव्यास्त्रों के घमण्ड से चूर राजा विदूरथ ने भी बड़ी उद्दण्डता से उसका उत्तर दिया। इस उत्तर से कुपित हो सिन्धुराज ने विदूरथ

१ अथाऽऽदधे मोहनास्त्रं सिन्धुगन्धर्वसौहृदात् ॥ यो० उ० ४६।२४

के देश पर आक्रमण कर दिया। यह समाचार सुन राजा विदूरथ अपने मन्त्री तथा सेनापतियों के परामर्श से युद्ध की तैयारी कर आठ घोड़ों के रथ में सवार हुआ। उसकी रक्षा के लिए उसके इर्द-गिर्द पर्वतों के समान हाथी ही हाथी दिखायी देने लगे। राजा के आदेश से देश की सेना आँधी की तरह चली, उसके पाँवों से उठी धूलि ने आकाश में छाकर अँधेरा कर दिया और उस अन्धकार में दिखायी देना विल्कुल बन्द हो गया।

शत्रु-सेना का सामना होते ही वन्दी तथा चारणों की उत्साह-वर्द्धक स्तुतियों से वीरों के उत्साह बढ़ने लगे। दोनों सेनाओं के भट एक-दूसरे को युद्ध के लिए ललकारने लगे। फिर दोनों सेनाएँ आमने-सामने होकर भिड़ गईं। उनकी परस्पर टकराती हुई तलवारों से आग की चिनगारियाँ निकलने लगीं। वीरों की वाह-वाह और घायलों की हाय-हाय सब ओर सुनायी देने लगी। विदूरथ की सेना ने आक्रमण-कारी सिन्धुराज की सेना के छक्के छुड़ा दिये। उसके वीरों की 'काटो-काटो' की आवाज़ के साथ ही उनके शस्त्रों का कट-कट शब्द भी भयंकर रूप में परिणत हो गया। सिन्धुराज की सेना घबरा गई। घबरायी हुई सेना को विदूरथ ने देखा, वह अब लड़ाई नहीं शान्ति चाह रही थी। पर अभिमानी विदूरथ कब मानने वाला था! वह तो सिन्धुराज को सर्वथा विनष्ट कर सर्वदा के लिए अब यह भगड़ा मिटा देना चाहता था। पर ऐसा सोचना विदूरथ की भारी भूल थी, उसे शत्रु-सेना के बलाबल का तनिक भी ज्ञान न था। कारण यह कि वह अपने शस्त्र-मद से मत्त हो चिरकाल से दूसरे देशों को तुच्छ समझ, उनकी गति-विधि से सर्वथा अनभिज्ञ था। उसने कहा—जब मरने आये हो तो जीते रहने की आशा छोड़ दो! यह सुन मरता क्या न करता; सिन्धुराज की सेना विवश हो एक बार फिर युद्ध में डट गई।

अब शत्रु-दल के शस्त्रास्त्र आकाश में पक्षियों^१ के झुण्ड की तरह

१ ययुरम्बरमाश्रित्य नाना हेतिविहंगमाः ॥ यो० उ० ४६।२१

मँडराने लगे । शस्त्रों की चमचमाहट चारों ओर फैलने लगी । घमासान युद्ध होने लगा । शस्त्रों के परस्पर टकराने से चिनगारियाँ निकलने लगीं । भाले आपस की चोट से अधजली लकड़ी की तरह प्रतीत होने लगे । रण में बाणों की वर्षा हो रही थी । दोनों ओर से शत्रु पर फेंके गए बरछों की मूसलाधार भड़ी लग रही थी । वीर रूपी जलधर गरज रहे थे । शस्त्रास्त्रों^१ से निकली आग ने पाँवों से उड़ी धूलि के आँधियारे को मिटा-सा दिया था । यम-यात्रा करनेवाले धड़ों के ढेर लग रहे थे । आँधी से गिर रहे फलों की तरह रणभूमि में वीरों के सिर धड़ा-धड़ गिर रहे थे । वायु से उड़ाये सूखे पत्तों की भाँति शस्त्रों से कटे अंग आकाश में उड़ रहे थे । शवों को लाँघते-लाँघते योद्धा स्वयं शव बने जा रहे थे । शत्रु-रूपी मेघों के टकराने से मृत्यु की वृष्टि करने वाले रणरूप^२ पर्वत से रक्त की नदियाँ निकल रही थीं । रणस्थली में स्थान-स्थान पर फूटे रक्त के सोते दीर्घ काल के लिए सोते वीरों पर गिर उन्हें हिला-हिलाकर जगाने की चेष्टा कर रहे थे । इस चेष्टा के कारण उस रुधिरधारा में वे मुर्दे भी अपने-अपने स्थान से आगे बढ़ रहे थे । रणभूमि पर खून के परनाले बहने से वहाँ के धूलि-कण शान्त हो गए थे । हाथियों पर सवार सैनिक पदाति सेना पर मनमाने प्रहार कर रहे थे । गदाओं के परस्पर टकराने से निकल रहीं चिनगारियाँ आकाश में जुगनू-दल की तरह चमक कर पहले उड़ी हुई धूलि के अन्धकार को मिटा रही थीं । एकमात्र युद्ध का ध्यान होने से परस्पर की बातचीत बिल्कुल बन्द हो चुकी थी । केवल 'मारो-मारो' और 'अरे मरा' का ही शब्द सब आर सुनायी देता था । मरने का पक्का निश्चय हो जाने से मौत का भय बिल्कुल ही जाता रहा था । 'कट-कट' ध्वनि से भुशुण्डियाँ गिर रही थीं, 'खट-खट' शब्द से तलवारें चल रही थीं । गट-गट कर योगिनी-दल रुधिर पी रहा था, घट-घट कर विदूरथ-सेना समाप्त हो रही थी;

१ जग्मुः शमं तमांस्याशु शस्त्रकानलदीपकैः ॥ यो० उ० २५

२ निर्ययुर्लोहिता नद्यो रणार्द्रे मृतिवर्षिणः ॥ यो० उ० ४६।२८

फिर भी 'सर-सर' शब्द करते शर सिर काटते ही जाते थे। इस समर-संगम के तट पर खड़ी विदूरथ की पत्नी लीला ने घबराकर रण से तटस्थ अपनी उपास्य देवी विज्ञान की अधिष्ठात्री सरस्वती से पूछा—माँ ! इस युद्ध में विजय किसकी होगी ?

सरस्वती ने उत्तर दिया—सिन्धुराज की। लीला ने आश्चर्य-भरे भाव से पूछा—देवि ! आपकी कृपा के पात्र तो मेरे पति विदूरथ हैं, फिर उन पर आपकी प्रसन्नता होने पर भी वह पराजित क्यों होंगे ? सरस्वती बोलीं—पुत्रि^१ ! राजा विदूरथ के शत्रु सिन्धुराज ने विजय के लिए ही चिरकाल तक मेरी आराधना की थी। परन्तु राजा विदूरथ ने जय-कामना से कभी मेरा आराधन नहीं किया। वह मुक्ति पाने के लिए ही मेरी उपासना करता रहा है।

इसलिए सिन्धुराज की विजय होगी और विदूरथ अवश्य पराजित होगा, क्योंकि मैं उसे वैसा ही बना देती हूँ, जैसा उसके मन का अपना संकल्प होता है। सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में संवित् मैं ही हूँ। उस ज्ञप्ति-रूप^२ मुझको जो पुरुष जब जैसा प्रेरित करता है वैसे ही मैं उसकी वासना के बल से फल देने में विवर्तित होती हूँ।

यह सुन लीला चुप हो गई। उसने सोचा, जब पहले वैसा प्रयत्न ही नहीं किया तो फल कैसे मिले ! बोये बिना, काटने की आशा रखना पागलपन कहलाता है।

उधर युद्ध की भयंकरता उत्तरोत्तर बढ़ रही थी। परस्पर शस्त्रास्त्रों के टकराने से बिजलियाँ प्रदीप्त हो रही थीं। शस्त्रों से कट, उड़ रही वीरों की भुजाएँ आकाश में उड़नेवाले साँपों की भाँति घूम रही थीं। रणभूमि में बह रही रुधिर-नदी में शवों के भुण्ड के भुण्ड

१ अहं पुत्रि ! जयायैव न विदूरथ भुभृता ॥ ३

तेनाऽसावेव जयति जीयते च विदूरथः ॥ ४

२ ज्ञप्तिरन्तर्गतां संविदेतां मां यो यदा यथा ।

प्रेरयत्याशु तत्तस्य तदा सम्पादयाम्यहम् ॥ यो० उ० ४७।४

गेलियों की तरह बहे जा रहे थे । शस्त्रों से कट-कटकर कबन्ध गिर रहे थे । योधाओं के पैतरे बदलने में घुमाये गए रथों के बड़े-बड़े पहियों तले आकर अनेक घायल चीत्कार कर रहे थे । मदोन्मत्त हाथियों की चाल से रुधिर की नदियाँ संग्राम-भूमि के बाहर पहुँच गई थीं । वे वीरों के केशरूपी शैवाल से पूर्ण थीं, रथों के चक्र ही उनमें चक्रवाक थे और अर्धचन्द्र शर चंचल जल में प्रतिबिम्बित एक से अनेक हो दीखनेवाले चन्द्रों की तरह बहे जा रहे थे । उन नदियों में बह रही कटी भुजाएँ मछलियों-जैसी, धड़ मगरमच्छ-जैसे और सिर कछुओं-जैसे जान पड़ते थे ।

विदूरथ की प्रत्यञ्चा से एक ही बाण निकलता, पर वह आकाश में जाते-जाते हजार हो जाता और शत्रु पर लाख होकर गिरता था । इधर शस्त्र-विद्या तथा क्रूरता में सिन्धुराज भी कम न था । उस क्रूर ने विदूरथ के नगर^१ को आग लगाकर आन-की-आन में जला डाला । वहाँ नगर के स्थान पर आग ही आग दीखने लगी । फिर तो लोक-मर्यादा तोड़कर दोनों ओर से भयंकर युद्ध होने लगा । दोनों राजाओं के प्रहार^२ तथा प्रतिकार से अनेक अस्त्र व्यर्थ हुए । यह देख क्रोध में आ सिन्धु^३ ने विमोहनास्त्र चलाया । उससे विदूरथ के सिवाय उसके पक्ष के सभी लोग मोह को प्राप्त हो गए । विमोहनास्त्र से राजा विदूरथ के सैनिकों के शस्त्र हाथों से गिरने लगे और सब वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गए । उनकी आवाज़ बन्द हो गई, मुख तथा नेत्रों पर मुर्दनी छा

१ एक एव विनिर्याति गुणात्तस्य शिलीमुखः ।

सहस्रं भवति व्योम्नि गच्छन्पतति लक्षशः ॥४८॥४

२ तत्पुराग्निमहादाहात्स्फुलिङ्ग इव भासुराः ॥ यो० उ० ४८ । १

३ कृतं प्रतिकृतैरेवं बाणवर्षैर्महीपती ।

व्यर्थीकृतैरनयतां प्रहारमविचारणैः ॥२३

४ अथाऽऽधे मोहनास्त्रं सिन्धुगन्धर्वसौहृदात् ।

प्राप्तं तेन ययुर्लोका विनामोहं विदूरथात् ॥२४

व्यस्तशस्त्राम्बरा मूका विषण्णवदनेक्षणाः ।

मृत इवाऽभवन् योधाश्चित्रन्यस्ता इवाथवा ॥ यो० उ० ४८ । २५

गई, वे मृतकवत् हो गए, अथवा वे चित्रलिखित-से दीखने लगे। उस संमोहनास्त्र से उत्पन्न हुए, इस मोह को विदूरथ ने प्रबोधनास्त्र से दूर किया तो सेना को होश आया। इतने में सिन्धुराज ने नागास्त्र चलाकर विदूरथ की सेना को सर्पों से भर दिया। इससे वहाँ भगदड़ मच गई, साँप सेना को काटने लगे। विदूरथ ने गरुडास्त्र का प्रयोग कर साँप समाप्त कर दिए। सिन्धुराज ने तभी तमोस्त्र चला रण में अँधेरा कर दिया, तो विदूरथ ने सूर्यास्त्र का प्रयोग कर वह भी दूर कर दिया। तब सिन्धुराज क्रोध में आकर आग्नेयास्त्र से शत्रु-पक्ष में आग लगा दी। विदूरथ ने उसके प्रतिकार के लिए वारुणास्त्र का प्रयोग किया। सिन्धुराज ने शेषास्त्र द्वारा वह सभी जल सुखा डाला।

विदूरथ ने पार्जन्यास्त्र चलाया, तो सिन्धु ने वायव्यास्त्र से उसके प्रभाव को नष्ट कर दिया और साथ ही उस प्रचण्ड वायु के वेग से वृक्ष टूटकर गिरने तथा सेना-सामग्री ही नहीं, सैनिक भी उड़-उड़कर दूर गिरने लगे। विदूरथ ने पर्वतास्त्र चला उसका उपशमन किया, तो सिन्धु ने वज्रास्त्र चला पर्वतास्त्र का प्रभाव मिटा दिया। यह देख विदूरथ ने अति कुपित हो महाभयंकर वैष्णवास्त्र चला दिया। बस, यही उसकी अन्तिम पूंजी थी। सिन्धुराज ने इस अस्त्र का और कोई प्रतिकार न जान एक और वैष्णवास्त्र ही छोड़ दिया। ये दोनों अस्त्र आकाश में दूर ऊँचे चढ़ परस्पर लड़कर क्षीण-शक्ति हो नीचे गिर गए। फिर भी उनकी गर्ज-तर्ज से समस्त देश काँप उठा। इस युद्ध में दोनों राजाओं ने अपने-अपने धन-जन का संहार होते प्रत्यक्ष देखा—तो भी उनके अहंकार ने युद्ध बन्द न होने दिया। वह बन्द तब हुआ, जब सिन्धुराज के एक बाण को न काट पाने के कारण विदूरथ का अपना सिर कट गया। राजा के मरते ही उसकी सेना भागने लगी। राजा की मृत्यु ने उस युद्ध का वह निर्णय कर दिया, जो सैकड़ों दिन, हजारों शस्त्र, लाखों आदमी तथा करोड़ों रुपये स्वाहा करने पर भी पहले न हो सका था।

विजयी सिन्धु-सेना ने पराजित विदूरथ की सेना को मार भगाया,

उनके शस्त्रास्त्र और सामान से अपनी तथा उनकी गाड़ियाँ भर लीं, फिर विजयी सैनिक उस जली राजधानी में टिड्डीदल की तरह घुस, घूम-घूम कर निरीह नागरिकों को लूटने-मारने लगे और बिचारे लुटे लोग बाल-बच्चों के साथ भूखे-नंगे गिरते-पड़ते भागते चिल्ला-चिल्लाकर यह कहते जाते, “निर्बलों को सताना पाप है। अपने राजा के भय व लोक-लाज से नहीं, तो उस भगवान् से ही डरो। हम पर अत्याचार नहीं, दया करो!” पर आश्चर्य यह कि उन्हीं चिल्लाने वालों में से अनेकों ने भागते हुए अपने से निर्बलों को मारे लोभ के लूटना आरम्भ कर दिया। इधर वे सैनिक लुटेरे, जिनके अपने कन्धों पर लूट का माल लदा हुआ था, अपनी बगल में छिपाकर अपना बचा-खुचा माल ले जाने वाले भद्र नागरिकों को चोर नहीं, डाकू कहकर पकड़ते, मारते, धमकाते, पर वही माल अपने हाथ लग जाने पर चुपचाप चंपत हो जाते थे।

पराजित राजा की रानियाँ बन्दी होने के भय से छिप-छिपकर आश्रय ढूँढ़ने लगीं। जिनके नगर में आने पर सड़कों पर स्वागत के लिए दरवाजे बनाये जाते थे, आज उन्हें कोई अपने दरवाजे पर बैठने नहीं देता था। कल तक जिनसे मिलना सौभाग्य माना जाता था, वही आज दुर्भाग्य बन गया। बेचारी रानियाँ सड़कों पर रुलने लगीं और उस नगर को जलाकर राख कर देने वाले क्रूर-कर्मा, विजयी होने के नाते, राजप्रासाद में लात पर लात धर कर विश्राम करने लगे। नगर में सर्वत्र अराजकता फैल गई। पहले सैनिक और अब लुटेरे दूसरों के घरों में घुस-घुस कर लूटने लगे। सिन्धुराज की आज्ञा से नगर में शान्ति स्थापित करने आये सिपाहियों के भय से भागते लुटेरों द्वारा लूट का माल स्थान-स्थान पर गिरा मिलने लगा, जिसे सरकारी कह कर जमा कर दिया गया। विजयी सिन्धुराज ने अपनी रानियों के साथ साभिमान प्रवेश कर उस उजड़े हुए नगर को अपने राज्य में सम्मिलित कर लेने की घोषणा की। बचे-खुचे भयभीत नागरिकों को नये राजा के भक्त होने की शपथ दिलायी गई। लोगों ने नये राजा के

नये कानून को मान लिया। पहले राजा के कुछ भक्त प्राण-भय से घर-द्वार छोड़ भागे। कुछ इस अपराध से कि ये राजा विदूरथ के दायें हाथ थे, मार डाले गए और जिन्हें विदूरथ की सरकार ने राज्य-द्रोही सिन्धुराज के गुप्तचर कह कर रखा था, उन्हें बड़ी-बड़ी जागीरें दी गईं। परन्तु इस जीत से विजेता और विजित दोनों देशों के धन-जन की महा हानि हुई।

दोनों देशों में बूढ़े, वच्चे और विधवाएँ ही प्रायः रह गईं। कारो-बार बन्द हो गया। विजित देश में भयंकर बीमारी और भुखमरी फैली। सिन्धुराज युद्ध में बहुत-सा धन-जन समाप्त कर चुकने के कारण बहुत निस्सत्त्व हो गया। उसे दुर्बल देख दूसरे दो पड़ोसी राजाओं ने दो ओर से उस पर आक्रमण कर उसे बन्दी बना लिया और उसके दोनों ही देश आपस में बाँट लिए। अब इन दोनों में ईर्ष्या उत्पन्न हुई। ये मन ही मन परस्पर शत्रु हो अपने-अपने राज्य में विध्वंसक सामान जुटाने लगे।

वशिष्ठजी बोले—“यह जो युद्ध तुमने देखा, यह स्वप्न-युद्ध के समान भ्रान्ति-मात्र^१ और काल्पनिक युद्ध है।”

यह सुन श्रीराम ने कहा—“मैं अपनी आँखों-देखे को भ्रम कैसे मान लूँ ? गुरुदेव ! मैंने तो इसे अपने सामने प्रत्यक्ष देखा है।” वह बोले, “वत्स ! ब्रह्म^२ सर्वव्यापक है। अतएव जहाँ पर जैसी वासना होती है, वह वहाँ तुरन्त वैसा ही हो जाता है फिर विक्षेप-शक्ति से वह वैसा भासने लगता है। साधारण जन अपने प्रबल संकल्प को अपने स्वप्न में देख लेता है ; तो असाधारण व्यक्ति अपने संकल्प की सृष्टि अपने साथ दूसरों को भी दिखा सकता है। यह घटना कहीं घटित नहीं हुई, केवल मैंने अपने संकल्प-बल से तुम्हें दिखायी है।

“आश्चर्य में क्यों पड़ गए ? क्या पहले तुमने स्वप्न कभी नहीं देखा ?”

(महारामायण (योग वासिष्ठ) उत्पत्ति प्र० स० ४६)

१ भ्रान्तियुद्धमिमं युद्धमेषा भ्रान्तिर्जनोऽजनः ॥ यो० उ० ५२।२७

२ ब्रह्म सर्वगतं यस्माद्यथा यत्र यदोदितम् ।

भवत्याशु तथा तत्र स्वप्न-शक्त्यैव पश्यति ॥ यो० उ० ५२।४२।

मुझे अहंकार ने मारा

सूर्यवंशी राजा 'बाहु' बड़ा धर्मात्मा था। वह धर्मानुसार प्रजा का पालन करता तथा और लोगों को अपना-अपना धर्म पालन करने के लिए प्रोत्साहन दिया करता था। उसने अश्वमेधादि कई यज्ञ किये और अनेक गोदान दिये थे। वह ब्राह्मणों को नित्य अन्न, वस्त्र तथा स्वर्ण दे तृप्त किया करता था। बाहु की न्यायप्रियता तथा शासन-प्रबन्ध से समस्त प्रजा प्रसन्न थी। देश सुखी तथा समृद्ध था। किसी को वहाँ अन्न, वस्त्र व धन की कमी न थी। राजा बाहु अपनी नीति-निपुणता के कारण पड़ौसी राजाओं पर भी शासन करता था। एक बार अपनी इन सफलताओं पर विचार करते-करते बाहु के मन में अहंकार उत्पन्न हुआ। अब वह समझने लगा—'मैं' संसार में सबसे बड़ा राजा हूँ। मैं ही सब का पालन करता हूँ। मैं बड़ा शक्तिशाली हूँ। मैंने अनेक यज्ञ किये हैं। मुझसे बढ़कर संसार में कोई पूज्य नहीं। मैं बहुत बड़ा बुद्धिमान् तथा धनवान् हूँ। मैंने अपने सभी शत्रु जीत लिए हैं। मैं वेद-वेदान्त के तत्त्वों का सबसे बड़ा पण्डित तथा नीतिशास्त्र का पारंगत विद्वान् हूँ।

'मुझे' अब कोई नहीं जीत सकता, मेरा यह ऐश्वर्य सदा ऐसे ही

१ एकदा तस्य भूपस्य सर्वं संपद्विनाशकृत् ।

अहंकारो महाञ्जज्ञे सासूयो लोकहेतुकः ॥१०

२ अहं राजा समस्तानां लोकानां पालको बली ।

कर्त्ता चाहं क्रतूनां च मत्तः पूज्योऽस्ति कः परः ॥११

अहं विचक्षणः श्रीमान् जिताः सर्वे मयारयः ।

वेद-वेदान्त-तत्त्वज्ञो नीतिशास्त्र-विशारदः ॥ बृ० ना० अ० ७।१२

३ अजयो व्याहृतैश्वर्यो मत्तः कोऽधिको भुवि ॥ बृ० ना० अ० ७।१३

(गीता, आध्याय १६, श्लोक १४, १५ से इनकी तुलना करें।)

बना रहेगा, जो इसकी ओर आँख उठाकर देखे, मैं उसकी आँखें निकलवा दूँगा, क्योंकि संसार में मुझसे बड़ा अब कोई नहीं है।' इस भावना को अपनी बुद्धि के समक्ष युक्तियुक्त सिद्ध करने के लिए उसके चित्त में 'असूया' ने जन्म लिया। जिससे वह दूसरे के गुणों में भी दोष देख, अपने को सचमुच सर्वज्ञ तथा सर्वशक्ति-सम्पन्न समझ बैठा। फिर बात-बात में अपना बड़प्पन दिखाने के उद्देश्य से दूसरों का तिरस्कार तथा उपहास करने लगा। इसी से उसके पतन का श्रीगणेश हुआ।

बाहु के इस दुर्व्यवहार से सभी लोग मन ही मन उससे घृणा करने लगे। अपने पराये बन गए। फिर भी कुछ लोग उसके पहले लिहाज के कारण, कोई स्वार्थवश तथा कई उसकी राज-शक्ति के भय से यह सब सहते और चुप रहते थे। इससे वह अपने अहंकार की संतुष्टि के लिए और अधिक निरंकुश हो मनमानी करने लगा। इधर निज राज्य में बाहु ने अपनी बुद्धि के घमण्ड से दूसरों का बार-बार अपमान कर अपने सम्पर्क में आने वाले मन्त्रि-मण्डल, अधिकारी, कर्मचारी तथा प्रजा के मुखिया लोगों को विरोधी बनाया तो उधर अपना बल-प्रदर्शन के लिए बात-बात में तंग कर पड़ोसी राज्य हैहय^१ तथा तालजंघ को अपना शत्रु बना लिया। देश के लोग बाहु के अधिकार, लिहाज, स्वार्थ व भय के कारण मौन थे। पर बाहर के राजा चुप नहीं बैठे। बाहु के अभिमान से तंग आ उन हैहयों तथा तालजंघों^२ ने मिलकर उस पर आक्रमण कर दिया। बाहु के पास उन दोनों पड़ोसी राजाओं की अपेक्षा सेना, सामान आदि सभी कुछ अधिक था, पर इससे क्या होता? बाहु के अहंकार के कारण उसकी सेना तथा सेनापति ही उसकी पराजय चाहते थे। जिनका वह नित्य अपमान करता था, वे सभी उसके बुरी तरह अपमानित होने की बाट जोह रहे थे। क्योंकि बाहु बड़ा और वे दोनों बहुत छोटे राजा थे, इसलिए पूरा एक मास^३

१ हैहयास्तालजंघाश्च बलिनोऽरातयोऽभवन् ॥७१२३

२ आयोधनमभूद्घोरं मासमेकं निरन्तरम् ॥ बृ० ना० अ० ७।३२

युद्ध जारी रहा । अन्त में बाहु^१ हैहयों तथा तालजंघों से हार गया ।

पराजित हो उसने अपने नगर में आकर देखा, कि जिनकी बात कल वह न सुनता था, आज वे भी उसकी कोई बात नहीं सुनते । उसकी पराजय का दुःख उसके सिवाय वहाँ किसी को नहीं था, सभी खुशियाँ मना रहे हैं । अन्त में यह जानकर कि केवल उसकी सेना ही नहीं, प्रजा भी उसके अभिमान के कारण उसके विरुद्ध है, बाहु अपनी दो पत्नियों को साथ ले प्राण बचाने के लिए नगर छोड़ वन में जा छिपा ।

बाहु के वन^२ में भाग जाने पर उसके अभिमानपूर्ण दुर्व्यवहार को स्मरण कर-कर उसके सभी अधिकारी, कर्मचारी और प्रजाजन 'बाहु को धिक्कार है, धिक्कार है !'—ऐसा कहकर उसकी निन्दा करने लगे । और उसके हार कर वन में भाग जाने से प्रजा को बहुत ही संतुष्टि हुई ।

इधर 'बाहु' एक वृक्ष के नीचे भूखा-प्यासा, थका^३-माँदा पड़ा रोते हुए कहने लगा—“हाय रे ! मेरे इस अहंकार ने मुझे कहीं का न रहने दिया । इसने मेरे धन, मान, यश, सुख सभी का नाश कर दिया । मेरी यह दशा कभी न होती, मुझे अहंकार ने मारा है ।”

इस प्रकार पछताता हुआ वह वहाँ बहुत दुःखी रहने लगा । पर अब पछताने से क्या होता था ! इसी मानसिक^४ दुःख के कारण उसके

१ हैहयैस्तालजंघैश्च रिपुभिः स पराजितः ॥३२

२ तस्मिन् बाहौ वनं याते तेनैव परिरक्षिताः ।

दुर्गुणान् विगणय्यास्य धिग्धिगित्यब्रुवन् प्रजाः ॥३७

३ यदा बाहुः वनं यातस्तदा तद्राज्यगा जनाः ।

संतुष्टिं परमां याता दवथौ विगते यथा ॥३९

निन्दितो बहुशो बाहुः मृतवत् कानने स्थितः ॥४०

४ एवं विलप्य बहुधा बाहुरत्यन्तदुःखितः ॥४३

जीर्णांगो मनसस्तापाद्वृद्धभावादभूदसौ ।

स बाहु व्याधिना ग्रस्तो ममार मुनिसत्तम ॥ वृ० ना० अ० ७।४४

सभी अङ्ग जीर्ण हो गए और वह शीघ्र ही बूढ़ा हो गया। फिर बहुत दिनों तक अपने किये का फल भोगता हुआ बीमार होकर श्रीर्व मुनि के आश्रम के समीप, वन में ही, मर गया।

(बृहद् नारदीय पुराण, अध्याय ७)

स्त्री-राज्य से संधि

महाराज युधिष्ठिर ने अश्वमेध यज्ञ करने के लिए घोड़ा छोड़ा, और उस घोड़े की रक्षा के लिए उन्होंने महाभारत के विजेता अर्जुन को नियुक्त किया। महाभारत-युद्ध के बाद भारत में शक्तिशाली राजा ही कितने रह गए थे। जो थे, वे अर्जुन के बल से अपरिचित न थे। फिर उस सर्वनाशी युद्ध के बाद देश में युद्ध चाहता भी कौन था? इसी-लिए अश्वमेध का यह घोड़ा बिना रोक-टोक के धड़ाधड़ सभी राज्यों की सीमा को लाँघता गया। जहाँ किसी ने रोकना चाहा, वहीं उसे मुँह की खानी पड़ी। घोड़ा लेते-लेते वह अपने प्राण भी दे बैठा। इस प्रकार यह घोड़ा हस्तिनापुर से चलकर भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक घूमता चला गया।

इससे अर्जुन के अभिमान की और वृद्धि हुई; परन्तु भगवान् किसका अभिमान रहने देते हैं! यह घोड़ा अपनी रक्षक सेना तथा सेनानायक के साथ एक ऐसे प्रान्त में जा निकला, जहाँ चारों ओर स्त्रियाँ ही स्त्रियाँ दिखायी देती थीं और स्त्री ही राज्य^१ करती थीं। यह एक ऐसी परम्परा पर प्रतिष्ठित राज्य था, जिसमें सदा ही राजा, मन्त्री, सचिव, सेनापति सभी पदों पर स्त्रियाँ आरूढ़ होती थीं। अर्जुन के साथियों ने आज पहली बार स्त्रियों की सेना देखी थी। नगर में स्त्री-पुलिस थी। व्यापारी, कर्मचारी, दूकानदार ग्राहक सभी स्त्रियाँ ही थीं। वहाँ कोई पुरुष नज़र न आता था। यह देख अर्जुन ने अपने साथियों से कहा—“वीरो! इस समय हम स्त्रियों के राज्य में हैं^२, ज़रा

१ राज्यं वै नारी कुर्वते, न पुमांस्तत्र जीवति।

२ उवाच तान् महावीरान्, वयं स्त्रीमण्डले स्थिताः ॥ जै० पु० २१।८४

सावधान होकर चलो । यदि ये स्त्रियाँ^१ यज्ञीय अश्व को पकड़ कर ले गईं, तो हमें बड़ी मुश्किल का सामना करना पड़ेगा । हम पुरुष होकर स्त्रियों से कैसे लड़ेंगे, उन पर कैसे आक्रमण करेंगे ?”

अर्जुन यों कह ही रहे थे, कि इतने में स्त्रियों का एक भुण्ड वहाँ आ पहुँचा । वे सब स्त्रियाँ घोड़ों पर सवार थीं । उनके हाथों में धनुष-बाण और पीठ पर तूणीर थे । इस घुड़सवार सेना से निकल एक स्त्री ने अर्जुन का यज्ञाश्व पकड़ लिया^२ । अर्जुन अपना कर्तव्य ही निश्चित करते रहे, कि वह घोड़ा ले अपनी स्वामिनी^३ के समीप जा पहुँची । रानी को घोड़ा दिखाते हुए, सिर झुका बड़ी नम्रता से बोली—“राजराजेश्वरी के आदेशानुसार^४ घोड़ा पकड़ कर सेवा में उपस्थित कर रही हूँ । यह युधिष्ठिर का ययु^५ है । इस अश्वमेध यज्ञ के घोड़े की रक्षा के लिए युधिष्ठिर^६ का छोटा भाई अर्जुन स्वयं साथ आया हुआ है । अब इस घोड़े के सम्बन्ध में मुझे क्या आज्ञा है ?” सम्राज्ञी बड़े कर्कश स्वर में बोली, “अर्जुन आया है, तो क्या हुआ ! इस घोड़े को ले जाकर घुड़साल^७ में बाँध दे । मैं स्वयं अर्जुन से युद्ध करूँगी । देखती हूँ, वह घोड़ा लेकर यहाँ से जीता कैसे जाता है ।” आदेश पाते ही वह स्त्री घोड़े को घुड़साल में बाँधने चली गई और रानी अर्जुन से लड़ने जा पहुँची^८ । इधर यह घुड़सवार^९ स्त्री-सेना भी धनुष खींच अर्जुन को निशाना बना, उसके रथ को चारों ओर से घेर कर

१ नयिष्यन्ति हयं घोराः कष्टमत्र भविष्यति ॥८५

२ अर्जुनाश्वं गृहीत्वाऽथ नारी काचन निर्गता ॥८६

३ स्वामिनीं प्रति गत्वा सा दर्शयामास वाजिनम् ।

४ तवादेशान् मयानीता तुरगः किं करोम्यहम् ॥ जै० पु० २१।८७

५ अश्वमेध के घोड़े को ययु कहते हैं । ययुरश्वोऽश्वमेधीयः इत्यमरः ।

६ युधिष्ठिरस्य आताऽत्र तुरंगं प्रति रक्षति ॥८७

७ वाजिशालां नयैनं त्वं, यामि पार्थं च योधितुम् ।

८ सा चकार हि तत्सर्वं राज्ञी पाण्डवमन्वगात् ॥२१।८८

९ तुरंगाधिरूढानां च स्थिताः पार्थ ! रथं प्रति ॥ जै० पु० २२।१

खड़ी हो गई। इतने में कुछ स्त्रियाँ रथों^१ पर, और बहुत-सी हाथियों^२ पर सवार हो वहाँ आ पहुँचीं। सब ओर से सभी ने अर्जुन को निशाना बना लिया, फिर युद्ध करने के लिए उसे ललकारने लगीं। अर्जुन को घेरे से निकल घोड़े की ओर जाने का प्रयत्न करते देख चारों ओर से उन पर बाण बरसने लगे। तब अर्जुन ने तीन ओर की सेना से स्वयं लड़ना आरम्भ किया और चौथी ओर की स्त्री-सेना से युद्ध करने का अपने साथियों को आदेश दिया। अब अर्जुन के मन की वह भिन्नक जाती रही कि स्त्री पर वार करना पाप होता है; क्योंकि उनके मन ने कहा कि मारने आये को मार देना शास्त्र में कभी पाप माना नहीं जाता। इसलिए वह बड़ी फुर्ती से अपने सम्मुख तथा दाएँ-बाएँ की सेना से लड़ने लगे। अर्जुन को तीनों ओर निशाना बना रण करते देखकर वहाँ की रानी प्रमीला ने कहा—“वीर ! तुम्हारा^३ घोड़ा हमने पकड़ा है, यदि उसे छुड़ाना चाहते हो तो हमसे^४ युद्ध करो। मैं तुम्हारे बल तथा सैन्यबल दोनों को परास्त करूँगी। अर्जुन ! अब धैर्यपूर्वक मेरे प्रहार के सहन की शक्ति कहीं से प्राप्त करो। क्या तुम नहीं जानते, मैं प्रमीला हूँ !

“मैं तुम्हें जीतकर अपना दास^५ बनाऊँगी। अब इस ययु (अश्व-मेध यज्ञ के घोड़े) तथा उस यज्ञ की आशा छोड़ दो। यहीं बन्दी बनकर आराम से रहो। यदि वीरता का जोश दिखाओगे तो शस्त्र-प्रहार की असह्य पीड़ा से पीड़ित होकर स्वयं ही मर जाओगे।” यह कहते-कहते उसने अर्जुन पर बाण का एक प्रहार किया। अर्जुन ने यह देख छः बाण छोड़े। परन्तु उसे यह देख विस्मय हुआ कि प्रमीला ने

१ रथमारुह्य नारीणां लक्षं च परितः स्थितम् ।

२ गजकुम्भस्थितानां हि लक्षेणापि बृता वभौ ॥२

३ मया धृतस्तुरंगस्ते तं मोचयितुमिच्छसि ॥४

४ कुरु युद्धं मया सार्धं व्यपनेष्यामि त्वद्बलम् ।

५ त्वां विजित्य करिष्यामि स्वदासं विद्धि पाण्डव ॥ जै० पु० २२।८

मार्ग में ही वे सभी काटकर गिरा दिये, और सात बाण मारकर अर्जुन को घायल कर दिया । इससे अर्जुन के अभिमान को बड़ी ठेस लगी । इधर प्रमीला ने सहस्रों और बाण चला अर्जुन को बाणों से ढाँप-सा दिया । तब आपे से बाहर हो अर्जुन ने मोहनास्त्र^१ चलाया । परन्तु प्रमीला ने तीन बाणों से उसे काटकर कहा—“मूढ़ ! साधारण से युद्ध में तुझ जैसे वीर को घबराकर दिव्यास्त्र का प्रयोग शोभा नहीं देता ।^२ परन्तु वह भी तुम्हारा व्यर्थ गया ।” इतना सुनते ही अर्जुन का सिर शर्म से झुक गया । वह मन में कहने लगा, ‘क्रोधावश मैं मुझसे यह बड़ी भूल हुई । सच ही मुझे इस साधारण युद्ध में दिव्यास्त्र का प्रयोग बिल्कुल न करना चाहिए था । हे भगवान् ! यह क्या हुआ, अब क्या करूँ !’ इतने में आकाशवाणी हुई, “पार्थ ! समर में इन स्त्रियों^३ के वध का साहस न करो । तुम इनको अब जीत न सकोगे, चाहे जितनी देर युद्ध करते रहो । डण्डे से ही सभी जगह काम नहीं चलते, धींगा-धींगी छोड़कर नम्रता से काम लो !” यह आकाशवाणी सुन अर्जुन ने प्रमीला से कहा, “देवी ! क्रोध में आ, दिव्यास्त्र चलाकर मैंने भूल की । अब मैं लड़ाई से नहीं, सुलह से अपना घोड़ा आपसे माँगता हूँ । लड़ाई शत्रु से की जाती है पर जिन महाराज का मैं सैनिक हूँ, उन युधिष्ठिर का संसार में कोई शत्रु नहीं । इसीलिए तो उनका दूसरा नाम ही अजातशत्रु पड़ गया है ।

“मुझे यह भी स्मरण है कि जब मेरे महाराज ने इन्द्रप्रस्थ में राजसूय^४ यज्ञ किया था, उस समय इस स्त्री-राज्य के प्रतिनिधि वहाँ पधारे थे । उस पुराने सौजन्यपूर्ण सम्बन्ध को मैं तोड़ना उचित नहीं

१ मोहनास्त्रं पाण्डवोऽपि संदधे कार्मुके स्वके ॥१८

२ प्रमीला मोहनास्त्रं तत् सगुणं सायकैस्त्रिभिः ।

छित्त्वा प्राहार्जुनं मूढ़ ! मोहनास्त्रं न भाति ते ॥२२।१६

३ मा पार्थ साहसं कार्षी संग्रामे स्त्रीवधं प्रति ॥ जै० पु० २२।२६

४ देखें—महाभारत, वन-पर्व अ० ५१

समझता और यही आपसे भी आशा करता हूँ । इसलिए यह भगड़ा समाप्त करने के लिए मेरी विनय है, कि आप हमारा घोड़ा छोड़ दें । जिससे हमारा आपस का पुराना सौजन्य पूर्ववत् बना रहे ।” प्रमीला ने कहा, “अर्जुन, आप कहते हैं कि क्रोध में आ, आपने हम पर इस दिव्यास्त्र का प्रयोग किया है । पर क्या इस क्रोध के कारण को भी आपने सोचा है ? मेरा विचार है कि क्रोध अन्धा भले ही हो, किन्तु बिल्कुल बुद्धिशून्य नहीं है । इसलिए वह सदा अपने से निर्बल को आँख दिखाता और बली के सामने महात्मा बन जाता है । मेरी आपकी यह सन्धि किसी सौजन्य से नहीं, केवल भय से हो रही है । जबतक हम दोनों दूसरे को शक्तिहीन समझते थे, दबाना चाहते थे ; अब एक-दूसरे की शक्ति को जान सन्धि करना चाहते हैं ।” यह कहकर उसने अर्जुन का वह घोड़ा छोड़ देने की आज्ञा दी । तब घोड़ा ले अर्जुन हस्तिना-पुर लौट आया ।

(जैमिनि पुराण, अध्याय २१)

पुष्पक विमान

रावण की मृत्यु के दूसरे दिन राजा विभीषण ने श्रीरामचन्द्रजी के लिए बहुत-से वस्त्रालंकार^१ तथा स्नान का सुगन्धित सामान ला, हाथ जोड़कर निवेदन किया, “रघुनाथ ! आप स्नान करें !” राम बोले, “यह स्नान-आदि तुम मित्र सुग्रीव को कराओ । मैं तो अयोध्या जाने की तैयारी कर रहा हूँ । मेरे पीछे बेचारा भरत कण्ट पा रहा है । अपने उस बन्धु को देखे बिना अब मुझे और कुछ अच्छा नहीं लगता । तुम कोई ऐसा उपाय बतलाओ जिससे मैं भट^२ अयोध्या पहुँच जाऊँ । जिस रास्ते हम लोग अयोध्या से यहाँ आये हैं, वह मार्ग^३ तो बड़ा दुर्गम तथा दूर का है ।” ऐसा कहने पर विभीषण ने विनय की, “नाथ ! मैं आपको एक दिन में अयोध्या पहुँचा दूंगा । क्योंकि लंका राज्य में अति शीघ्रगामी पुष्पक^४ विमान है । यह रावण ने भाई कुबेर से छीना था । यह वही विमान है, जिसमें रावण अपनी मृत्यु के रूप में सीताजी को पंचवटी से यहाँ लाया था । इसलिए आप अयोध्या पहुँचने की चिन्ता न करें । जिस दिन यहाँ से आप चलेंगे, उसी दिन वहाँ पहुँच जायेंगे । परन्तु इस समय मेरी प्रार्थना तो यह है, कि यहाँ से पैदल अयोध्या जाते जितने दिन लगते हैं, उतने दिन युद्ध की थकावट दूर करने के लिए यहाँ रह जाइये !” यह सुन श्रीराम ने कहा—“तुम्हें पता नहीं, विभीषण ! भरत मुझे चित्रकूट से लौटा ले जाना चाहता था ।

१ स्नानानि चाङ्गरागाणि वस्त्राण्याभरणानि च ॥२

२ एतत्पश्य यथाक्षिप्तं प्रतिगच्छाम तां पुरीम् ।

३ अयोध्यां गच्छतो ह्ये वि पन्थाः परमदुर्गमः ॥७

४ अह्ना त्वां प्रापयिष्यामि तां पुरीं पार्थिवात्मज !

पुष्पकं नाम भद्रं ते विमानं सूर्यसन्निभम् ॥ वा० रा० यु० १२१।६

मैं नहीं माना, तो उसने कहा था—‘यदि चौदह वर्ष पूरे होने के बाद एक दिन भी अधिक हो गया, तो मैं आग में जल मरूँगा। फिर आप भरत को संसार में न पा सकेंगे।’

“अब वनवास के दिन पूरे होने को हैं। अतः तुम शीघ्र विमान मँगवा लो।” आज्ञा पाते ही विभीषण लंका गया और भट विमान ला, सेवा में उपस्थित होकर उसने कहा—“प्रभो ! आपकी आज्ञा से विमान आ गया है।” राम ने देखा—यह विमान बाहर से सुनहरी^१ और अन्दर से सफेद था। इसमें सभा-मण्डप बने थे, जिनमें बैठने की अनेक सीटें थीं। विमान के ऊपर सोने के पद्म के निशानवाले वसन्ती भण्डे^२ फहरा रहे थे और अन्दर से बाहर भाँकने को झरोखे बने थे। इसमें अनेक घण्टियाँ, घण्टे सुरीला शब्द कर रहे थे। यह विमान बड़ा^३ लम्बा-चौड़ा और काफी ऊँचा था। इस विमान में सोने के कमरों^४ में बिछौने बिछे तथा आसन लगे थे। इसमें हजार से अधिक व्यक्ति बैठ सकते थे। यह अति शीघ्रगामी पुष्पक विमान हंसाकार था। इस विमान पर कोई आक्रमण नहीं कर सकता था, क्योंकि आक्रमण से बचाव के लिए इसमें पूरे साधन थे।

जब सीता, राम और लक्ष्मण, तीनों विमान में बैठ गए, तो

१ ततः काञ्चनचित्राङ्गं वैदूर्य-मणि-वेदिकम् ।

कूटागारैः परिक्षिप्तं सर्वतो रजत-प्रभम् ॥२४

२ पाण्डुराभिपताकाभि ध्वजैश्च समलंकृतम् ।

काञ्चनं काञ्चनैर्हर्म्यैर्होम-पद्म-विभूषितैः ॥२४

प्रकीर्णं किङ्किणीजालैर्मुक्ता-मणिगवाक्षकम् ।

घण्टाजालैः परिक्षिप्तं सर्वतो मधुरस्वनम् ॥२६

३ तं मेरु-शिखराकारं निर्मितं विश्वकर्मणा ।

४ बहुभिर्भूषितं हर्म्यैर्मुक्तारजतशोभितैः ॥२७

तलैः स्फटिकचित्राङ्गैर्वैदूर्यैश्च वरासनैः ।

महाहस्तिरणो पेतैरुपपन्नं महाधनैः ॥२८

उपस्थितमनाधृष्यं तद्विमानं मनोजवम् ॥ वा० रा० पु० १२१।२६

सुग्रीव तथा हनुमान आदि सैनिकों और विभीषण ने भी साथ ही अयोध्या चलने की प्रार्थना की ।

यह सुन श्रीराम ने सुग्रीव^१ से कहा, “सुग्रीव ! तुम शीघ्र सेना-सहित विमान में बैठ जाओ और विभीषण, तुम भी अपने मंत्रियों के साथ विमान में बैठकर अयोध्या चलो !” रामाज्ञा से सबके बैठ जाने पर हंसयुक्त^२ (हंसाकार) विमान ने जोर का शब्द किया और फिर ऊँचा आकाश में चढ़ गया । ऊपर आकाश में पहुँचकर राम ने सीता से कहा, “जरा नीचे की ओर देखो, यह समर-भूमि है । यहाँ असंख्य राक्षस और वानर मरे हैं, उनके मांस और रुधिर से कितना कीचड़^३ हो रहा है ! अब समुद्र^४ आ गया, इस पर मैंने नल से यह पुल बँध-वाया था । देखो, हम समुद्र-पार आ पहुँचे । यहीं पहले-पहल मुझे विभीषण^५ मिला था । लो, यह हम किष्किन्धा^६ पहुँच गए । मैंने यहाँ बालि को मारा था ।” किष्किन्धा का नाम सुन सीता ने कहा, “नाथ ! मैं चाहती हूँ, कि यहाँ से सुग्रीव की तारादि^७ और अन्य वानर सरदारों की स्त्रियाँ हमारे साथ अयोध्या चले ।” सीताजी इच्छा से किष्किन्धा^८ में विमान रुका । तब श्रीराम ने सुग्रीव से कहा, “वानर सरदारों से कहो, वे अयोध्या दिखाने के लिए अपनी-अपनी स्त्रियों को भी साथ

१ क्षिप्रमारोह सुग्रीव ! विमानं सह वानरैः ।

त्वमप्यारोह सामात्यो राक्षसेन्द्र विभीषण ॥२४॥

२ राघवेणाभ्यनुज्ञातमुत्पपात विहायसम् ।

खगतेन विमानेन हंसयुक्तेन भास्वता ॥१२३॥२६॥

३ एतदायोधनं पश्य मांसशोणितकर्दमम् ॥४॥

४ एष सेतुर्मयाबद्धः सागरे लवणार्णवे ॥१६॥

५ अत्र राक्षसराजोऽयमाजगाम विभीषणः ।

६ एषा सा दृश्यते सीते किष्किन्धा चित्रकानका ॥२२॥

७ सुग्रीव प्रिय भार्याभिस्तारा प्रमुखतो नृप ॥२४॥

८ तारया चाभ्यनुज्ञाता सर्वा वानरयोषितः ॥ वा० रा० यु०

अध्यारोत् विमानं तत् सीतादर्शनकाक्षया ॥ स० यु० स० १२३।३७

ले लें, परन्तु यह कार्य शीघ्र ही हो जाना चाहिए, क्योंकि अभी हमको बहुत दूर जाना है।” विमान से उतर विजयी सैनिक अपने-अपने घरों में गये, और सुग्रीव ने राजप्रासाद में प्रवेश कर तारा से कहा—
“सीताजी चाहती हैं कि आप सब भी अयोध्या उत्सव देखने चलें। इसलिए सभी सरदारों की स्त्रियों को कहो कि वे वहाँ चलने की तैयारी करें।” तैयारी हो जाने पर सब स्त्रियाँ अपने-अपने पतियों के साथ विमान में बैठ गईं। तब विमान वहाँ से चला। श्रीराम ने कहा, “सीते, ऋष्यमूक पर्वत दीख रहा है। यहीं पहली बार सुग्रीव से मेरा परिचय हुआ था। ओ ! हम तो पंचवटी पर आ गए। अब यह चित्रकूट आ गया।” कुछ क्षणों के बाद श्रीराम ने अयोध्या दिखाकर कहा—
“जानकी ! तुम लौटकर घर आ गई हो, अतः अयोध्या को प्रणाम करो !”^१

आज चौदह वर्ष पूरे होंगे। कल पन्द्रहवाँ आरम्भ होगा, अतः आज नहीं, कल मुझे अयोध्या में जाना चाहिए—यह विचार कर श्रीराम ने विमान को लौटने की आज्ञा दी। वहाँ से लौट विमान प्रयाग पहुँच कर भरद्वाज के आश्रम पर जा उतरा। राम के साथ विमान से हजारों व्यक्ति उतरे। श्रीरामादि ने ऋषि को बड़ी श्रद्धा से प्रणाम किया^२ और भरद्वाज ने उन सबका स्वागत किया। उस दिन पंचमी को ये सभी उस आश्रम में रहे। परन्तु आज १४ वर्ष पूरे हो जाने से निराश भरत प्रातः कुछ कर न बैठें—इसलिए राम ने अपने आने की सूचना इसी समय भरत के पास पहुँचाने के लिए हनुमान से कहा,
“भरत को चौदह वर्ष राज्य करते हो गए हैं; ऐश्वर्य किसे मोहित नहीं कर लेता !”^३ इसलिए सीधे अयोध्या न जाकर मार्ग में गुह से मिल भरत

१ अयोध्या कुरु वैदेहि ! प्रणामं पुनरागता ॥१२३॥५२

२ पूर्णे चतुर्दशे वर्षे पञ्चम्यां लक्ष्मणाग्रजः ।

भरद्वाजाश्रमं प्राप्य ववन्दे नियतो मुनिम् ॥१

३ कामादुपाश्रनन्ति सहस्रशस्ते मुदान्विता स्वर्गजितो यथैव ॥१२४॥२३

के विचार जानना । यदि किसी तरह यह जान पड़े कि भरत^१ राजा रहने में राजी हो तो वहीं से लौट आना, फिर मैं अयोध्या न जा यहीं से कहीं लौट जाऊँगा । भरत राजा बना रहे, इसमें मैं बहुत राजी हूँ । पर यदि गुह से भरत की संतुष्टि का पता न चले, तो फिर भरत के पास जाकर मेरे आने की सूचना देना । मेरे आने के समाचार का उस पर क्या प्रभाव पड़ा है—यह उसके आकार-प्रकार तथा बात-चीत से भाँपकर मुझे बताना । यदि वह राजा रहने में राजी हो तो राजी रहे । किन्तु जैसे मेरा मन कहता है, मेरे आगमन की प्रतीक्षा में वह विह्वल हो रहा हो, तो कहना मैं प्रातः अयोध्या पहुँच जाऊँगा । और तुम फिर वहीं रहना । यदि तुम यहाँ प्रातः न आये तो मैं प्रातः वहाँ आ जाऊँगा ।”

हनुमान के चले जाने पर श्रीराम को भरद्वाज से पता चला कि भरत आपके वियोग से बड़ा दुःखी है; वह अयोध्या में नहीं, नन्दिगाँव में रहता है । राज्य चौदह वर्ष से भरत नहीं, आपकी खड़ाऊँ करती रही हैं । उसने चित्रकूट में आपको जो पहनते, खाते और जैसा रहते देखा था, तब से अब तक वह वही मृगचर्म पहनता, वैसे ही फल खाता और भूमि पर सोता है । उसे आपके कल आने का पूरा निश्चय है । क्योंकि आज आपके वनवास का यह अंतिम दिन है । अच्छा हुआ, आप आ गए, नहीं तो न जाने क्या होता !”

उधर गुह ने भी हनुमान से कहा, “भरत राज्य नहीं, रामचन्द्र को चाहता है ।” यह सुन हनुमान नन्दिगाँव गये । उन्होंने देखा, भरत काला मृग-चर्म पहने, जटा बढ़ाये बैठे थे । उसके सामने एक ऊँचे रत्न-जड़ित स्वर्णसिंहासन पर श्रीराम की खड़ाऊँ विराजमान थीं । भरत के पास काषाय वस्त्र पहने मंत्री, सेनाध्यक्ष तथा पुरोहित बैठे थे । हनुमान से राम के आने का सुखद समाचार सुन भरत उछल पड़े । उन्होंने हनुमानजी को अपने गले लगाया । फिर बोले, “सच कहते हो, वह आ रहे हैं तो इस सुखद समाचार के बदले मैं तुम्हें लाख गाय

और सौ गाँव देता हूँ।” श्रीराम अयोध्या में आ रहे हैं—यह खबर बिजली की भाँति उसी क्षण अयोध्या में पहुँचकर फैल गई। उसी समय अयोध्या की सड़कें सजायी गईं, सब ओर झण्डे-लड़ियाँ लगायी गईं। राजमार्ग के मकानों और दूकानों में लाजा तथा पुष्पों के ढेर लगाने लगे। चौराहों में चौक पूरे गए। सूर्योदय से पहले ही अयोध्या से नन्दिगाँव तक सड़क के दोनों ओर नर-नारियों की भीड़ लग गई। सबसे आगे कौशल्या, सुमित्रा तथा कैकेयी रथ में बैठ कर चलीं। उनके पीछे पीछे राज्य के आठों मंत्री, सेनापति, सरदार, सैनिक हाथियों-घोड़ों और रथों पर चढ़कर चले। पदाति सेना विविध प्रकार के शस्त्र तथा झण्डे लेकर चली। शंख-भेरी-दुन्दभि बजने लगीं। नन्दिगाँव में आज अयोध्या के सभी पुरवासी स्वागत के लिए जमा हुए। आगे-आगे राजमाताएँ थीं, उनके साथ भरत साधु का वेष बनाये मृगछाला पहने जटा बढ़ाये पैदल चल रहे थे। भरत ने सिर पर राम की खड़ाऊँ उठायी हुई थीं। उन पर श्वेत छत्र था। भरत के पीछे शत्रुघ्न खड़ाऊँ को चौरी भोलते चल रहे थे। उनके पीछे यथाक्रम अधिकारी, कर्मचारी तथा प्रतिष्ठित नागरिक थे। ये सभी एक विशाल मैदान में अपनी-अपनी सवारियों से उतरकर विमान की प्रतीक्षा करने लगे। भरत एक तो राम से मिलने को बहुत व्याकुल हो रहे थे, दूसरे प्रतीक्षा का समय वैसे भी थोड़ा होने पर भी बहुत प्रतीत होता है। इसलिए वह अल्प समय भी भरत को कल्प-समान प्रतीत होने लगा। वह बार-बार हनुमान से पूछते, “कहीं अपनी चंचलता के कारण आपने राम के आगमन के विषय में यों ही तो नहीं कह दिया?” इस समय सिवाय भरत के सभी के मुँह ऊँचे थे। आँखें आकाश की ओर लगी थीं। पर भरत का सिर ऊँचा था और वह याग की ओर मुँह कर आकाश को देख रहा था। इतने में हनुमानजी बोल उठे, “वह देखिये, आकाश में चाँद की तरह चमकने वाला श्रीराम का विमान ही तो है!” भरत ने विमान को देख दूर से प्रणाम किया। फिर क्या था, ‘श्रीराम आ गए, श्रीराम आ गए’ एकदम यह शोर मच गया। बच्चे-बूढ़े-नर, नारी सभी ऊपर मुँह किये

उत्सुकता से उस ओर देखने लगे । उन्हें अब अधिक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी । देखते-देखते ही विमान^१ पृथ्वी पर उतर आया । हजारों कण्ठों से रामचन्द्र की जय के शब्द से आकाश गूँज उठा । राम विमान से उतरे, भरत ने सिर पर से खड़ाऊँ उतारकर भूमि पर रख राम को दण्डवत् प्रणाम किया ।^२ राम ने उसे उठा अपने गले से लगा लिया । भरत ने वह खड़ाऊँ आज चौदह वर्ष बाद राम के चरणों में पहना अपने को धन्य माना । और फिर सुग्रीव को गले लगाकर भरत ने कहा, “आप हमारे पाँचवें भाई हैं !”

(वाल्मीकिरामायण, युद्धकाण्ड, सर्ग १२१)

१ हंसयुक्तं महावेगं निष्पपात महीतलम् । ३६।

२ पादुके ते तु रामस्य गृहीत्वा भरत स्वयम् ।

चरणाभ्यां नरेन्द्रस्य योजयामास धर्मवित् । बा० रा० यु० १२७।५३

लड़ाकू विमान सौभ

श्रीकृष्ण वनवासी पाण्डवों को वन में मिलने गये, तो उन्होंने युधिष्ठिर से कहा, “जब आप लोग हस्तिनापुर में जुए के लिए बुलाये गए थे, उस समय मैं द्वारका में न था; होता तो बिना बुलाये भी हस्तिनापुर पहुँचकर आपको कभी जुआ न खेलने देता और उन्हें भी जुए के दोष बताकर इस कुत्सित कर्म से रोकता ! पर क्या करता, उस समय मैं शाल्व के साथ युद्ध में फँसा हुआ था। आपको पता ही है कि शाल्व के पास मय^१ का बनाया हुआ ‘सौभ’ नामक विमान था। वह लोहे का बना हुआ था। जब मैं इन्द्रप्रस्थ में आपके ‘राज-सूय’ यज्ञ में था, उन्हीं दिनों शिशुपाल की मृत्यु का हाल सुनकर शाल्व ने उसका बदला लेने के लिए द्वारका पर चढ़ाई कर दी। उसने अपनी बहुत-सी सेना से द्वारका को चारों ओर से घेर लिया। उसके फल और फूलों से लदे बाग उजाड़ दिए। नगर द्वारका के फाटक तोड़ डाले। राजमहल, अटारियाँ, नागरिकों के मकानों और विनोद-स्थानों पर विमान द्वारा आकाश से शस्त्रों की झड़ी लगा दी। बड़ी चट्टानें तथा वृक्ष आकाश से फँके, बिजली गिरा-गिराकर नगर को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। क्या बताऊँ, उस पापी ने निरीह नागरिकों पर भी विमान से ओले फँके, साँप गिराये, धूल बरसायी। अधिक क्या;

१ तथेति गिरिशादिष्टो मयः परपुरञ्जयः ।

पुरं निर्माय शाल्वाय प्रादात् सौभमयोमयम् ॥७॥

२ पुरीं बभञ्जोपवनान्युद्यानानि च सर्वशः ॥८॥

सगोपुराणि द्वाराणि प्रासादादालतोलिकाः ।

विहारान् स विमानाग्रयान्निपेतुः शस्त्रवृष्टयः ॥१०॥

शिलाद्रुमाश्चाशनयः सर्पा आसारशर्कराः ॥ भागवत १०।७६।११

प्राचीन काल में जैसे त्रिपुरासुर ने समस्त पृथ्वी को पीड़ित कर रखा था, वैसे ही शाल्व के विमान ने द्वारका-वासियों को अत्यन्त पीड़ित कर दिया था। उन दिनों द्वारका में किसी को एक क्षण भी शान्ति न मिलती थी।

द्वारका में सेना थी। नगर के बुर्जों पर मशीनगनों^१ भी थीं। शत्रु के शस्त्रों की मार से बचने तथा उस पर वार करने के लिए जमीन खोद-खोदकर खन्दकों^२ बना रखी थीं। शत्रु-सेना को रोकने के लिए मोर्चे बने थे। उसके गोलों तथा लोहे के अस्त्रों को विफल करने के यन्त्र थे। शत्रु को दग्ध करने के लिए प्रज्वलित अग्नि-चक्र थे। गोले फेंकने की मशीनें सभी थीं। बन्दूकें तोपें सभी-कुछ था। मुक्काबला करने वाले वीर भी अनुभवी थे, जो पहले अनेक युद्धों में अपनी वीरता दिखा चुके थे। रक्षा का पूरा प्रबन्ध था।

नागरिकों को नशे के प्रमाद से बचा रखने के लिए उग्रसेन तथा उद्धव दोनों गण-नेताओं ने डोंडी पिटवा नगर में यह घोषणा कर रखी थी कि “द्वारका में कोई व्यक्ति सुरापान^३ न करे।” पुल^४ तोड़ दिये गए थे, नावें रोक दी गई थीं, उनका चलना बिल्कुल बन्द हो गया था। खाड़ी में कीलें गाड़कर उसे दुर्गम बना दिया गया था। नगर से एक-एक कोस तक चारों ओर गढ़े खोद-खोदकर भूमि को दुर्लङ्घ्य

१ सचक्रा सहुडा चैव सयन्त्रावनकास्तथा ॥५

सोपशल्यप्रतोलीका साट्टाट्टालकगोपुराः ।

सचक्रग्रहणी चैव सोल्कालातावपोथिका ॥६

सतोऽमरांकुशा राजन् ! सशताघ्नी कलाङ्गला ॥७

स भुशुण्ड्याश्मगुडका सायुधा सापरश्वधा ।

लोहचर्मवती चापि साग्निः सगुडशृङ्गिका ।

महाभारत, वनपर्व, अ० १५।८

२ घोषितं नगरे चापि न पातव्या सुरेति वै ॥१२

३ संक्रमा भेदिता सर्वे नावश्च प्रतिपेधिताः ।

परिखाश्चापि कौरव्य ! कीलै सुनिचिता कृताः ॥१३

समन्तात् क्रोशमात्रं च कारिता विषया च भूः ॥१६

कर दिया था। सौभ के आक्रमण के दिनों से वृष्णि तथा अन्धकों के उस पुर से मोहर लगे अनुज्ञा-पत्र (विसा) के बिना न कोई निकल सकता था और न भीतर ही घुस सकता था। नगर की समस्त गलियों, बाजारों और चौराहों पर रक्षा के लिए हाथी-घोड़ों सहित सेना ने पड़ाव डाल रखे थे। हमारी सेना में कोई ऐसा न था, जिसके बल-पौरुष की पहले परीक्षा न हो चुकी हो और न ही इसमें दया-वश, लिहाज व सिफरिश से भर्ती किया गया कोई कायर ही था। सभी योधा वीर थे। किन्तु यह सभी कुछ भूमि पर आमने-सामने होने वाले युद्ध में ही काम आ सकता था। पर वह दुष्ट शाल्व तो सौभ-विमान^१ द्वारा आकाश में चढ़ वहाँ से निशाना बना-बनाकर बाण-वर्षा करता था। उसका मुक्काबला भूमि पर खड़े बेचारे वे लोग कैसे करते ? सभी द्वारका-वासी दुःखी थे। उनके चारों ओर शत्रु ने घेरा डाल रखा था। कभी उनपर आकाश से वर्षा होती थी, कभी घेरा डालने वाली सेना ललकारती और 'कायर-कायर' कह कर उपहास करती थी।

यह दशा देख प्रद्युम्न ने सबको ढाढस बँधाते हुए कहा, 'डरिये नहीं ! डरने से कुछ नहीं होगा। इस विपत्ति से उद्धार पाने के लिए साहस और बलिदान की जरूरत है। देखिये, मैं युद्ध करने जाता हूँ, आगे जो होगा देखा जायेगा।' यों कह वह युद्ध के लिए तैयार हो गया। उसके साथ सात्यकि, साम्ब, अक्रूर और कृतवर्मा आदि भी गये।

प्रद्युम्न के आक्रमण ने शाल्व के घेरे को तोड़ डाला। शाल्व-सेना इस आक्रमण के आगे टिक न सकी। प्रद्युम्न से परास्त हो शाल्व-सेना का सेनापति क्षेमवृद्धि भाग गया। द्वारका का घेरा टूटा ही था कि इतने में शाल्व अपने सौभ विमान^२ पर उधर आ पहुँचा। उसे आकाश

१ न चा मुद्रो बहिर्याति न चामुद्रः प्रवेश्यते ॥१६

२ नानुग्रहभृतः कश्चिन्न चादृष्टः पराक्रमः ॥ महा० वनपर्व, १५।२०

३ शाल्वो वैहायसं चापि तत् पुरं व्यूह्यविष्टितः ॥ १५।३

४ कामगेन च सौभेन स शाल्वः पुनरागमत् ॥ महाभा०, व०, अ० १६।२७

में आया देख हमारी सेना घबरा गई और उसकी सेना उसे देख फिर लौट आई। वृष्णि-कुमारों ने फिर युद्ध तो किया, पर अब ये विचारे भूमि पर थे और वह नृशंस आकाश में उड़ने वाले सौभ विमान में बैठकर इन पर वार कर रहा था। उस दुष्ट ने अनेक वृष्णियों को मार डाला। नगर को उजाड़ कर दिया। फिर पुकार-पुकार कर कहने लगा—“वह वासुदेव का बेटा कृष्ण कहाँ गया है ? उस लड़ाकू कहलाने वाले का घमण्ड मैं आज चूर करके ही छोड़ूँगा। आनर्त (उत्तर गुजरात) देशवासियो, तुम सत्य-सत्य कहो, वह कहाँ गया ? मैं वहीं जाऊँगा। कंस और केशी को मारने वाले कृष्ण को अब मैं मार कर ही लौटूँगा। कृष्ण कहाँ है, कृष्ण कहाँ है ?” कहता हुआ वह रण-भूमि में घूमने लगा। “कृष्ण ने मेरे भाई शिशुपाल को मारा है, मैं उसे मारे बिना कभी न छोड़ूँगा”—इस प्रकार बकता^१ हुआ मुक्त पर दुर्वचनों की बौछार कर वह इच्छानुसार गमन करने वाले अपने सौभ विमान द्वारा आकाश में फिर उड़ गया।

मय का बनाया हुआ शाल्व का वह विमान बड़ा विचित्र था। यदुवशियों को इस बात का पता ही न चलता कि वह इस समय कहाँ है। वह कभी पृथ्वी^२ पर आ जाता, तो कभी आकाश में उड़ने लगता। कभी पर्वत की चोटी पर चढ़ जाता, तो कभी जल में तैरने लगता। वह अलात-चक्र^३ (जोर से चक्राकार घुमायी जा रही जलती लकड़ी) के समान आकाश में अति शीघ्र गति से घूमता हुआ एक जगह होने पर भी अनेक जगह नज़र आने लगता। फिर सबको विस्मय में डाल वह फिर कहीं छिप जाता। यह सब मैंने द्वारका जाकर सुना। पर तब तक दुष्ट शाल्व वहाँ से पता नहीं कहाँ चला गया था। आनर्त देश की मार-काट, अपना अपमान, शाल्व का बड़ा हुआ दुस्साहस और

१ एवमादि महाराज विलप्य दिवमास्थितः ॥ महाभा०, वन०, अ० १४।१५

२ क्वचिद् भूमौ क्वचिद् व्योम्नि गिरिमूर्ध्नि जले क्वचित् ॥

भागवत १०।७६।२२

३ अलातचक्रवद् भ्राम्यत् सौभं दुरवस्थितम् ॥ भागवत १०।७६।२२

दुरभिमान जानकर मैंने उसे मारने का निश्चय कर लिया। फिर उसका पता लगाने पर ज्ञात हुआ कि शाल्व सौभ में बैठ समुद्र के द्वीप चला गया है। मैं सेना ले वहाँ गया, परन्तु मेरी सेना^१ को वहाँ सौभ नज़र न आया। आता भी कैसे? सौभ तो आकाश में भूमि से एक कोस^२ की ऊँचाई पर था। मैंने अपने तीक्ष्ण^३ बाणों से आकाश में घूम रहे सौभ में अनेक सूराख^४ कर दिए। उस समय तीक्ष्ण बाणों से बिंधे हुए मनुष्यों का चीत्कार बढ़ा। फिर उस विमान से चिल्लाते व्यक्ति नीचे समुद्र में गिरे और समुद्र में गिरते ही उन्हें समुद्र^५ के जन्तु खा गए।

अब सौभ एक दृक्ष के नीचे आया। शाल्व उससे भूमि पर उतर मुझसे युद्ध करने लगा। पर वह वहाँ देर तक न ठहर सका। युद्ध करता-करता फिर आकाश में उड़ गया। ऊपर जा उसने नीचे भयंकर गोले फेंके, परन्तु मैंने अपने बाणों से उन्हें पृथ्वी तक पहुँचने से पहले आकाश में ही चूर्ण कर नष्ट कर दिया। तब सौभ आकाश में बहुत ऊपर जाकर अदृश्य हो गया।

मैंने उसका वहाँ से फिर पीछा किया। जब उसे खोजते-खोजते मैं प्राग्योतिषपुर^६ पहुँचा, तो वहाँ वह फिर नज़र आया। तब मैंने सुदर्शन चक्र चला उसके विमान के दो टुकड़े^७ कर दिए। जलते हुए सौभ को आकाश से गिरता देख उस नगर की स्त्रियाँ भागने लगीं। तब मैंने गदा मारकर विमान के आकाश में ही हजारों टुकड़े^८ कर दिए।

१ न तत्र विषयस्त्वासीन्मम सैन्यस्य भारत।

२ खे विषके हि तत् सौभं क्रोशमात्र इवाभवत् ॥ महाभारत वन २०।१६

३ तं च षोडशभिर्विद्ध्वा बाणैः सौभं च खे भ्रमत् ॥ भागवत १०।७७।१४

४ अविध्यच्छार-सन्दोहैः खं सूर्य इव रश्मिभिः ॥ भागवत १०।७७।१४

५ पतितास्तेऽपि भक्ष्यन्ते समुद्राम्भोनिवासिभिः ॥ महाभा० व० अ० २०।३१

६ ततः प्राग्योतिषं गत्वा पुनरेव व्यदृश्यत ॥ महाभा० व० अ० २२।६

७ द्विधा कृतं ततः सौभं सुदर्शनबलाद्धृतम् ॥ महा० २२।३५

८ तत् कृष्णहस्तेरितया विचूर्णितं पपात तोये गदया विचूर्णितम्।

वह विमान चूर-चूर होकर समुद्र में गिर पड़ा, पर शाल्व फिर भी बच गया। क्योंकि वह विमान-विध्वंस से पहले ही पैराशूट द्वारा विमान से कूद^१ पड़ा था। पृथ्वी पर पहुँच गदा ले वह मुझसे लड़ने लगा। तब मैंने अपने 'सुदर्शन चक्र' से उसका सिर^२ काट दिया। इस प्रकार शाल्व के मारे जाने पर मैं आनर्त में आया और मुझे आपके जुए का पता लगा तो मैं हैरान हो गया और उसी समय वहाँ से इधर को चला आया।^३

(भागवतपुराण, स्कन्द १०, अ० ७६)

१ विसृज्य तद् भूतलमास्थितो गदामुद्यम्य शाल्वोऽच्युतमभ्यगाद् द्रुतम् ॥३४

२ जहार तेनैव शिरः सकुण्डं किरीटयुक्तं पुरुमायिनो हरिः ॥

भागवत १०।७७।३५

३ यह कथा महाभारत, वन-पर्व, अध्याय १४ से १२ तक भी है।

कृत्रिम उपग्रह उड़े

मय दानव केवल योद्धा ही नहीं, वैज्ञानिक भी था। मय की माया^१ की कहानियाँ पुराणों में यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। एक बार तारकामय-संग्राम में सैनिक के रूप में वह गया और असुरों की पराजय के साथ उदास तथा हताश होकर उसे युद्ध से लौटना पड़ा। अब उसे व्यक्ति के शारीरिक बल पर से आस्था उठ गई। वह किसी और बल की खोज के लिए तपस्या में तत्पर हुआ।

उसे वैसा तप करते देख उसकी देखा-देखी विद्युन्माली और तारक नाम के अन्य दो दानव भी उसी के साथ बैठ तप करने लगे। तीनों ने बहुत ही उग्र तपस्या की। तपस्या करते-करते तीनों वीर इतने कृश हुए कि उनके शरीर की सभी नस-नाड़ियाँ नज़र आने लगीं। वे तीनों निर्मास अस्थि-कंकाल दीखने लगे। उनकी उस तपस्या से बुद्धि के अधिष्ठाता सृष्टि-कर्ता ब्रह्माजी उनके पास आकर बोले, “मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। जो चाहो, वर माँग लो !”

यह सुन मय ने हाथ जोड़कर प्रार्थना की—“देव ! पिछले देवासुर-संग्राम में देवों की जीत तथा हमारी हार हुई थी। उसके बाद देवों ने बदला लेने के लिए बड़ी बुरी तरह से शस्त्रों द्वारा हम लोगों की हत्याएँ कीं। उनके भय से भागकर हम सब मारे-मारे फिर रहे हैं; किन्तु हम शरणार्थियों को न कहीं ज़रा चैन मिलता है और न किसी ने शरण दी है। इसलिए मैं अपनी तपस्या के प्रभाव से एक ऐसा दुर्गम त्रिपुर बनाना चाहता हूँ, जिसका देवता कुछ न बिगाड़ सकें।

१ मयो नाम महामायो मायानां जनकोऽसुरः ॥३

२ निर्मासाश्च ततो जाताः कृष्णाः धमनिसन्तताः ॥१०

३ शरणं नैव जानीमः शर्म वा शरणार्थिनः ॥ मत्स्यपु०, अ० १२८।१८

जिसमें भूमि के थलचर तथा जलचर मेरे विरोधी जीवों की पहुँच न हो, और न ही किसी ऋषि-मुनि का शाप व प्रभाव उस पर कुछ असर कर सके। देव ! पता नहीं, मैं स्वप्न देख रहा हूँ या सचमुच आपके दर्शन हो रहे हैं; पर यदि यह सत्य हो, तो मुझे मेरा मुँहमाँगा यही वर दें ! मेरे पुर देवों तथा उनके सभी पक्षपातियों से अजय हो जायें !”

यह सुन ब्रह्माजी हँसे और हँसते-हँसते कहने लगे—“अरे ! तुम तो अमर होना चाहते हो ; मगर किसी भी राग-द्वेष-पूर्ण, प्रतिशोध की भावना से भरे असत्वृत्त व्यक्ति को अमर नहीं किया जा सकता।”

पितामह की बात सुन ‘मय’ हाथ जोड़कर बोला—“यदि मेरे जैसे जीव अमर नहीं किये जा सकते, उनका नाश अवश्यम्भावी है, तो फिर यह वरदान दें कि शंकर के सिवाय मेरे उन पुरों को और कोई तोड़ न सके, परन्तु शम्भु एक बाण से एक साथ तीनों पुरों को जला सकें तो जला दें, किन्तु और सभी के लिए वे पुर अजय हों। कोई उनका बाल-बाँका न कर सके।”

ब्रह्माजी मान गए और यह वर उसे मिल गया। अब वह वैज्ञानिक सोचने लगा कि ऐसे दुर्गम पुर बनाऊँ जिनको एक बाण से बीँधा जाना सर्वथा असम्भव हो। इस विचार के मन में आने पर उसने आयस, राजत तथा सौवर्ण इन तीन पुरों का निर्माण किया। यह प्रत्येक पुर एक-एक^१ (हज़ार^२) योजन लम्बा-चौड़ा था।

मय के इन तीनों पुरों^३ में आठ-आठ, दस-दस मंजिल ऊँचे मकान थे, अटारियाँ^४ थीं। उपासना-गृह सभा-मण्डप, चित्रशाला, गलियाँ,

१ सर्वामरत्वं नैवास्ति असद्वृत्तस्य दानव । मत्स्य प० अ० १२६।१२

२ ऐकैकं योजनायामं सुन्दरं सुभगं पुनः ॥ शिव पु०, ज्ञा०, अ० १८।६५

३ विस्तारो योजनशतमेकैकस्य पुरस्य तु ॥ मत्स्यपु० अ० २८।३०

४ चित्रशालाविशाल्यानि चतुःशालोत्तमानि च ॥ १६

सप्ताष्टदशभौमानि सत्कृतानि मयेन च ॥ मत्स्य १६।१७

५ इनके प्रमाण मत्स्य २६; लिङ्ग पू० ७१; शिव ज्ञा० अध्याय १६ में देखें।

बाज़ार, सड़कें, चौक, क्रीड़ा-स्थान, बाग-बगीचे, कूप, तालाब, सर-सरिता सभी कुछ था। यात्रा करने व घूमने के लिए हाथी-घोड़े तथा रथ थे और लोकान्तर में जाने के लिए विमान^१ विद्यमान थे। नगरों से बाहर जाने के लिए अनेक नगर-द्वार थे। उनके बुर्जों पर मशीनगनें^२, चक्र और शत्रु को कँपा देने वाले विद्युतास्त्र थे।

मय के इन तीनों पुरों के तैयार हो जाने पर हज़ारों^३ दैत्य-दानव अपने पुत्र-कलत्रादि^४ परिवारों के साथ अपना सुतल^५ तथा वितल देश छोड़कर उन पुरों में आकर मय^६ के बतलाये घरों में खुशी-खुशी जा बैठे। यह सब काम हो जाने पर मय ने तारकासुर को संचालक बना पुष्य नक्षत्र के दिन अपना पहला 'आयसपुर' विज्ञान की शक्ति से उड़ाया। यह पुर ऊपर उठ, पृथ्वी से एक सौ योजन^७ ऊँचा जा, निराधार आकाश में हमारे चन्द्रमा की भाँति पृथ्वी^८ की प्रदक्षिणा २७ दिनों^९ में पूर्ण करने लगा। तदन्तर उसी समय मय ने विद्युन्माली^{१०} को चालक बना अपना दूसरा 'राजतपुर' आकाश में भेजा। यह पुर अपनी तीव्र गति के कारण पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के बन्धन तोड़कर आयस-पुर से सौ योजन ऊपर अन्तरिक्ष^{११} में पहुँच गया। फिर मय अपने

-
- १ सूर्यमण्डलसंकाशैर्विमानैर्विश्वतो मुखैः ॥ शिवपु०, ज्ञान, अ० १६।६६
 - २ अट्टालकैर्यन्त्रशताघ्निभिश्च सचक्रशूलोपलकम्पनैश्च ॥ मत्स्य २८।३५
 - ३ दिते सुता दैवतराजवैरिणः सहस्रशः प्राथुरनन्तविक्रमा ॥ मत्स्य २६।२७
 - ४ सकलत्राः सपुत्राश्च शस्त्रवन्तोऽथ कोपमाः ॥ २
 - ५ सुतलादपि निष्पत्य पातालाद्दानदालयात् ॥ ५
 - ६ मयादिष्टानि विविशुर्गृहाणि हृषिताश्च ते ॥ मत्स्य ३०।२।२
 - ७ पुष्ययोगेन निर्माणं पुराणां च भविष्यति ॥ मत्स्य १२८।३१
 - ८ तारकस्य पुरं तत्र शतयोजनमन्तरम् ॥ मत्स्य पु० १२६।१०
 - ९ पुष्ययोगेन च दिवि समेश्यन्ति परस्परम् ॥ मत्स्य १२८।३२
 - १० आयसं तु क्षितितले ॥ मत्स्य १२८।३४
 - ११ विद्युन्मालिपुरं चापि शतयोजनकेऽन्तरम् ॥ मत्स्य १२६।१०
 - १२ अन्तरिक्षे च राजतम् ॥ शिव ज्ञा० १६।६४

तीसरे 'सौवर्णपुर' में स्वयं बैठ उसे राजतपुर से भी सौ योजन और ऊपर द्युलोक में उड़ा ले गया ।

इस प्रकार ये दो पुर अपनी तीव्रतम गति के कारण पृथ्वी के आकर्षण की जंजीर को तोड़ सूर्य के उप-ग्रह बनकर अन्य मंगल, बुध आदि ग्रहोपग्रहों की तरह सूर्य के चहुँ ओर चक्कर लगाने लगे । तथा आयसपुर पृथ्वी के आकर्षण-प्रभाव में रहने के कारण उसके इर्द-गिर्द घूमने लगा । अतः अब ये पुर (राकेट) न रहकर, कृत्रिम उपग्रह बन गए । मंगल, चन्द्र आदि ग्रह-उपग्रहों से इन उपग्रहों का इतना ही भेद था कि वे सब सृष्टिकर्ता ने स्वयं बनाये थे और ये कृत्रिम उपग्रह उस सृष्टिकर्ता की आज्ञा से एक वैज्ञानिक की बुद्धि का चमत्कार थे । राजत तथा सौवर्णपुर आकाश में हमारी इस पृथ्वी की अपेक्षा बहुत तेज़ भागते थे । हमारी पृथ्वी ३६५ दिनों में सूर्य की प्रदक्षिणा कर अपना एक वर्ष बनाती है तो वे हमारे २७ दिनों में जोर की दौड़ लगा सूर्य की एक हजार परिक्रमा कर अपना पूरा एक हजार वर्ष बना लेते थे । इसी कारण २७ दिनों में पृथ्वी-परिक्रमा समाप्त करनेवाले अपने साथी 'आयसपुर' के साथ हर पुण्य नक्षत्र को एक सीध में आ, नर्मदानदी के महेश्वर स्थान से आकाश पर ऊपर-नीचे इकट्ठे तीन तारों से दीखने लगते थे ।

मय के बनाये इन तीनों पुरों में सब सुख से रहते थे । उन्हें वहाँ

१ कार्यस्तेषां विष्कम्भश्चैकैकशतयोजनम् ॥ मत्स्य १२८।२१

२ तथा वर्षसहस्रेषु समेष्याम परस्परम् ।

एकीभावं गमिष्यन्ति पुराण्येतानि चानघ ॥ लिङ्ग पु० पू० ७१।१६

३ पुण्ययोगेन च दिवि समेष्यन्ति परस्परम् ॥ मत्स्य १२८।३२

४ एतस्मिन्नन्तरे रुद्रो नर्मदातटमास्थितः ॥१

नाम्ना महेश्वर स्थानं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।

तस्मिन् स्थाने महादेवश्चिन्तयंस्त्रैपुरं वधम् ॥

पद्मपु०, स्वर्गख०, अ० १५।२१

किसी बात की कमी न थी। वे जो चाहते, मय^१ अपनी विज्ञान-शक्ति से वहाँ वही पैदा कर देता। त्रिपुर के निवासी सभी शिव की उपासना करते थे, वे परस्पर ईर्ष्या-द्वेष, दम्भ व कपट कभी न करते थे। इस प्रकार धर्म-भाव से रहते उनका बहुत समय व्यतीत हो गया। सदा मन की वृत्ति एक-सी नहीं रहती। इनमें अलक्ष्मी^२ तथा असूया ने प्रवेश किया इसलिए अब ये लालची हो गए और अपने को बड़ा बतलाने के उद्देश्य से दूसरों को बुरा बतलाने लगे। इससे उनमें लड़ाई-भगड़े होने लगे और लोभवश वे सब आपस में झूठ, दगा-फरेब करने लगे।

यह जान मय ने अपने तीनों पुरों के वासियों से कहा, “मैंने एक बहुत बुरा स्वप्न देखा है। इससे जान पड़ता है कि अब असुरों के दिन अच्छे नहीं रहे। इसलिए मैं आप सब की भलाई के लिए कहता हूँ। यदि आप मुझे अपना राजा मानते हैं, तो मेरी बात मानो, एक-दूसरे के दोष निकालना छोड़ दो। काम, क्रोध, ईर्ष्या, असूया का त्याग कर सत्यवादी संयमी बनो, स्वार्थरहित हो परमार्थ करो। यदि ऐसा न करोगे तो आप सब पर रुद्र की कोपाग्नि पड़ेगी।” परन्तु दानवों के मन तो देर से विगड़ चुके थे। उनमें स्वार्थ तथा अभिमान भरा पड़ा था। वे उन्मत्त-से हो रहे थे। उन्होंने अपने नेता की एक न सुनी। उलटे सत्य-धर्म को छोड़, जो न करना चाहिए था, वह भी करने लगे।

मय ने इन तीनों पुरों में लोकान्तर-गामी छोटे-छोटे विमान^३ (राकेट) तो रखे ही थे। उन्हीं के द्वारा वे दैत्य-दानव स्वर्ग और पृथ्वी

१ योऽयं प्रार्थयते कामं संप्राप्तास्त्रिपुरात्त्रयात् ।

तस्य तस्य मयस्तत्र मायया विदधाति सः ॥

२ अथालक्ष्मीरसूया च तृड्बुभुक्षे तथैव च ।

कलिश्च कलहश्चैव त्रिपुरं विविशुः सह ॥ मत्स्य० १३१।१७

३ यदि वोऽहं क्षमो राजा यदिदं वेत्थ चेद्धितम् ॥ मत्स्य १३०।३२

४ सूर्यमण्डलसंकाशौ विमानैर्विश्वतोमुखैः ॥ शि० पु०, ज्ञा०, १६।६६

पर आक्रमण करने लगे । मय के बार-बार रोकने^१ पर भी उन दुष्ट दैत्यों ने देवों^२ के घर और तपस्वी मनुष्यों के तपोवन नष्ट कर देवों और मनुष्यों को बहुत ही कष्ट दिये ।

तब देवता उनके अत्याचारों से भयभीत होकर ब्रह्माजी के पास गये । ब्रह्माजी ने मयासुर को दिये अपने वर तथा शंकर के हाथों त्रिपुर-नाश की बात बता देवों को शिवजी के पास त्रिपुर-नाश के लिए प्रार्थना करने भेजा । देवों से असुरों के अत्याचार की बात सुन शंकर ने भयंकर रुद्र-रूप धारण कर लिया और नर्मदा-तट पर पहुँच जब आयस, राजत तथा सौवर्ण पुण्य-नक्षत्र में एक क्षण के लिए एक सीध^३ में इकट्ठे हुए तभी रुद्र ने एक^४ वाण से उसी क्षण तीनों पुरों को जला कर^५ भस्म कर डाला ।

(मत्स्यपुराण, अध्याय १२८)

१ मयेन वार्यमाणापि ते विनाशमुपस्थिताः ॥४७

२ स्वर्गं च देवतावासं पूर्वदेववशानुगः ।

विध्वंसयन्ति संक्रुद्धास्तपोधनवनानि च ॥४८

देवास्तपोधनांश्चैव बाधन्ते त्रिपुरालयाः ॥ मत्स्य १३०।४६

३ यदा त्रीणि समेतानि अन्तरिक्षचराणि च ।

४ त्रिपुराणि त्रिशल्येन तदा तानि विभेद सः ॥६

५ प्रदीप्तं सर्वतो दिक्षु दह्यते त्रिपुरं पुरम् ॥ पद्म० स्व० १५।२१

निश्शस्त्रीकरण

प्राचीन काल की बात है, देवासुर-संज्ञाम देव ने चला रहा था। कभी देव जीतते, असुर हारते और कभी असुर जीतते तो देवों को हारना पड़ता। युद्ध में कोई जीते या हारे, पर धन-जन को शान्ति में रखित दोनों में से एक न रहता था। इसीलिए युद्ध से दोनों कतराने लगे। वे युद्ध ही नहीं, युद्ध के नाम से भी डरने और उसी पूर्णतया भुगना करने लगे। जो बात उन्हें शास्त्र की 'जीवदया' तथा 'अस्तेय' न सिखा सके थे, वह उन्हें अपनी-अपनी क्षतियों ने सिखायी। पर 'शान्ति' का भी त्याग देखो, उसने उसका यश आप न लेकर शान्ति को दे दिया। इसीलिए दोनों में से कोई यह न कहता, कि मैं अपनी 'शान्ति' के बिना ही से युद्ध बन्द करना चाहता हूँ, किन्तु सभी अपने को शान्ति का उपायक बना, उसी के नाम पर युद्ध बन्द करने की अपीलें करीं थे।

फिर क्या था, दोनों ओर से विश्व-शान्ति के नाम पर बड़ी-बड़ी अपीलें निकलीं। भाषणों की भरमार हुई। सम्मेलनों-सभाओं का ताँता लग गया। निश्शस्त्रीकरण पर बल दिया जाने लगा। देव तो थे ही, नर-भक्षी असुर देवों से भी आगे बढ़ गए। 'जीयो और जीने दो' की घोषणा से सारा ब्रह्माण्ड गूँज उठा। "मा हिंस्यात् सर्वभूतानि!" "मा गृधः कस्यस्विद् धनम्", "मातृवत्परदारम्", "भुञ्जतां भ्रातृभावेन" इन चार वचनों की सुत्र बन आई। दोनों पक्ष बार-बार यह कहते—जिस प्रजापति कश्यप की संज्ञान हम हैं, उसी की जो आप

१ मा हिंस्यात् सर्वभूतानि मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।

२ मातृवत् परदारेषु वर्त्तितव्यं सदा वयं ॥ नान्दिक ० पु० १०० ४७

३ भुञ्जतां भ्रातृभावेन किं संख्यैः धनापहैः ॥ नान्दिक ० पु० १०० ४८

४ वयं कश्यपदायादाः यूयं सर्वे तथैव च ।

यथा वयं तथा यूयं विग्रहो हि निरर्थकः ॥ नान्दिक ० पु० १०० ४९

भी हैं, हम भाई-भाई ठहरे, फिर व्यर्थ परस्पर क्यों लड़ें ? जैसे हम, वैसे ही आप हैं; हम सब के संसार में समानाधिकार हैं, फिर आपस में ईर्ष्या-द्वेष क्यों करें ? दोनों ओर की इन चिकनी-चुपड़ी बातों से देवों और दैत्यों में समझौता हो गया। निश्चय हुआ कि कोई एक-दूसरे की सीमा में बिना अनुमति न घुसे। कोई दूसरे के देश के कर्तव्य कार्यों में हस्तक्षेप न करे। और नहीं कोई राज्य दूसरे राज्य को हथियाने का प्रयत्न करे। क्योंकि युद्ध का अब सर्वथा-सर्वदा के लिए त्याग कर दिया गया है। इसलिए देव और दानव दोनों में से कोई भी आज के बाद किसी प्रकार का कोई शस्त्र वा अस्त्र न बनायेगा। और जो पहले के बने हुए हैं, उन्हें दोनों ही यथासम्भव शीघ्रातिशीघ्र नष्ट कर देंगे।

इस प्रकार यह समझौता हो गया; पर यह धार्मिक उद्देश्य से नहीं, राजनैतिक दृष्टिकोण से हुआ था, इसीलिए मन की मैल किसी की दूर न हुई थी। ऊपर से प्रेम तथा सफाई की बातें दोनों दलों के नेताओं ने एक दूसरे से खूब बढ़-चढ़कर कीं। फिर भी दोनों दलों के मन शंका से शून्य न हो सके। यह सच्चे हृदय से चाहते हुए भी कि अब कभी युद्ध न हो, एक-दूसरे के आक्रमण करने की आशंका से अपनी सुरक्षा के लिए शस्त्र बनाने लगे। शस्त्र-अस्त्र पहले भी बनते थे और फिर भी बनते रहे; पर भेद केवल यह हो गया, कि 'आगे बनते थे डंके की चोट से, शत्रु-संहार के लिए, और अब लुके-छिपे स्व-रक्षा के लिए बनाये जाने लगे। ऊपर-ऊपर से शान्ति का स्वाँग रचने वालों के भीतर ही भीतर अशान्ति की लहर दौड़ने लगी। परस्पर के भय और आशंका ने शान्ति को पास तक न फड़कने दिया। इसलिए ज्यों-ज्यों सुरक्षा के नाम पर दोनों के शस्त्रास्त्रों में वृद्धि होती गई, त्यों-त्यों उस वृद्धि के बल पर छोटी-छोटी बातों पर दोनों में अधिकाधिक तनाव तथा मन-मुटाव बढ़ने लगा।

देवों को इस तरह अशान्त देख देवगुरु ने कहा—“देवगण ! वैर

से वैर^१ नहीं मिटाया जा सकता, वह प्रेम वा वैराग्य से ही मिटा करता है। परन्तु जब तक तुम्हें अपने ये शस्त्रास्त्र दीखते हैं, तब तक तुम्हारी 'जिगीषा' न मिटेगी। अतः यदि तुम शान्त रहना चाहते हो तो इन विनाशकारी शस्त्रों को न केवल बनाना ही सचमुच बन्द कर दो, अपितु पहले के बने सब के सब शस्त्र भी स्वर्ग से निकाल बाहर करो; क्योंकि शान्ति हत्या से नहीं, प्रेम से मिलती है और यही समझौता भी हुआ था।" गुरु की बात सुन कर देवों ने अपने शस्त्रास्त्र स्वर्ग से निकाल देने का तो निश्चय कर लिया; परन्तु यह विनाशकारी सामग्री जहाँ जायेगी, वहीं अनर्थ का हेतु बनेगी—इसलिए अब यह सोचा हुआ कि इन शस्त्रास्त्रों को भेजा कहाँ जाय? नारद ने सलाह दी, इन्हें भारत भेजो, क्योंकि वहाँ के ऋषि-मुनियों में इनके शमन करने की शक्ति है। सभी को यह बात पसन्द आ गई। परन्तु भारत में इन्हें किसको दें, वा वहाँ ये कहाँ रखे जायें—इसका विचार करने के लिए कुछ देवता भारत भेजे गए। उन्होंने यह निश्चय किया कि इनको नगरों में या राजाओं के पास रखना उचित नहीं; क्योंकि जब हम देवताओं में ही इन शस्त्रों की विद्यमत्ता अभिमान क्रोध और द्वेष उत्पन्न किये बिना नहीं रही, तो मनुष्य तो विचारे रजोगुण-प्रधान पहले ही ठहरे! वे उन दोषों से कैसे बच सकेंगे? अब देवता नगरों का खयाल छोड़ जंगलों में पहुँचे। वहाँ उन्होंने निःस्पृह, वीतराग, निर्द्वन्द्व, सर्वभूत-हितैषी ब्राह्मणों को देखा। तब उन्हें विश्वास हो गया कि इनके पास पड़े शस्त्रास्त्र संसार को क्षति पहुँचाने के प्रयोग में न लगाये जायेंगे। जब वे उस वन में घूमते-घूमते 'दधीच'^२ ऋषि के आश्रम^३ के समीप पहुँचे तो उनके आश्चर्य का कोई ठिकाना न रहा।

१ न विद्वेषेण विद्वेषः शाम्यतीति मतिर्मम ।

स शाम्यति सौहार्देन वैराग्येणाथवा पुनः ॥ न० पु० २१।८

२ तथेति गत्वा ते सर्वे दधीचस्याश्रमं शुभम् ।

नानासत्त्वसमायुक्तं वैरभावविवर्जितम् ॥४०

उन्होंने देखा कि वहाँ शेर तथा हथिनी के बच्चे आनन्द से एक साथ जुड़कर बैठे हैं । साँप और नेवले परस्पर मिलकर खेल रहे हैं । इस प्रकार स्वाभाविक वैरियों को मुनि के तपःप्रभाव से हिंसा-निवृत्त देखकर वे मन्त्र-मुग्ध से रह गए और उन्होंने स्वर्ग में जाकर कहा कि ऋषि-आश्रम में पड़े शस्त्र किसी को हानि न पहुँचा सकेंगे । उनकी सम्मति से स्वर्ग के सभी शस्त्रास्त्र लाकर आश्रम^१ के पास वन में ढेर कर दिये गए । अब स्वर्ग शस्त्रों से बिल्कुल खाली हो गया ।

उन शस्त्रों को देर से वहाँ पड़ा देख और यह सोचकर कि जबतक इन भयंकर शस्त्रों की सत्ता संसार में रहेगी, तब तक संसार युद्ध के पंजे में फँसा रहेगा, इसलिए इनका नष्ट कर देना ही विश्व के लिए कल्याणकारी है—इस लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित हो महर्षि दधीच ने अपनी तपोग्नि से सभी शस्त्रास्त्रों को पिघलाकर पानी कर डाला और उनका सत्त्व वह स्वयं पी गए । अब शस्त्र वहाँ न रहे, नष्ट कर दिये गए ।

उधर दानव तो, दानव थे ही । भला वे युद्ध के बिना कब तक रहते ? जब तक वे निर्वल थे, तब तक तो अहिंसा के गीत अलापते रहे; पर ज्योंही उनमें ज़रा शक्ति आयी, वे फिर लड़ाई के लिए कोई बहाना ढूँढ़ने लगे और जब कोई लड़ने पर उतारू ही हो जाये तो फिर बहाना ढूँढ़ने में क्या देर लगती थी । भट उन्हें एक बहाना सूझा—देर हुई, कभी इन्द्र ने एक ब्राह्मण को क्रोधान्ध होकर मार डाला था । उसके लिए केवल देवों में ही नहीं, विश्व-भर में उसकी निन्दा हुई । उसे स्वर्ग का राज्य छोड़ना पड़ा । एक नहीं, अनेक वर्ष

एकपद्येन सिंहश्च गजिन्यः कलभैः सह ।

नकुलैः सह सर्पाश्च क्रीडां युक्ताः परस्परम् ॥ न० पु० २१।४२

पश्यन्तो विबुधा सर्वे विस्मयं परमं ययुः ॥ न० पु० २१।४३

१ तदा तदाश्रमाभ्यासे स्थापितान्यायुधानि तैः ॥२२।१०

२ संचित्य विश्वं भयदानि तानि । अस्त्राणि सर्वाणि द्रवीकृताणि ॥

न० पु० २२।४६

वह दीन-हीन होकर दुःख भोगता रहा। इतना दण्ड भोग कर उसे फिर अपनी जगह मिली। यह सजा उसके लिए कम न थी। इसे दानव भी जानते थे। पर उन्हें तो युद्ध का बहाना चाहिए था। इसलिए उन्होंने कहना शुरू किया—इन्द्र ने हमारे विश्वरूप को मारा था, हम उससे उसका बदला लेंगे—यों कहकर उन्होंने विश्वरूप के छोटे भाई वृत्रासुर को अपना नेता बना स्वर्ग पर आक्रमण करने का निश्चय किया। चरों द्वारा आक्रमण की बात जान देव बहुत घबराये। सोचने लगे—उन सशस्त्रों से हम निःशस्त्र कैसे लड़ें! स्वर्ग में तो एक भी शस्त्र नहीं। उस समय हमने भारी भूल की जो अनेक शस्त्रास्त्र^१ इकट्ठे कर दधीच के आश्रम में फेंक आये। अब क्या करें! तब कुछ देव शस्त्र लेने के लिए भारत भेजे गए। वहाँ जाकर जहाँ शस्त्र^२ रखे थे, उस स्थान को उन्होंने शस्त्रों से खाली देखा तो वे व्याकुल हो दधीच मुनि के पास लाकर पूछने लगे—मुनिवर! कुछ काल पहले हम स्वर्ग के सभी शस्त्रास्त्र यहाँ रख गए थे। आप बता सकेंगे कि उन्हें कौन ले गया है? महर्षि बोले—ले जाने वाला कौन था भाई, मैंने यह सोचकर—कि अहिंसा-प्रधान आश्रम के पास हिंसा-प्रधान शस्त्रों का क्या काम है, ये देर से यहाँ व्यर्थ ही पड़े हैं—उन्हें नष्ट कर डाला है।

यह सुन वे देवता हताश तथा निराश होकर इन्द्र के पास लौट गए और उन्होंने इन्द्र को यह सब बात जा सुनायी। यह सुनते ही इन्द्र के पाँव-तले की मिट्टी निकल गई और वह विपत्ति से त्राण पाने के लिए दौड़े-दौड़े ब्रह्मा के पास गये तथा उनसे इस विपत्ति से निस्तार पाने का उपाय पूछने लगे।

ब्रह्मा बोले—देवराज ! घबराओ नहीं। सदा यह बात याद रखो कि कल्याण का कार्य करनेवाले की कभी दुर्गति नहीं होती। तुमने

१ तदस्माभिरकार्यं वै कृतमस्तिदुरासदम् ।

२ शस्त्राण्यस्त्राण्यनेकानि संक्षिप्तानि ह्यबुद्धितः ॥ २२।६०

गत्वा देवास्तदा सर्वे नापश्यन् स्वं स्वमायुधम् ॥ म० २२।७१

विश्व-शान्ति के लिए जो समझौता किया था, वचन के भूठे दैत्य उसे तोड़ रहे हैं, तो कोई बात नहीं। शस्त्र नहीं, तो क्या हुआ ? जिसके आश्रम के पास तुम शस्त्र रख आये बताते हो, वह अकेले तपस्वी अपने बलिदान से ३३ करोड़ देवों को बचा सकते हैं। तुम उनके पास शीघ्र जाओ और उनसे देवों की रक्षा के लिए उनकी हड्डियाँ माँग उनसे एक शस्त्र बनाकर दैत्यों से लड़ो। उस तपस्वी की हड्डियों से वे सभी अपने-आप मर जायेंगे ! अब इन्द्र देवों को साथ ले दधीच के पास आकर बोले—ऋषिवर ! इस समय स्वर्ग पर विपत्ति के बादल छाये हुए हैं। असुरों ने स्वर्ग पर चढ़ाई की है। वे सब सशस्त्र और हम सब निःशस्त्र हैं। अतः हमारा त्राण कीजिये। नहीं तो हम सभी अभी मारे जायेंगे। ऋषिवर, हमें बचाइये ! दधीच ने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा—देवगण ! घबराने की कोई बात नहीं ; कहिये, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ? मेरे योग्य जो कार्य हो उसे हुआ ही समझिये। मैं प्राण देकर भी आपकी रक्षा कर सकूँ, तो अपना अहोभाग्य समझूँगा। इन्द्र ने कहा—महर्षिवर ! आप जानते ही हैं कि हम सब निःशस्त्र हैं। हमें शस्त्रहीन जान असुर शस्त्र ले हमें मारने आ रहे हैं। इनके इस आक्रमण-काल में हमारा युद्ध के लिए शस्त्र बनाने बैठना 'आग लगने पर कूप खोदने' के समान होगा। अतः इस विपत्ति से त्राण पाने का उपाय पूछने के लिए हम ब्रह्माजी के पास गये थे। पितामह ने बतलाया है कि यदि आप हमारी रक्षा के लिए अपना बलिदान कर दें और हम आप की हड्डियों का वज्र बना उसका असुरों पर प्रहार करें तो हमारा त्राण होगा। हम जीत भी सकेंगे। यह सुन दधीच बोले—यदि मुझ एक की मृत्यु से सभी देवों को सुखी बनाया जा सके तो मुझ-सा भाग्यवान् कौन होगा ! लो, अभी मेरी हड्डियाँ निकाल ले जाओ।

इन्द्र ने कहा—महर्षे ! मैं ब्रह्म-हत्या से बहुत डरता हूँ। दधीच बोले—देवराज ! ब्रह्महत्या काहे की ! लो, मैं समाधि द्वारा स्वयं प्राण त्यागे देता हूँ। तुम देश तथा धर्म रक्षा के लिए मेरी हड्डियों का

वज्र बना लो । मेरी हड्डियों की चोट से अत्याचारी अवश्य मारे जायेंगे ।—यों कह मर्हिष दधीच ने अपने प्राण दे दिए ।

देवों ने उनकी हड्डियों से वज्र बना लिया, यह देख इन्द्र कुछ सोच अपनी समस्या सुलभाने ब्रह्माजी के पास फिर गया और उन्हें कहने लगा—पितामह ! दधीच की हड्डियों से यह वज्र तो बन गया और आप जैसा कहते हैं—इसकी चोट से वृत्रासुर भी अवश्य मर जायेगा ; पर मैं उसे कैसे मारूँ ? वह ब्राह्मण ठहरा । आगे ही एक ब्राह्मण की हत्या से वर्षों बाद मरण-तुल्य कष्ट भोगकर कठिनता से छुटकारा मिला है, फिर जान-बूझकर यह दूसरा महापाप कैसे करूँ ?

इन्द्र की बात सुन ब्रह्माजी ने उसे समझाया—देवराज, यदि कोई व्यक्ति मारने की इच्छा से आ रहा है, तो फिर वह चाहे ब्राह्मण ही क्यों न हो, आत्म-रक्षा के लिए उसे मारने में कोई दोष नहीं होता ।^१ यह एक साधारण नियम है ; फिर तुम तो देश-रक्षा के लिए युद्ध कर रहे हो । ब्रह्माजी का यह वचन सुनकर इन्द्र ने वृत्रासुर से युद्ध किया और वृत्र उन हड्डियों के वज्र से मारा गया । अन्य असुर भी बहुत मरे, जो बचे वे भाग गए । असुरों की हार और निहत्थे देवों की जीत देख सभी ने कहा—असुरों ने जो वचन भंग किया, उन्हें उसी-का भगवान् ने यह फल दिया है ।

(नन्दिकेश्वरपुराण, अध्याय १६)

१ आततायिनमायान्तं ब्राह्मणं वा तपस्विनम् ।

हंतुकामं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत् ॥ नं० पु० २३।२५

मुझे राज्य नहीं, शान्ति चाहिए

धर्मध्वज जनक के दो पुत्र थे। बड़े पुत्र को अमितध्वज तथा छोटे को कृतध्वज कहते थे। कृतध्वज के पुत्र केशिध्वज अध्यात्म-विद्या में परम निष्णात थे और अमितध्वज के पुत्र खाण्डिक्य कर्मकाण्ड में बड़े निपुण थे। ये दोनों सम्बन्ध में भाई-भाई तो थे, पर थे लोभ तथा ईर्ष्याविश परस्पर परम शत्रु। एक बार केशिध्वज ने अपने ताऊ के पुत्र खाण्डिक्य पर सहसा आक्रमण किया और उसे परास्त कर उसका राज्य छीन लिया। राज्य-भ्रष्ट हो खाण्डिक्य प्राण बचा पुरोहित तथा मन्त्रियों के साथ एक दुर्गम वन में भाग गया और मारे डर के वहीं रहने लगा। उधर केशिध्वज ने अकण्टक राज्य पाकर ज्ञान-निष्ठ होते हुए भी निष्काम भाव से अनेक यज्ञों का अनुष्ठान किया।

एक बार जब वह अपने यज्ञ में दीक्षित हो यज्ञ कर रहा था, उसे सूचना मिली कि इस यज्ञ के लिए दूध देने वाली गाय को वन में बाघ ने मार डाला है। व्याघ्र द्वारा यज्ञ-धेनु के मारे जाने को राजा ने यज्ञ-कार्य में विघ्न समझा और इसकी रक्षा में अपने प्रबन्ध की शिथिलता मान उसने ऋत्विजों से इसका प्रायश्चित्त पूछा। ऋत्विज बोले—“महाराज ! प्रायश्चित्त बताना धर्मशास्त्री का काम होता है। इसलिए इसका प्रायश्चित्त आप धर्मशास्त्री ‘कशेरु’ से पूछिये।”

राजा ने जब ‘कशेरु’ से पूछा तो उन्होंने कहा, “महाराज ! ग्वाले की असावधानी से व्याघ्र द्वारा मारी गई गाय के पाप से राजा प्रत्यवायी भी है या नहीं, इसका निश्चय मैं नहीं कर सका और न ही गाय की

मृत्युसे यज्ञ के विघ्न का ही । इसलिए आप यह स्मृतिशास्त्र के विशेषज्ञ 'शुनक' से पूछिये ।" राजा ने शुनक से पूछा तो वे बोले—“राजन ! धन कमाने व मान पाने के लालच से ज्योतिष, कानून, प्रायश्चित्त और औषध बिना जाने बतलाने से बड़ा और कोई दुस्साहस नहीं ।^१ ऐसा करने वाला दूसरों के सुख, धन, धर्म तथा प्राणों से खिल-वाड़ करता है । इसलिए विद्वान् कशेरु ने आपसे ठीक कहा । इस प्रायश्चित्त को न कशेरु, और न मैं और न ही हमारे यहाँ कोई और जानता है । इसे केवल आपका शत्रु खाण्डिक्य जानता है; जिज्ञासा हो तो उससे पूछिये ।”^२ शुनक की बात सुन राजा उसी समय उस दीक्षित वेश में मृगछाल ओढ़े ही रथ पर चढ़कर वन जाने को तैयार हो गया । उसे पुकार शत्रु के पास वन में अकेले जाते देख, मन्त्रियों ने कहा—“महाराज ! आपका इस तरह शत्रु के पास अकेले जाना खतरे से खाली नहीं है । वह चिढ़ा तो है ही, बदला लेने के लिए वार कर बैठा तो क्या होगा ?” राजा बोले—“होगा क्या । धर्म-जिज्ञासा करने गया, मैं मारा गया तो मुझे सद्गति मिलेगी; और यदि उन्होंने मेरी करनी भूल, कृपाकर मुझे प्रायश्चित्त बतला दिया तो प्रायश्चित्त करने से यह यज्ञ साङ्गोपाङ्ग पूर्ण हो जायेगा ।” जब मन्त्रियों ने राजा का यह निश्चय सुना, तो उन्होंने फिर निवेदन किया—“आप अपने साथ सेना न सही, अङ्गरक्षक तो लेते ही जाइये ।” राजा बोले, “अङ्गरक्षक क्या, मैं तो अन्दखूबा भी न पहन, इसी वेश में मृगछाल ओढ़े ही जाऊँगा । मैंने वहाँ राजसी ठाठ नहीं दिखाना, उनसे विनीत भाव से कुछ सीखने जाना है ।” यों कह वह रथ पर सवार हो अकेला ही वन में चला गया ।

१ ज्योतिषं व्यवहारं च प्रायश्चित्तं चिकित्सितम् ।

अजानत् यो नरो ब्रूयात् साहसं किमतः परम् ॥ पराशर ८।८४

२ न कशेरुर्न चैवाहं न चान्यः साम्प्रतं भुवि ।

वेत्त्येकश्चैव त्वच्छत्रुः खाण्डिक्यो योजितस्त्वया ॥ विष्णुपुराण ३।६।१७



खाण्डिक्य को उसके आने का पता तब लगा जब केशिध्वज उससे दस-बीस कदम ही दूर था। उसे देख खाण्डिक्य को यह सन्देह हुआ कि केशिध्वज उसे बन्दी बनाने व मारने आया है। पर अब वहाँ से भागकर जान बचाना असम्भव था। फिर 'मरता क्या न करता', खाण्डिक्य ने अपने धनुष पर बाण चढ़ा क्रोध से लाल-पीले होकर कहा, "केशिध्वज ! तू मेरा राज्य लेकर भी तृप्त नहीं हुआ ? पापी ! अब प्राण लेना चाहता है ? पर मैं तेरे हाथों यों ही नहीं मरूँगा। पामर ! तेरी जान लेकर जाऊँगा। आततायी ! संभलकर आ ! मैं आज तुझे अवश्य मौत के मुँह में भोंककर छोड़ूँगा। मृगछाल^१ ओढ़कर अपने को अवध्य समझने वाले मूढ़ ! इस खाल को कवच मत समझ ! क्या यह खाल^२ मृगों की पीठ पर नहीं होती ? तू ही बता, तूने आज तक वे कितने मारे हैं ? ढोंगी कहीं का ! " केशिध्वज ने कहा, "महाराज ! मैं यहीं खड़ा हूँ। अभी बाण मत छोड़िये ; मेरे पास धनुष व अन्य कोई शस्त्र नहीं। मैं आपका कोई अनिष्ट करने नहीं आया, किन्तु एक संशय निवृत्त करने के लिए सेवा में उपस्थित हुआ हूँ ! "

खाण्डिक्य ने उसी समय अपने धनुष से बाण उतारते हुए कुछ कहना चाहा, इतने में खाण्डिक्य के मन्त्रियों ने उसे समझाया, "राजन् ! शत्रु इस समय हमारे वश में है, इससे बदला लेने का यह बहुत ही अच्छा मौका है। अतः केशिध्वज को अभी मार डालें। इसके मारे जाने पर आपका राज्य आपको पुनः प्राप्त हो जायेगा।" परन्तु खाण्डिक्य यह नहीं माना। उसने अपना धनुष-बाण भूमि पर फेंकते हुए कहा, "मैं जिज्ञासु का स्वागत करता हूँ। कहो, क्या पूछना चाहते हो ?"

यह सुन केशिध्वज अपने स्थान से हिला और खाण्डिक्य के पास आकर उसने बड़ी नम्रता से गौ-हत्या का प्रायश्चित्त पूछा।

खाण्डिक्य ने वह बताकर उसे उसकी सब विधि भली प्रकार समझा दी। केशिध्वज ने घर आकर विधिपूर्वक उसे पूर्ण किया। फिर

१ कृष्णाजिनधरे वेत्ति न मयि प्रहरिष्यति।

२ मृगानां वद पृष्ठेषु मूढ ! कृष्णाजिनः न किम् ॥ नारद पु० ४६।५०

यज्ञ समाप्त हो जाने पर, अवभृथ स्नान कर, दिल खोलकर ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा दी। अब उसने सोचा—मैंने ऋत्विजों को दक्षिणा और याचकों को मुँह-माँगी वस्तुएँ दीं। यज्ञ के सभी कृत्यों को विधि-विधान से पूर्ण किया; फिर भी पता नहीं, मेरा मन यह क्यों अनुभव कर रहा है कि मेरा कृत्य अभी अधूरा रह गया है। यों सोचते-सोचते उसे ध्यान आया, 'ओः ! मुझे खाण्डिक्य को गुरु-दक्षिणा देनी थी वह नहीं दी, उसे भूल ही गया था।' यह विचार आते ही राजा फिर खाण्डिक्य के पास वन में गया। उसे सशस्त्र आते देख खाण्डिक्य ने फिर धनुष उठाया, तब केशिध्वज ने हाथ जोड़कर कहा, "शंका न कीजिये ! मैं आपका अहित करने नहीं, किन्तु गुरु-दक्षिणा देने आया हूँ। मेरा यज्ञ आपकी कृपा से सम्पूर्ण हुआ। आप जो चाहें, गुरु-दक्षिणा में मुझसे माँग लें।" केशिध्वज की बात सुन खाण्डिक्य ने अपने साथियों से पूछा कि गुरु-दक्षिणा में मैं क्या माँगूँ ? मन्त्रियों ने उसे सलाह दी कि आप केशिध्वज से उसका सम्पूर्ण राज्य माँग लीजिये। यह सुन खाण्डिक्य ने अपने मन्त्रियों से हँसकर कहा, "पृथ्वी का राज्य थोड़े दिन रहने वाला है उसे मेरे जैसा व्यक्ति कैसे माँग सकता है ?" यों मन्त्रियों से कह उसने केशिध्वज से पूछा, "क्या मैं जो माँगूँ वह मुझे मिल सकेगा ?"

केशिध्वज ने उत्तर दिया, "यदि मेरी सामर्थ्य में होगा तो मैं आपको अवश्य दूँगा।"

खाण्डिक्य बोला, "आप अध्यात्मज्ञान के विशेषज्ञ हैं। यदि आप मुझे कुछ देना ही चाहते हैं तो जो कर्म सम्पूर्ण क्लेशों का नाश करने में समर्थ हो, उसका उपदेश मुझे दीजिये !"

केशिध्वज ने उसे जाँचने के लिए पूछा, "आपने मुझसे मेरा

१ खाण्डिक्योऽपि पुनर्दृष्ट्वा तमायान्तं धृतायुधम् ॥ ना० पु० ४६।६७

२ तमूचुर्मन्त्रिणो राज्यमशेषं याच्यतामयम् ॥ ना० पु० ४६।७१

३ तत्क्लेशप्रशमनालं यत्कर्म तदुदीरय ॥ ना० पु० ४६।७६

निष्कण्टक राज्य^१ क्यों नहीं माँग लिया ?”

खाण्डिक्य ने उत्तर दिया, “राजा उसे बनाना चाहिए, जो प्रजा^२ का पालन कर सके, और देश पर आक्रमण करने वालों का तुरन्त दम निकाल दे। मैं अपनी निर्बलता के कारण ये दोनों न कर सका। आपसे हारकर भाग आया।^३ इस दशा में अब मेरा फिर राज्य^४ की इच्छा करना अपने कर्तव्य-पालन व प्रजा के सुख के लिए नहीं, केवल अपने सुख-भोग के लिए होगा; किन्तु वह मेरे जैसे व्यक्ति कैसे कर सकते हैं ? अतः अब मैं राज्य नहीं, शान्ति चाहता हूँ।^५ कृपया मुझे अध्यात्मविद्या का उपदेश दीजिये !” यह सुन परम प्रसन्न हो केशिध्वज ने उसे अध्यात्म-विद्या का उपदेश दिया, जिससे खाण्डिक्य का चञ्चल मन स्थिर हो, परम शान्ति का अनुभव करने लगा।

(नारदीयपुराण, अध्याय ४६)

१ न प्रार्थितं त्वया कस्मात्मतः राज्यमकण्टकम् ॥

वि० पु० ६।७।१; ना० ४६।७७

२ क्षत्रियाणामयं धर्मो यत्प्रजापरिपालनम् ।

वधश्च धर्मयुद्धेन स्वराज्यपरिपन्थिनाम् ॥

ना० पु० ४६।७६; वि० पु० ६।७।३

३ तत्राशक्तस्य मे दोषो नैवास्त्यपहृते त्वया ॥ ना० पु० ४६।८०

४ जन्मोपभोगलिप्सार्थमियं राज्यस्पृहा मम ।

अन्येषां दोषजा सैव धर्मं वै नानुरुध्यते ॥ वि० पु० ६।७।५

५ अतो न याचितं राज्यमविद्यान्तर्गतं तव ॥ वि० पु० ६।७।६

कश्यप का काश्मीर

जलप्रलय के अनन्तर कालक्रम से भारत के प्रायः अन्य सभी प्रांत निवास-योग्य हो चुके थे, किन्तु भारत के उत्तर का एक भू-भाग चारों ओर से पर्वतों द्वारा घिरा होने के कारण अभी भी एक महाकाय भील का रूप धारण किये बैठा था ।^१ दैवयोग से उस भील के जल में डूबी भूमि के भीतर एक आग्नेय उत्पात हुआ ।^२ उससे उस भील के दक्षिण-पश्चिम तट की पर्वत-श्रेणी में एक दरार हो गई । उस फटे भाग को अधिक फाड़कर भील का जल अग्नि-उत्पात से भयभीत हो वहाँ से निकल भागा ।^३ अब वहाँ जल के स्थान पर स्थल दिखायी देने लगा । पुराणों की परिभाषा में अग्नि को रुद्र तथा उसकी शक्ति को सती कहा जाने के कारण भारत के पौराणिक पण्डितों ने यह जानकर, कि यहाँ सती की कृपा से भूमि निकली है^४, इस प्रांत का नाम 'सती देश'^५ रखा था । बाद में कश्यप के उपकारों की स्मृति को स्थिर बनाये रखने के उद्देश्य से ऐतिहासिकों ने उस सती देश का नाम काश्मीर रख दिया । कारण यह कि पहले-पहल प्रजापति कश्यप ने अति-घोर तपस्या से काश्मीर का निर्माण किया था ।^६

१ आसीत्सरः पूर्णजलं सुरम्यं सुमनोहरम् ॥ ३५

२ कुरुष्व लांगलेभ त्वं विदार्याद्य हिमालयम् ।

इदं सरोवरं दिव्यं निष्ठोयं शीघ्रमेव तु ॥ २१८

३ विदारिते पर्वतराजराजे विनिर्ययौ तज्जलमाशुवेगात् ॥ २२१

४ नौ देहेन सतीदेवी भूमिर्भवति पार्थिव ॥ ६४

५ सतीदेश इति ख्यातं देवक्रीडं मनोहरम् ॥ ६६

६ कः प्रजापतिरुद्दिष्टः कश्यपश्च प्रजापतिः ।

तेनाऽसौ निर्मितो देशः कश्मीराख्यो भविष्यति ॥ नीलमतपु० २६२

उन्होंने अपने दल-बल से इस दलदल-प्राय प्रान्त में भूतल के भीतर कल-कल नाद कर इधर-उधर बह रहे जलों को काट उन्हें गर्तों, सरों तथा हृदों में एकत्र कर इस देश को लोगों के निवास-योग्य बनाया था, और चारों ओर पर्वतों से घिरे इस प्रदेश से जल बाहर निकालने को एक नदी बहाने के लिए शंकर की आराधना की थी। कश्यप की तपस्या से ही संतुष्ट होकर लोकशंकर शंकर ने वहाँ अपने त्रिशूल से भूमि में वितस्ती^१ (बालिस्त) मात्र चौड़ा छेद कर एक गर्त बनाया। जिससे पृथ्वी के अन्दर का जल निकल वहाँ से नदी के रूप में बहने लगा। अपने वितस्ती-मात्र उद्गम के कारण इस नदी का नाम वितस्ता^२ (भेलम) पड़ा। यह बड़े-बड़े पत्थरों को धकेलती, उनमें अपना रास्ता^३ बनाती तथा अनेक देशों को उपजाऊ करती हुई सिन्धु नदी में जा मिली।

इस प्रकार काश्मीर प्रदेश के निवास-योग्य हो जाने पर इस सुरक्षित सुरम्य देश में कश्यप के साथ भारत से आयी उसकी नाग संतान ने तथा अन्य मनुष्यों ने यहाँ गाँव^४ बनाये, नगर बसाये, तीर्थों-मन्दिरों तथा विचित्र-विचित्र गृहों का निर्माण किया। जब यह सब हो चुका, तब जनता के सुभीते, शासन तथा रक्षण के लिए कश्यप ने हरि-इच्छा से अपने पुत्र नील को राजा^५ बनाते हुए प्रभु से प्रार्थना की, “हे भगवन् ! अब यह देश^६ सदा देवों तथा मनुष्यों के निवास-योग्य बना

१ वितस्तिमात्रं गर्तं तु शूलेन कृतवान् हरः ।

२ तस्या नाम वितस्तेति कृतवान् शंकरः स्वयम् ॥ नी० ३४०

३ शिलामार्गेण यास्यामि यावत्सिन्धुः महानदम् ॥ ३३६

४ कृत्वा पुराणि ग्रामाँश्च तीर्थान्यायतनानि च ।

गृहानि च विचित्राणि चकार वसतिं जनाः ॥ ४७७

५ तेषां राज्ये महाभाग त्वं नीलमभिषेचय ॥ ११०

६ साम्प्रतं चापि भगवन् ! देशोऽयं देवमानुषैः ।

वस्तव्यो रमणीयश्च पुण्यश्च भविता तथा ॥ ३६३

रहे । इसमें पहली-सी विपत्ति कभी न आये । यह उत्तरोत्तर रमणीय तथा मनोहर होता जाये । यहाँ कभी कोई पापी न हो, यह पुण्यदेश कहलाये ।” यह प्रार्थना सुन नील भट बोल उठा, “मुनिवर ! आपने और जो कहा, सो कहा ही, पर यह क्या कह दिया कि यहाँ मनुष्य भी रहें । हम उनके साथ कैसे रह सकते हैं, हमारी दोनों की मान्यताओं में ही बड़ा भारी भेद है । हमारे यहाँ दानव-दैत्यों की भाँति माता के नाम पर वंश चलता है और उनके वहाँ पिता के नाम पर वंश होते हैं । जब हमारा उनसे इतना विचार-भेद है, दोनों के मत भिन्न हैं, तो हम मनुष्यों^१ के साथ इकट्ठे एक देश में भी न रहेंगे; क्योंकि अब मैं यहाँ का राजा हो गया हूँ । इसलिए मैं अपने इस देश में मनुष्यों को बिल्कुल न रहने दूँगा ।”

पुत्र की बात सुन कश्यप बोले, “मैं भी तो मनुष्य ही हूँ । हम^२ मानवों के विषय में तुम्हारी ऐसी बुद्धि क्यों हो गई ? विचार एक न भी सही, पूर्वज तो एक हैं । विचारों की भिन्नता क्या रुधिर की एकता को मिटा सकती है ? तुम और वे जब एक ही देश में पले तथा बड़े हो तो फिर वे न रहें, तो तुम क्यों रहो ? जाओ, मेरे देश से अभी निकल जाओ, और दूर बालू^३ के समुद्र (गोबी के रेगिस्तान) में पिशाचों के साथ जाकर रहो, क्योंकि वे भी तुम्हारे ही विचार के हैं ।” नील निर्वास की आज्ञा सुन बहुत घबराया । उसने अपनी भूल की रो-रोकर क्षमा माँगी, और भविष्य में ऐसे भावों से दूर रहने की प्रतिज्ञा की । तब फिर वह राजा घोषित कर दिया गया । इस प्रकार नील काश्मीर देश का पहला राजा हुआ । इस मनोहर देश में दूर-दूर से भिन्न-भिन्न जातियों^४ तथा धर्मों^५ के लोग आकर रहने लगे । जिसने भी

१ न वयं मानवैः सार्धं वसामो मुनिपुंगव ॥३६६

२ कथमैषा मतिर्जाता तवास्मान् प्रति भूरिद ॥२६६

३ बालुकार्णवमध्ये तु द्वीपा षड्योजनायताः ॥२७७

४ दार्वाभिसार-गान्धारजुहुण्डुरशकान् खसान् ॥१२१

५ नीलोक्तवचनं कुर्वन् ततः प्रभृति वै जनः ।

उवास सततं हृष्टः काश्मीरेषु कृतालयः ॥४७६

देश में रहने की प्रार्थना की, राजा नील ने बड़ी उदारता से उसे स्वीकार कर लिया। काश्मीर में रहने वाले सभी लोग बहुत प्रसन्न रहते थे और अपने राजा की हर बात मानते थे।

देश में अन्न, फल-फूल आदि खाद्य पदार्थों की उपज बहुत थी और खाने वाले थोड़े थे। इसलिए यहाँ सदा सुभिक्ष रहता था। अपनी आवश्यकताओं के लिए सभी के पास सब कुछ होने से देश में कभी चोरी न होती थी। सभी को सुख था। ताप-संताप का देश-भर में कहीं नाम न था। और तो और, सूर्यनारायण की प्रखर किरणें भी कश्यप के इस प्रदेश में पहुँचकर किसी को तपाने में सर्वथा असमर्थ थीं। केवल बर्फ की अधिकता के कारण शीत लोगों को सताया करता था। कश्यप के तप का प्रभाव कहो, या कालचक्र पर जड़ी हुई प्रकृति का परिवर्तन—अब अकस्मात् हिमपात भी कम होने लगा। फिर क्या था, काश्मीर भूमि का स्वर्ग हो गया।

अब देश के प्राकृतिक सौन्दर्य की ख्याति दूर-दूर तक फैल गई। लोग इसे पृथ्वी का स्वर्ग कहने लगे। इस भूतल के स्वर्ग की इतनी प्रशंसा सुन एक बार सचमुच के स्वर्ग का स्वामी इन्द्र, इन्द्राणी के साथ स्वयं इसे यहाँ देखने आया। काश्मीर उन्हें बड़ा सुहावना लगा। इसे देख वे दोनों बड़े खुश थे। पर इन्द्र के जाते समय उसके साथ यहाँ एक अवांछनीय घटना घटित हो गई। जिसे बाद में जान नील-सरकार को बहुत दुःख हुआ। बात यों हुई कि काश्मीर की राजधानी से विदा हो, इन्द्र के विमान ने ज्यों ही आकाश में उड़ान भरी कि नीचे एक विमलोदक भील उन्हें बिल्लौर के फर्श के समान सुहावनी दिखायी दी। शची के अनुरोध से विमान फिर भील के तट पर उतारा गया। इन्द्र-दम्पती भील के मनोहर दृश्य देखने में लगे थे कि उन्हें वन में अकेला देख कामोन्मत्त^१ हो, संग्रह नामक दैत्य ने आक्रमण कर इन्द्र से शची को छीनना चाहा। पर वह था इन्द्र, उस अकेले ने आगे ऐसे अनेक

१ ततः कामवशोन्मत्तः शचीहरणलालसः ॥११४

दैत्य मारे थे । इसे भी वज्र के एक हल्के से प्रहार द्वारा मारकर वहीं ढेर कर दिया, और इसे नरक में भेज स्वयं पत्नी-सहित स्वर्ग में चला गया । इतने में घूमता हुआ एक नाग-दल उधर पहुँचा, तो उसने भील के किनारे मरा पड़ा दैत्य तथा भील के छिछले जल में गिरा गोते खा रहा उसका बच्चा देखा ।^१ उस बच्चे को अनाथ समझ वे नाग उठा कर अपने राजा के पास ले गए । दयालु नील ने इसका पुत्रवत् पालन किया । क्योंकि यह बच्चा नागों को जल में पड़ा मिला था, इसलिए इसका नाम जलोद्भव^२ रखा गया । जलोद्भव ने बड़े होकर बड़ी तपस्या की और इससे उसने वर भी पाये । पर पापी की तपस्या तो देखो, जिस तप की शक्ति से कश्यप ने काश्मीर बसाया था, उसी तपस्या के बल पर यह पापी काश्मीर को उजाड़ने लगा । इसे मनुष्यों का मांस खाने की लत पड़ गई थी ।^३ बली तो था ही, वहाँ के लोगों को मार-मारकर खाने लगा । लोग उसके भय से भयभीत हो उस प्रदेश से भागने लगे । कुछ मारे गए, जो बचे वे मारे डर के काश्मीर छोड़कर भाग गए । देश वीरान हो गया । नील^४ जलोद्भव को उसके प्राप्त वरों के कारण दबा न सका । वह अपनी सहायता के लिए अपने पिता की बाट जोहता रहा । कश्यप तीर्थ-यात्रा के उद्देश्य से गये थे । वह कब, कहाँ हैं और यहाँ कब आयेंगे, इसका किसी को पता न था ।

१ भगवन् विदितं सर्वं यथापूर्वं मया शिशुः ॥१७८

पालितः संग्रहसुतो दैत्यो नाम्ना जलोद्भवः ।

२ यस्मादयं जले जातस्तस्मादेष जलोद्भवः ॥१७९

३ खादता नरमांसानि दुष्टेनाकृतबुद्धिना ॥१८०

४ उत्तीर्य च महाभागां विपाशां पापनाशिनीम् ।

दृष्टवान् सकलं देशं तदा शून्यं स कश्यपः ॥१८१

दृष्ट्वा समद्रविषयं शून्यं प्रोवाच पन्नगम् ।

किमर्थं नीलदेशोऽयं मद्राणां शून्यतां गतः ॥१८२

रमणीय सदैवैष दुर्भिक्षपापवर्जितः ।

नित्यं धान्यधनोपेत स्तन्मयाचक्ष्य पृच्छतः ॥ नीलमत पु० १७८

उनकी प्रतीक्षा करते-करते जब सारा देश ही शून्य हो चला, तब नील अपने पिता की खोज में स्वयं निकला। सौभाग्य से उसे वह कनखल में ही मिल गए। उसने काश्मीर पर आयी आपत्ति का हाल अपने पिता कश्यप को सुनाते यह स्वीकार किया, कि जलोद्भव को दबाने में वह सर्वथा असफल रहा है। परन्तु कश्यप को यह विश्वास न हुआ कि एक दैत्य के भय से सारा देश खाली हो गया। फिर भी उन्होंने अपने पुत्र को धैर्य देते हुए कहा, “तुम चलो; हम तीर्थयात्रा समाप्त कर शीघ्र काश्मीर पहुँच रहे हैं।” इससे नील को संतोष न हुआ। उसने बात बदल कर कहा, “उधर भी अनेक तीर्थ हैं, कृपया पहले उन्हीं की यात्रा कीजिये।” कश्यप यह मान, नील के साथ चल पड़े। व्यास पार कर जब उन्होंने मद्र देश में प्रवेश किया, तो उस समृद्ध जनपद को निर्जन देख उन्होंने विस्मित होकर पूछा, “नील, इस देश में अन्न के खेत लहलहा रहे हैं, किन्तु मनुष्य कोई नज़र नहीं आता। मद्र में धन-धान्य की कमी न थी। यहाँ कभी दुर्भिक्ष भी नहीं हुआ। फिर इस देश के मनुष्य क्यों, कहाँ भाग गये?”

नील ने निवेदन किया, “पिताजी, जलोद्भव दुष्ट ने पहले काश्मीर में रहने वाले दार्व,^१ अभिसार, गांधार, जुहुण्डुर, शक, खस, तंगण, माण्डव, मद्र, अन्तगिरि, बहिगिरि आदि सभी देशों के लोगों को मार-मारकर खाना आरम्भ किया। जब लोग उसके भय से वहाँ से भाग गए, तब जलोद्भव ने भी महापर्वत को पारकर मद्रदेश में प्रवेश किया। फिर यहाँ के लोग कुछ मारे गए और शेष देश छोड़कर भाग गए। इसी से मद्र^२ से काश्मीर तक का भारत जन-शून्य हो रहा है।

यह सुनते ही कश्यप ने कहा, “मेरी तीर्थ-यात्रा अब यहीं समाप्त हुई। अब मैं अपने देशध्वंसक से उन सभी हत्याओं का बदला लूँगा।

१ दार्वभिसारगान्धारजुहुण्डुरशकान् खसान् ॥१२१

तङ्गणान् माण्डवान् मद्रान्तगिरिबहिर्गिरीन् ।

ते हन्यमानाः पापेन देशान् संप्राद्रवन् भयात् ।

२ तेनाऽसौ सकलः शून्यो मद्रदेशो विभो कृतः ॥१८१

और शीघ्र ऐसा प्रबन्ध करूँगा जिससे काश्मीर^१ देश से भागकर गयी समस्त जनता अपने देश में वापस आकर फिर सुखपूर्वक रह सके ।

“परन्तु नील ! यह तो बतलाओ कि हमारे देश को इस तरह उजाड़ने वाला वह दुष्ट है कौन ?” नील ने कहा, “पिताजी ! इस जलोद्भव^२ को मैंने ही पाला था, पर अब वह दुष्ट मुझे कुछ समझता ही नहीं । किन्तु मैं क्या करूँ ? उसने इस काश्मीर को अपने बलबूते पर थोड़े बरबाद किया है । यह सब दूसरे के बल से हो रहा है । क्योंकि किसी देव की उपासना कर जलोद्भव ने बड़े-बड़े वर प्राप्त किये हुए हैं । इसीलिये मैं भी उसको दबाने में आज तक भिभक्तता रहा हूँ ।”

यह सब सुन कश्यप ने हरि-हर दोनों से ही अपने देश की रक्षा के लिए सहायता माँगी । तब उस पापी जलोद्भव के वध का निश्चय कर विष्णु और शिव दोनों कश्यप के साथ काश्मीर पहुँचे । परन्तु जलोद्भव बहुत ढूँढ़ने पर भी उन्हें वहाँ नहीं मिला । बहुत मुश्किल से मालूम हुआ कि वह अब दुर्गम हृद में छिपा रहता है, और वहीं से निकल, छापा मारकर मनुष्यों को मारा करता है । जब वहाँ सरोवर पर कश्यपादि ने जाकर उसे ढूँढ़ा, तो उसका कोई पता न चला । किन्तु यह पूरा निश्चय था कि वह यहीं छिपा है । अब वह यहाँ से कहीं भाग न जाये, इसलिए इस सरोवर के एक तट पर विष्णु दूसरे पर शिव, तीसरे पर कश्यप और चौथे पर वासुकि नाग उसे पकड़ने को खड़े हुए । फिर विष्णु की आज्ञा से वासुकि नाग ने उस सर के

१ कर्तव्योऽत्र प्रतीकारो मया तीर्थसमाप्तितः ॥१८६

तीर्थयात्रां समाप्यैव शीघ्रमेतत् करोमि ते ।

वचनं येन भद्रेण वसेयुश्च प्रजा द्रुतम् ॥१८७

२ भगवन् विदितं सर्वं यथापूर्वं मया शिशुः ।

पालितः संग्रहसुतो दैत्यो नाम्ना जलोद्भवः ॥१७६

न मां गणयति दुष्टो नाहं तस्य च विग्रहे ।

समर्थो वरदानेन त्रैलोक्याधिपतेः प्रभो ॥ नीलमत १८१

एक भाग को तोड़ डाला । उससे उसका जल बह-बहकर बाहर निकल गया । तब कहीं जलोद्भव के छिपने का स्थान दिखायी दिया । जलोद्भव को देखते ही विष्णु ने अपने चक्र से उसका सिर काट डाला ।^१ उसकी मृत्यु का समाचार पाते ही काश्मीर से भागी हुई जनता फिर अपने देश में लौटी और बड़े आनन्द से वहाँ रहने लगी । सभी ने एक-स्वर होकर कहा, “कश्यप की जय हो, जिसने हम उजड़े हुआओं को फिर से बसाया है !”

(नीलमतपुराण)

१ चिच्छेद दैत्यस्य शिरः प्रसह्य ॥ नीलमत पु० २२७

रामायण में कब क्या हुआ

त्रेतायुग में महाराज दशरथ बड़े प्रतापी राजा थे। इनकी कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी तीन रानियाँ थीं। परन्तु किसी के भी पुत्र न था। पुत्र-प्राप्ति के लिए ऋषि शृङ्ग ने राजा को पुत्रेष्टि यज्ञ कराया। इस यज्ञ पर राजा के लाखों रुपये खर्च तो हुए, पर राजा की मनो-कामना पूर्ण हो गई। उनकी साठ^१ वर्ष की आयु में उनकी तीन रानियों से चार पुत्र हुए। कौशल्या बड़ी रानी थी। भगवत्कृपा से पहले उसी के घर चैत्र में शुक्लपक्ष की नवमी को मध्याह्न^२ के समय पुनर्वसु नक्षत्र में श्री राम का जन्म हुआ था। श्री राम का विवाह मिथिला के राजा सीरध्वज जनक की पालिता पुत्री सीताजी से हुआ। जब राम की अवस्था २७ वर्ष^३ की हुई, तब उनके पिता राजा दशरथ ने उन्हें युवराज बनाने का निश्चय राज-सभा में कर अभिषेक का मुहूर्त निकलवाया। चैत्र-शुक्ल पंचमी को रामचन्द्र का अभिषेक होने को था, कि उसी दिन कैकेयी के कहने से उन्हें १४ वर्ष का वनवास मिल गया। उनकी धर्मपत्नी सीता, जिसकी आयु उस समय १८ वर्ष की थी, तथा सौतला भाई लक्ष्मण, जो उनसे केवल दो दिन छोटा था, वन में उनके साथ गये। इन तीनों ने चैत्र-शुक्ल पंचमी को अयोध्या से दोपहर-बाद चलकर वनवास की पहली रात तमसा नदी के तीर पर काटी। षष्ठी को ये शृङ्गवेरपुर पहुँच गुह से मिले। सप्तमी को मार्ग में रह,

१ षष्ठिवर्ष (सहस्राणि) जातस्य मम कौशिक !

दुःखेनोत्पादितश्चायं न रामं नेतुमर्हसि ॥ वा० रा० बालका० स० २।१० ॥

(यहाँ सहस्र शब्द का अर्थ 'पूर्ण' है।)

२ देखें 'व्रतराज', नवमी व्रत-प्रकरण।

३ सप्तविंशतिमे वर्षे वनवासमकल्पयत् ।

अष्टादश तु वर्षाणि सीतायास्तु तदाभवन् ॥ अग्निवेश्य ति० २६२० ॥

अष्टमी के दिन प्रयाग में भरद्वाज के आश्रम पर पहुँचे। पहले तीन दिन इनमें से किसी ने कुछ नहीं खाया, केवल जल से निर्वाह करते रहे और चौथे दिन इन्होंने फलाहार किया।^१ पाँचवें दिन चैत्र-शुक्ल दशमी को ये चित्रकूट पहुँच कुटिया बनाकर रहने लगे।

इधर सुमन्त राम को नहीं लौटा सका—यह जानकर चैत्र-शुक्ल एकादशी को पुत्र-वियोग से 'राम हे राम' कहते-कहते राजा दशरथ की मृत्यु हो गई। घर में कोई पुत्र न था। भरत, शत्रुघ्न को साथ ले अपने ननहाल राजगृह नगर में गया हुआ था। उन्हें ले आने के लिए दूत भेज, राजा के शव को तैलद्रोणी में सुरक्षित कर दिया गया। भरत और शत्रुघ्न अयोध्या में चैत्र-कृष्ण नवमी को आये। उसी दिन भरत ने दशरथ का दाह-संस्कार किया। पिता के श्राद्धादि कार्यों के लिए भरत को १३ दिन और वहाँ रहना पड़ा। दशरथ का श्राद्ध करने के बाद के चार दिन में मार्ग का सभी प्रबन्ध कर भरत वैशाख-शुक्ल एकादशी के दिन श्रीराम को अयोध्या लौटा लाने के लिए अयोध्या से चला। वैशाख-शुक्ल चतुर्दशी को भरत चित्रकूट पहुँचकर रामजी से मिला। वहाँ तीन दिन रहकर उसने श्रीराम की बहुत अनुनय-विनय की, पर राम नहीं माने। तब वह उनकी कुटिया के आगे उन्हें लौटाने के लिए सत्याग्रह करके बैठ गया; परन्तु राम के कहने से, वशिष्ठजी के समझाने पर उसे वह छोड़ना पड़ा। राम को किसी तरह लौटता न देख, विवश हो उसने उनसे अयोध्या के सिंहासन पर रखने के लिए राम की चरणपादुका माँगी। राम ने उसका बहुत आग्रह देख उसे खड़ाऊँ देना चाहा; पर उनके पास खड़ाऊँ हों तो वैं। वह तो तंगे पाँव वहाँ तक आये थे। फिर भी काम बन गया।

अयोध्या से चलते समय भरत राम के राज्याभिषेक का सभी सामान साथ इसलिए ले आये थे कि राम को वहीं से राजा बनाकर लौटूंगा। उन्होंने वे रत्नजड़ित खड़ाऊँ निकाल पहले श्रीराम के चरणों में पहनायीं और उनसे ले अपने सिर पर उठाते हुए कहा, "भाई, तुम ही

१ त्रिरात्रमुदकाहाराश्चतुर्थेऽह्नि फलाशनः ॥ अग्निवेश्य ति० २६।२०

जीते, मैं हारा। पर चौदह वर्ष से एक दिन भी ऊपर हुआ तो मैं आग में जल मलूंगा, फिर आकर भी आप भरत को न पा सकेंगे। पूरे १४ वर्ष बाद आप घर लौट आयेंगे, इसी आशा से मैं तबतक जीवित रहूँगा।” यों कह भरत खड़ाऊँ सिर पर उठा, वैशाख-कृष्ण द्वितीया को चित्रकूट से चल चतुर्थी को अयोध्या पहुँच गया।

श्रीराम भी डेढ़ मास चित्रकूट में रहकर वैशाख-कृष्ण पञ्चमी को अत्रि के आश्रम गये और वहाँ से मुनि के परामर्श से पञ्चवटी में जा कुटिया बनाकर रहने लगे। वहाँ एक दिन मुनियों के साथ भ्रमण करते, श्रीराम ने वन में एक हड्डियों का ढेर देख बड़े आश्चर्य से साथी तपस्वियों से पूछा, “इस सात्त्विक मुनि-वन में यह ढेर कैसे लग गया?”

तपस्वी बोले, “करुणामय रघुनाथ ! राक्षसों ने हमारे बेचारे साथी तपस्वियों को मार-मार यह ढेर लगाया है। यह सुन दुःख, करुणा तथा क्रोध से श्रीराम ने भुजा उठाकर कहा, “यदि मैं नरभक्षी राक्षसों को मिटा न दूँ, तो मुझे राम न कहना !”

राम की इस गर्जना से वहाँ उपद्रव होने बन्द हो गए। राक्षस लुक-छिपकर रहने लगे और तपस्वी सुख का साँस लेने लगे। इस प्रकार पञ्चवटी में रहते जब श्रीराम को १२वाँ वर्ष आरम्भ हुआ, और उसके भी ६ मास बीत गए, तब अकस्मात् विद्युन्माली की विधवा स्त्री शूर्पणखा कामान्ध हो, श्रीराम से कहने लगी, “वीर ! मैं रावण की सौतेली बहिन हूँ। मेरा नाम शूर्पणखा है। मैं आपसे गंधर्व विवाह करने आयी हूँ।” यह सुन राम बोले, “भद्रे ! मैं विवाहित हूँ। मेरी पत्नी वह सामने ही बैठी है।” तब शूर्पणखा ने कहा, “इस अबला का क्या है ! मैं अभी इसे खाकर अपना प्रातराश (कलेवा) कर लेती हूँ।” यों कह वह सीता को खाने को दौड़ी, तब बृहस्पति^१ के दण्ड-विधान

१ अर्द्धे त्रयोदशे वर्षे पञ्चवट्यामुवास ह।

ततो विरूपयामास शूर्पणखां निशाचरीम् ॥ स्क० बु० ध० ख० अ० ३०।२१

२ छिन्ननासौष्ठकर्णां तां पराभ्राम्याशु दण्डयेत् ॥ वीरमित्र बृहस्पति।

के अनुसार उसके नाक-कान काट उसे विरूप कर दिया गया। अब शूर्पणखा भागी-भागी अपने भाई खर के पास गयी। उसे देख खरदूषण श्रीराम से लड़ते-लड़ते सेना-सहित मारे गए। तब वह राक्षसी लंका गयी, वहाँ उसने रावण से सब बात बढ़ा-चढ़ाकर कही, किन्तु मत्त रावण ने उस पर कोई विशेष ध्यान न दिया। यह देख शूर्पणखा ने धूर्तता से अपना बदला लेने के लिए सीता के सौन्दर्य का बखान कर उसके हरण की बात रावण को सुभायी। अब तो वह लंपट शीघ्र ही बदला लेने के बहाने सीताहरण के लिए तैयार हो गया। साधु का वेष बना वह दम्भी आया और माघ मास^१ के कृष्णपक्ष की अष्टमी के दिन वृन्द-मुहूर्त में कुटिया में सीता को अकेली पा, बलपूर्वक उसे उठा ले गया। जब राम और लक्ष्मण कुटिया पर आये तो सीता को वहाँ न देख बहुत घबराये; उन्होंने खोजते-खोजते दिन-रात एक कर दिया, पर सीता का कहीं पता न चला। दूसरे दिन मरणासन्न जटायु ने बतलाया कि कल रावण मुझे घायल कर रोती-चिल्लाती सीता को यहाँ से ले गया है। तब रावण को ढूँढ़ते वनों में घूमते राम-लक्ष्मण वैशाख मास में सुग्रीव से मिले और उन्होंने आषाढ़ में बाली को मारा। सुग्रीव से मित्रता हो जाने पर उससे सीता-अन्वेषण में सहायता का वचन तो मिला, परन्तु कोई खोज न हो सकी। वर्षा ऋतु के कारण विवश हो, उन्हें वहीं चुप बैठना पड़ा। आश्विन में वानर-सेना ने चारों ओर खोज आरम्भ कर दी। दक्षिण की ओर जानेवाले दल को सीताहरण के दस मास बाद मार्गशीर्ष^२-शुक्ल नवमी को जटायु के ही भाई संपाति ने बतलाया कि सीता लंकाद्वीप में है।

समुद्र पार करना कोई सुगम काम न था। बहुत सोच-विचार के अनन्तर यह कार्य हनुमान् जी को सौंपा गया। हनुमान् मार्गशीर्ष

१ ततो माघेऽसिताष्टम्यां मुहूर्ते वृन्दसंज्ञके ।

राघवाभ्यां विना सीतां जहार दशकंधरः ॥ अग्निवेश्य रा०

२ मार्गशुक्लनवम्यां तु वसन्तीं रावणालये ।

सम्पातिर्दशमे मासे आचख्यौ वानरेषु ताम् ॥ अग्निवेश्य रा०

शुक्ल एकादशी की रात को समुद्र पार कर लंका पहुँचे । मार्गशीर्ष-शुक्ल द्वादशी को उन्होंने श्रीराम की अँगूठी तथा राम का कुशलसमाचार देते हुए सीताजी से कहा कि अब आपकी मुक्ति और दुष्ट रावण की मृत्यु में बहुत देर नहीं रही । मार्गशीर्ष-शुक्ल त्रयोदशी को रावण का पुत्र अक्ष हनुमान् को पकड़ने आया और उनके हाथों मारा गया । दूसरे दिन मेघनाद हनुमान्जी को बाँध, रावण के दरबार में लाया । उसे मारने या दूत समझकर छोड़ देने के विवाद के बाद महावीर को जला देने का निश्चय हुआ । वे तो जलाते ही रहे, पर यह मार्गशीर्ष चतुर्दशी के दिन लंका को जला, पूर्णिमा को भारत लौट आया । समुद्र-तट के महेन्द्रपर्वत से चल किष्किन्धा में श्रीराम में पास पहुँचने में इस गवेषक दल को सात दिन लगे । मार्गशीर्ष-कृष्णपक्ष की सप्तमी को हनुमान्जी ने श्रीराम को सीताजी का संदेशा और चूड़ामणि लाकर दी । युद्ध की तैयारी तो पहले से थी ही ; मार्गशीर्ष-कृष्ण अष्टमी के दिन फाल्गुनी नक्षत्र में विजय-मुहूर्त को दोपहर के समय राम ने लंका पर चढ़ाई के लिए प्रस्थान किया । किष्किन्धा से चलकर सात दिनों में सेना समुद्र-तट पर पहुँची और वहाँ डेरा डालकर विश्राम करने लगी । पौष-शुक्ल चतुर्थी को रावण का भाई विभीषण श्रीराम से आकर मिल गया । पंचमी को समुद्र कैसे पार किया जाय, इस विषय पर विचार होने लगा । चार दिन में निश्चय होने के बाद पौष-शुक्ल दशमी से त्रयोदशी तक नील ने मशीनों^१ द्वारा समुद्र पर पुल तैयार किया । फिर पौष की पूनों से पौष-कृष्ण तृतीया तक राम-सेना पुल पार कर लंका पहुँच गई । और अपने रहने के लिए उसने आठ दिन में छावनी बनायी । पौष-कृष्ण एकादशी को रावण के गुप्तचर राम-सैनिक सी शकल बनाये सेना का भेद लेने आये । शुक-सारण नाम के दो गुप्तचर पकड़े गए, परन्तु दयालु राम ने स्वयं उन्हें अपनी सेना

१ हस्तिमात्रान्महाकाया पाषाणांश्च महाबलाः ।

पर्वतांश्च समुत्पाद्य यन्त्रैः परिवहन्ति च ॥ वा० रा० प्र० स० २१।५६

दिखाने का आदेश दे उन्हें छोड़ दिया। माघ-शुक्ल प्रतिपदा को अङ्गद^१ दूत बनकर रावण को समझाने गया। पर वह न समझा, उल्टे अंगद को राम का दूत बनकर आने पर बुरा-भला कहा और उसी दिन राम का कृत्रिम कटा सिर सीताजी को दिखाने की धूर्तता की।^२ अंगद के निराश लौटने पर माघ-शुक्ल द्वितीया को राक्षसों से वानरों का युद्ध आरम्भ हो गया।^३ इस युद्ध में माघ-कृष्ण चतुर्दशी^४ को राम के हाथों रावण का भाई कुम्भकर्ण मारा गया। फाल्गुन-कृष्ण अष्टमी^५ को रावण ने बनावटी सीता लाकर रण में मार डाली। इससे वानर-सेना में हाहाकार मच गया और गुप्तचरों द्वारा रहस्य खुलने पर शान्ति हुई। फाल्गुन-कृष्णपक्ष^६ की त्रयोदशी को लक्ष्मण ने रावण के पुत्र मेघनाद को मार डाला। और चैत्र-शुक्ल नवमी को रावण के शक्ति-अस्त्र से घायल हो लक्ष्मण^७ मूर्च्छित हो गया। उसी दिन हनुमान् विशल्या नाम की औषधि लेने गये। हनुमान् विशल्या का निश्चय न कर सकने के कारण द्रोणाचल को ही उठा लाए।

इधर इन्द्रजीत की मृत्यु से इन्द्र इतना निर्भय हो गया कि उसने रावण के विरुद्ध लड़ने के लिए चैत्र-शुक्ल एकादशी^८ को अपना रथ

१ ययावथांगदो दौत्यं माघशुक्लादिवासरे ॥ अग्निवेश्य दा०

२ सीतायाश्च तदा भर्तुर्मयामूर्धादिदर्शनम् ॥ स्कन्द बु० ध० ३०।५४

३ माघशुक्लद्वितीयादि दिनैः सप्तभिरेव तु ।

रक्षसां वानराणां च युद्धमासीत्सुदारुणम् ॥ अग्निवेश्य रामा०

४ कुम्भकर्णो दिनैः षड्भिर्नवम्यास्तु चतुर्दशीम् ।

रामेण निहतो युद्धे बहुवानरभक्षकः ॥ अग्निवेश्य रामा०

५ अष्टम्यां रावणो माया मैथिलीं हतवान् कुधीः ॥ स्कन्द बु० अ० ३०।६६

६ तत्र त्रयोदशीं यावद्दिनैः षड्भिस्तु शक्रजित् ।

लक्ष्मणेन हतो युद्धे विघ्नतो चाचरन् क्रमात् ॥ अग्निवेश्य रामा०

७ चैत्रशुक्लनवम्यां तु सौमित्रेः शक्तिभेदनम् ।

द्रोणाद्रिराञ्जनेयेन लक्ष्मणार्थमुपाहृतम् ॥ अग्निवेश्य

८ एकादश्यां तु रामाय रथं मातलिसारथिः ।

तथा सारथी दोनों ही श्रीराम के पास भेज दिए । इस रथ पर राम बैठे और उन्होंने चैत्र-कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के दिन रावण को मार कर रण में विजय प्राप्त की ।^१

भाई को मरा देख और यह सोच कि अब यह फिर कभी नहीं मिलेगा, विभीषण का भ्रातृ-प्रेम उमड़ पड़ा और वह ढाड़ें मार-मारकर रोने लगा । यह देख श्रीराम ने उसे सान्त्वना दी । विभीषण शान्त हो गया । वह रावण का अन्तिम संस्कार करना चाहता था; पर यह सोचकर डरता था, कि पता नहीं, राम अपने इस शत्रु से कैसा सलूक करना चाहते हैं । राम विभीषण के मन की भावना समझकर उसे कहने लगे, “विभीषण, वैर मौत तक ही होता है । मरों से कोई कभी वैर नहीं करता । अब मेरा इससे कोई वैर नहीं, तुम इसका संस्कार करो, मैं शव का तुम्हारी तरह ही मान करता हूँ ।”

श्रीराम के कहने पर चैत्र की अमावस्या^२ को विभीषण ने रावण का दाह-संस्कार किया ।

इस प्रकार माघ-शुक्ल द्वितीया से चैत्र-कृष्ण^३ चतुर्दशी तक दस दिनों के संग्राम में बीच-बीच में १५ दिन युद्ध बन्द रहा और शेष ७३ दिन खूब लड़ाई हुई । लोग कह उठे, “राम-रावण का युद्ध राम-रावण के युद्ध की भाँति ही है । कोई युद्ध उसकी समानता नहीं कर सकता ।” राम ने विजयी हो वैशाख-शुक्ल द्वितीया के दिन विभीषण को लंका का राजा बनाया गया । वैशाख-शुक्ल तृतीया को सीता की

१ अष्टादशदिनैः रामो द्वैरथो रावणोऽवधीत् ।

द्वादश्याः शुक्लपक्षस्य यावत् कृष्णचतुर्दशीम् ॥ अग्निवेश्य रामा०

२ मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम् । १००

क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव ॥ वा० रा० यु० रु० १११।१०१

३ संस्कारो रावणादीनाममावस्या दिनेऽभवत् ॥ अग्निवेश्य रामा०

४ माघशुक्लद्वितीयायाश्चैत्रकृष्णचतुर्दशीम् ।

अष्टाशीतिदिनं युद्धं मध्यपंचदशाहकम् ।

युद्धावहारं संग्रामस्त्रिसप्ततिदिनान्यभूत् ॥ अग्निवेश्य रामा०

अग्नि-परीक्षा हुई। वैशाख-शुक्ल पञ्चमी^१ को पूरे १४ वर्ष बाद श्रीराम प्रयाग में भरद्वाज के आश्रम पर पहुँचे। प्रातः षष्ठी को नन्दिग्राम में जाकर भरत को मिले और वैशाख-शुक्ल सप्तमी के दिन अयोध्या में श्रीरामचन्द्र का राज्याभिषेक (राजतिलक) हुआ।^२

(अग्निवेश्यरामायण, तिलकटीका पृष्ठ २६।२०)

इस प्रकार १४ मास, १० दिन सीताजी को श्रीराम से पृथक् होकर रावण की अशोक-वाटिका में शोक से रहना पड़ा। एवं अपनी आयु के बयालीसवें^३ वर्ष श्रीराम राजा बने, उस समय सीता जी की आयु तैंतीस वर्ष की थी। सभी ग्रन्थों में यही लिखा है कि श्रीरामचन्द्र जी ने ११ हजार वर्ष तक राज्य किया। 'वर्ष' पद का अनेक ऐसे स्थलों पर टीकाकारों ने 'दिन'^४ अर्थ किया है; यदि यह ठीक हो तो श्रीराम ने ३० वर्ष ५० दिन राज्य किया होगा। इस प्रकार ७२ वर्ष, १ मास तथा २० दिन की आयु में इस धराधाम को छोड़ वह स्वधाम पधारे होंगे।

यह सुन अंशु-अक्षय ने पूछा, "बाबा ! रावण यदि चैत्र की अमावस्या को जलाया गया था, तो आजकल उसे आश्विन-शुक्ल दशमी को क्यों जलाते हैं?" मैंने कहा, "वाल्मीकिरामायण की तिलकटीका में चैत्र में ही राम-वनवास को मान वाल्मीकि के वचनों की संगति लगाने के लिए महाभारत में दी भीष्म^५ की व्यवस्था के अनुसार राम-वनवास के १४ वर्षों में होनेवाले मलमासों के ६ मास कम कर कालिका-

१ पूर्णे चतुर्दशे वर्षे पंचम्यां माधवस्य तु।

भरद्वाजाश्रमं रामः ससीता पुनरागमत् ॥ अग्निवेश्य रा०

२ यह कालगणना की कथा पद्म तथा स्कन्दपुराण में भी है।

३ द्विचत्वारिंशके वर्षे रामो राज्यमकारयत्।

सीतायाश्च त्रयस्त्रिंशद्वत्सराश्च तदाऽभवत् ॥ पद्म० पा० ३७।७७

४ वर्षशब्दोऽत्र दिनपरः—सहस्रसंवत्सरं सत्रमुपासीत इतिवत्।

वाल्मीकिरामायण, उत्तरकाण्ड सर्ग ७३।५ की रामायणतिलक टीका

५ पञ्चमे पञ्चमे वर्षे दौ मासादुपजायत ॥ वा० रा० ति० पृ० २६१८

पुराण के वचनों से समन्वय^१ कर यह सिद्ध किया है कि रावण का वध आश्विन-शुक्ल नवमी^२ को और उसका दाह दशमी को हुआ था। यही बात बृहद्धर्मपुराण^३ में भी लिखी है, इसलिए देश में आश्विन-शुक्ल दशमी को रावण जलाया जाता है।

[वाल्मीकिरामायण, तिलकटीका, पृ० २६१८-२०]

१ इदं निर्गमनमाश्विनशुक्लप्रतिपदि^४ ... एवं च नवम्यां तद्वधः ॥

वा० रा० ति० पु० २६१६

२ ततस्तु त्यक्तनिद्रा सा नन्दायामाश्विने सिते ।

व्यतीते सप्तमे रात्रे नवम्यां रावणं ततः ।

रामेण घातयामासरस महामाया जगन्मयी ॥ वा० रा० ति० पृ० २६१६

३ कालिकापुराण अ० ६२ । तथा बृहद्धर्मपुराण अ० २२

नोट—उक्त 'रामायण में कब क्या हुआ' शीर्षक लेख लेखक ने निम्न छः ग्रन्थों में से संकलित किया है—

१ अग्निवेश्यरामायण, तिलक टीका २६२० । २ पद्मपुराण; पातालखण्ड, अ० ३६ । ३ स्कन्दपुराण, बृ० धर्मरिण्य खं०, अ० ३० । ४ वाल्मीकिरामायण । ५ वाल्मीकि रामायण, भूषण टीका, पृ० २६२० । ६ वाल्मीकि रामायण, तिलकटीका, पृ० २६१८ से २० तक ।

२. आचार-काण्ड

Ramakrishna Mission Library
Muthiganj, Allahabad.

Class No. 200

Book No. २-81 Vol 0000000000

Accession No 13612

मानव-सेवा

प्राचीन समय में गंगा-किनारे एक 'दानरुचि' नाम का ब्राह्मण रहता था। वह वहाँ उच्छ्वृत्ति से अपना निर्वाह किया करता था। वह बड़ा विद्वान् तथा दयालु था। उसकी पत्नी भी बड़ी सुशील थी। ब्राह्मण और ब्राह्मणी दोनों नित्य हवन किया करते थे। उस ब्राह्मण ने अतिथि-सेवा का व्रत ले रखा था।

वह नित्य अतिथि को भोजन कराकर और दिन के पाँच भाग बीत जाने पर छठा शुरू हो, तब भोजन किया करता था। इस प्रकार करते उसे बहुत समय बीत गया था। अतिथि के आने पर उसके मन में अतिथि के विषय में कभी कोई शंका या विकल्प कभी न उठते थे। वह तो अतिथि की सेवा इसी भाव से करता था कि वह अतिथि होकर आया है। उसकी विद्या, जाति, प्रकृति या विभूति से उसका कोई सम्बन्ध न होता था। वह बड़ा तपस्वी तथा पवित्र था और जो कुछ सेवा वह करता था, वह किसी दिखावे, लोभ या यश के लिए नहीं, अपितु सच्चे तथा सरल स्वभाव से कर्तव्य समझकर किया करता था। एक दिन की बात है कि दिन का छठा भाग तो आ गया, परन्तु अतिथि वहाँ कोई नहीं आया। उस समय आकाश बादलों से घिर रहा था और हिमालय की शीतल वायु बड़े जोर से चल रही थी। वह देर तक अतिथि को ढूँढ़ता रहा, पर आज उसे उधर आता कोई भी अतिथि न मिला। जब उसे शाम तक भी कोई अतिथि न मिला, तब वह उपवास करने की सोच नारायण का स्मरण करने लगा। उसकी पति-परायणा पत्नी का भी यही नियम था; जैसे उसका पति करता, वह भी वैसे ही किया करती थी, अतः उसने भी भोजन नहीं किया। तब अग्निदेव उसका यह निश्चय जानकर उसकी परीक्षा करने के लिए

उसे एक वृक्ष के नीचे दिखायी पड़े। उस अतिथि ढूँढ़ने वाले ब्राह्मण ने देखा कि वृक्ष के नीचे लेटा हुआ एक चाण्डाल सरदी के मारे ठिठुरता हुआ 'हाय पिता' यों कहकर कराह रहा है। उसके शरीर में व्रण हैं, जिनमें से कीड़े गिर रहे तथा रुधिर बह रहा है। उसकी यह दीन दशा देख ब्राह्मण ने उसे मीठी-मीठी बातों से ढाढस बँधाया और उसकी सरदी दूर करने के लिए वहाँ आग जला दी। जब आग तापने से उसकी सरदी जरा दूर हुई तब ब्राह्मण ने उसे बड़े सम्मान से कहा—
“भाई अतिथि, उठकर मेरे यहाँ भोजन करने की कृपा कीजिये !”

यह सुन श्वपच ने कहा—“द्विज-श्रेष्ठ, आप मेरे लिए रोटी का टुकड़ा यहीं लाकर फेंक दीजिये। मैं चाण्डाल हूँ, आपके यहाँ कैसे जाकर जीमूँ !” तब ब्राह्मण ने उससे कहा—“निष्पाप ! मैं तेरी जाति

१. अपश्यद्वृक्षमूलस्थं घोरं विकृतरूपिणम् ॥४६
श्वपाकं शीतसंक्षुब्धं नैकव्रणशताद्वितम् ।
ददृशे तस्य गात्रे च प्रस्रवत्किमिशोणितम् ॥४७
विक्रोशन्तञ्च तातेति स चापश्यद्विजोत्तमः ॥४८
समाश्वसिहि भद्रेति प्रोवाच मधुरं वचः ।
शीतापनयनार्थञ्च वह्निं प्रज्वालयन् द्विजः ॥४९
विशीतं वह्निसंसर्गात् समाश्वस्तमुवाच सः ।
एहि भद्रातिथेऽन्नं मे भुङ्क्ष्व चात्रेति सादरम् ॥५०

शिवपुराण सनत्कुमार संहिता ५४

२. तमुवाच ततो दीनः श्वपाकस्तपसां निधिम् ।
श्वपाकोऽहं द्विजश्रेष्ठ मह्यमन्नामिहैव हि ॥५१
कुत्सिताय प्रयच्छस्व यथैव मृगपक्षिणे ।
नाहं संस्कृतमाहर्तुं योग्योऽन्नमिति चाब्रवीत् ॥५२
३. तमेवं वादिनं ध्यानाज्ज्ञात्वा वह्निमुपस्थितम् ।
प्रोवाच द्विजशार्दूल इदं वचनकोविदः ॥५३
नाहं जातिं तवाच्चामि पूजयामि तवानघ ।
आत्मा वै सर्वतो ज्येष्ठः सर्वप्राणिष्वयं स्थितः ॥५४
आत्मानं तमहं भद्र पूजयामि परं शिवम् ।
सर्वत्र संस्थितं मत्वा पुरुषं परमेश्वरम् ॥५५

शिवपुराण, सनत्कुमार संहिता ५४

की पूजा नहीं, तेरी पूजा करूँगा। क्योंकि आत्मा ही सबसे श्रेष्ठ है और वह सभी के अन्दर समान है। यहाँ मैं उसी परम शिवरूप आत्मा की ही तेरे में पूजा करूँगा। क्योंकि मैं परमेश्वर को सर्व-व्यापक मानता हूँ।

“मुझे आप जैसे किसी से भी कोई घृणा नहीं, मेरे परम पवित्र भगवान् सभी में विराज रहे हैं। मैं आपका बड़ी श्रद्धा से पूजन करूँगा। आप किसी प्रकार का भी कोई सन्देह न कीजिये !

“जब कीड़े-मकोड़े, सर्प, श्वपच तथा द्विजों में वह एक ही आत्म-सत्ता प्रवाहित हो रही है तब किसी से घृणा कैसी ! आप निन्दित समझे जाते हैं या अनिन्दित हैं, इससे मुझको गर्ज नहीं। आप कृपा करके मेरे घर में भोजन कर मुझे पवित्र कीजिये !”

इस प्रकार उस ब्राह्मण के कहने पर चाण्डाल^१ बड़ा प्रसन्न हुआ, उस ब्राह्मण पर अनुग्रह करने के लिए वह उसके घर गया। और उस ब्राह्मण ने भी उसकी अतिथि-भाव से ही सेवा-पूजा की। जब ब्राह्मण उस चाण्डाल को बड़े आदर-भाव तथा चाव से भोजन करा चुका, तब

१ तिर्यक्त्वेन हि मे कुत्सा त्वद्विधेषु विशेषतः ।

सर्वमेव हि देवेति तपः शौचपरायणः ॥५६

पूजयाम्यहमव्यग्रं तत्र निःसंशयो भव ।

कृमिकीटादिसर्वेषु श्वपाकेषु द्विजातिषु ॥५७

यदा सर्वगतो स्वात्मा तदा कुत्सा कथञ्चन ।

न हि मे कुत्सिते भेदो न हि मे त्वमकुत्सितः ॥५८

भुक्त्वा संस्कृतमन्नं त्वं पावयास्माननुग्रहात् ॥५९

२ एव मुक्तो द्विजेन्द्रेण श्वपाकः प्रीतिमांस्मदा ॥५९

गृहं गतः स विप्रस्य विप्रानुग्रहलिप्सया ।

अथ भावरुचिस्तस्यातिथेरेव प्रपूजने ॥६०

आत्तिश्यं विधिवच्चक्रे भावशुद्धेन चेतसा ।

३ मूर्तिमान् सोऽभवत् प्रीतो भोजितो हव्यवाहनः ॥६१

प्रददावीप्सितं तस्य योगैश्वर्यमनुत्तमम् ।

शिवपुराण, सनत्कुमार संहिता ५४

उसी चाण्डाल में से अग्नि-रूप परमेश्वर प्रकट हो गए । और उन्होंने उस ब्राह्मण को मन-वाञ्छित फल प्रदान किया । वे पति-पत्नी दोनों मुक्त हो गए ।

३. संयोगं परमं प्राप्य उञ्छवृत्तिर्द्विजोत्तमः ॥६२

विमुक्तः सहपत्न्या तु प्राप्तवानमृतं पदम् ॥६३

शिवपुराण, सनत्कुमार संहिता ५४

जनता की सेवा ही जनार्दन की सेवा है

राजा अश्वशिरा का अश्वमेध यज्ञ जब समाप्त हुआ, तब वहाँ अकस्मात् कपिल तथा जैगीषव्य दो मुनि आ गए। राजा ने अपने आसन से उठकर उनका स्वागत किया और उनके बैठ जाने पर पूछा, “महाराज, मुझे एक जिज्ञासा है कि मैं भगवान् विष्णु का पूजन किस प्रकार करूँ, कृपया उस पूजा का आप कोई सीधा और सरल उपाय बतलाइये। मैं किसकी पूजा करूँ, कैसे नारायण के दर्शन करूँ ?” यह सुन वे दोनों मुनि बोले : “अरे राजन् ! तुम नारायण-नारायण क्या कह रहे हो ? हम ही तो नारायण हैं, जो तुम्हारे सामने प्रत्यक्ष खड़े हैं।” यह सुन राजा अश्वशिरा ने कहा : “आप निष्पाप सिद्ध तपस्वी ब्राह्मण तो अवश्य हैं, परन्तु आप अपने-आप को नारायण कैसे कह रहे हैं ? नारायण के हाथ में शंख, पद्म, चक्र और गदा होते हैं। उन्होंने पीताम्बर पहना हुआ होता है तथा वह गरुड पर सवार रहते हैं; वह तो सबसे बड़े देव हैं, भला उनके समान दूसरा कौन हो सकता है ?” राजा की यह बात सुन वे दोनों ब्राह्मण हँसकर बोले : “तुम विष्णु-रूप देखना चाहते हो तो देखो !” यों कहकर कपिल विष्णु और जैगीषव्य उसी समय गरुड बन गया।^१ इस समय सारी राज-सभा सामने नारायण को गरुड पर सवार देखकर आश्चर्य-चकित हो गई। परन्तु राजा अश्वशिरा फिर हाथ जोड़कर कहने लगा : “तेजस्वी

१ कथमाराधये देवं हरिं नारायणं परम् ॥१७

२ क एष प्रोच्यते राजन् त्वया नारायणो गुरुः ।

आवां नारायणौ द्वौ तु त्वत्प्रत्यक्षगतौ नृप ॥१८

३ एवमुक्त्वा च स कपिलः स्वयं विष्णुर्बभूव सः ।

जैगीषव्यश्च गरुडः तत्क्षणं समजायत ॥२२

ब्राह्मणो, क्षमा करना; विष्णु ऐसे नहीं हैं। उनके नाभि-कमल में तो ब्रह्माजी बैठे रहा करते हैं।” यह सुनते ही कपिल पद्मनाभ विष्णु बन गए और जैगीषव्य ब्रह्मा बनकर, उनके नाभि-कमल में विराजमान हो गए।^१ और उससे रुद्र तथा सूर्य भी दीखने लगे। तब राजा अश्वशिरा को ज्ञान हो गया और वह बोल उठा : “मैं समझ गया; महाराज विष्णु सर्वव्यापक होने से सब में हैं।^२

इस प्रकार कहने के बाद उस राजसभा में खटमल, मच्छर, जूँए, भौरे, पक्षी, साँप, घोड़े, गायें, हाथी, शेर, बाघ, गीदड़, हिरण तथा और भी करोड़ों जंगली तथा पालतू पशु-पक्षियों उन सर्वभूतों के आधार भगवान् में देखकर राजा बड़ा हैरान हुआ।^३ फिर उसने हाथ जोड़कर उन दोनों मुनियों से पूछा : “महाराज, यह क्या रहस्य है ?” तब वे दोनों मुनि बोले : “राजन्, तुमने हमसे पूछा था कि भगवान् विष्णु की पूजा कैसे होती है^४, उसे प्राप्त किस प्रकार किया जा सकता है। वही हमने तुम्हें यों बतलाया है कि जो कुछ तुम्हें दिखाया गया है, वह सभी उस सर्वज्ञ भगवान् के गुण ही हैं^५ और वही नारायण सर्वज्ञ तथा सभी स्वरूपों को धारण करने वाला है।^६ ये सभी उसी के रूप हैं। वह सौम्य स्वरूप केवल कहीं एक ही जगह बैठा हुआ है।^७—ऐसी आराधना उसकी वास्तविक रूप से आराधना नहीं, किन्तु उस जगत्पति परमात्मा को सभी शरीरों में विद्यमान

१ कपिलः पद्मनाभस्तु जैगीषव्यः प्रजापतिः ॥२७

२ सर्वव्यापी हरिः श्रीमानिति राजा जगादह ॥२८

३ दृश्यन्ते राजभवने कोटिशो भूतधारिणि ॥३१

४ आवां पृष्ठौ त्वया राजन् कथं विष्णुरिहेज्यते ।

प्राप्यते च महाराज तेनेदं दर्शितं तव ॥३४

५ सर्वज्ञस्य गुणा ह्येते ये राजंस्तव दर्शिताः ।

६ स च नारायणो देवः सर्वज्ञः कामरूपवान् ॥३५

७ सौम्यस्तु संस्थितः क्वापि प्राप्यते मनुजैः किल ।

जानना ही उसकी सच्ची आराधना है ।^१ श्रद्धा-भक्ति से वह अपने शरीर में भी दीख जाता है, क्योंकि वह किसी एक ही जगह पर हो, ऐसी बात कदापि नहीं है ।^२ तुम में यही विश्वास उत्पन्न करने के लिए कि परमात्मा सर्वत्र व्यापक है, उसे जहाँ जिसमें चाहो देख सकते हो, हमने तुम्हें अपने में उस परमात्मा के दर्शन कराये हैं । इसी तरह वह सर्वव्यापक तेरे शरीर में भी है ।

“मन्त्रियों तथा भृत्यों ने जो देव, पशु, कीट-समूह देखे हैं वे सभी विष्णु के ही रूप हैं ।^३ इसलिए राजन्, आज से तुम यह भावना दृढ़ कर लो कि ये सभी संसारी उस भगवान् विष्णु के ही स्वरूप^४ हैं, उस परमात्मा से खाली कोई चराचर नहीं, इस भावना से सभी की सेवा करो । जनता की सेवा ही जनार्दन की पूजा है ।”

(वाराहपुराण अ० ४)

१ आराधनं न चैतस्य परमार्थं भविष्यति ॥३६

किन्तु सर्वशरीरस्थः परमात्मा जगत्पतिः ।

२ स्वदेहे दृश्यते भक्त्या नैकस्थानगतस्तु सः ॥३७

अतोऽर्थं दर्शितं रूपं देवस्य परमात्मनः ।

आवयोस्तव राजेन्द्र प्रतीतिः स्याद्यथा तव ॥३८

एवं सर्वगतो विष्णुस्तव देहे जनेश्वर ॥३९

वाराहपुराण, अध्याय ४

३ मन्त्रिणां भृत्यसङ्घस्य सुराद्या ये प्रदर्शिताः ॥३९

पशवः कीटसंघाश्च तेऽपि विष्णुमया नृप ।

४ भावनान्तु दृढां कुर्याद्यतः सर्वमयो हरिः ॥४०

नान्यत्तत्सदृशं भूतमितिभावेन सेव्यताम् ॥४१

वाराहपुराण, अध्याय ४

क्षमा के दो रूप

१. दुर्योधन की क्षमा

महाभारत-युद्ध के अन्तिम दिन भीम की गदा की चोटों से दुर्योधन बुरी तरह घायल हुआ। बहुत मार खाकर वह मूर्च्छित हो गया। उसकी सब हड्डी-पसली टूट गई और उस मरणासन्न को छोड़कर विजयी पांडव बलदेव के भगड़े-भंभट में पड़ने के कारण जब अपने शिविर में लौट आए, तब रात हो गई थी। इस समय अश्वत्थामा संजय से यह जानकर कि “गदा-युद्ध के नियमों का उल्लंघन कर भीम ने दुर्योधन की कमर के नीचे गदा मारकर उसे निकम्मा कर दिया है। उसकी कोई हड्डी-पसली साबित नहीं रही। इस युद्ध के नियम को भंग करने के कारण बलराम बहुत उत्तेजित हो गए, उन्हें बड़ी कठिनता से श्रीकृष्ण ने संभाला था। इसलिए पांडव बलराम के भय से यह निश्चय नहीं कर सके, कि दुर्योधन अभी जीवित है, या मर गया है। वे वहाँ से चले गए हैं”—तब जहाँ भीम और दुर्योधन का युद्ध हुआ था, उस द्वैपायन ह्रद पर आकर अश्वत्थामा ने दुर्योधन को खोजना और जोर-जोर से चिल्लाना आरम्भ किया—“महाराजाधिराज दुर्योधन ! मैं अश्वत्थामा हूँ। यदि तुम जीवित हो, तो मेरा सेनापति-पद पर अब भी अभिषेक कर दो। मैं पाण्डवों से अपने पिताजी को धोखे से मारने का बदला लूँगा।” देर तक और दूर तक चिल्लाते-चिल्लाते उसके मन की मुराद पूरी हुई। एक जगह से कराहते दुर्योधन ने कहा—“भाई ! मैं जीता तो हूँ, पर मौत की प्रतीक्षा में। इससे तो मौत आ जाए वह अच्छी। सारे शरीर पर मच्छर भिन्-भिन् कर काट रहे हैं। पर दोनों हाथों की हड्डियाँ टूट जाने के कारण उनको उड़ा नहीं सकता। प्यास से गला

सूख रहा है, पर टांगें चूर-चूर हो जाने से पानी के किनारे पर पड़ा भी पानी नहीं ले पाता। मैं तुम्हारा अभिषेक कैसे करूँ ? तुम आप ही अपने हाथों की अंजलि में पानी ले आओ, पहले मुझे पिला दो, और फिर मेरे हाथ से छुआकर अपने पर सींच लेना !”

अश्वत्थामा ने वैसे ही किया; पहले अपनी अञ्जलि में जल भर दुर्योधन के मुँह में डाला, और फिर दूसरी बार पानी ला राजा के हाथ से स्पर्श करा अपने ऊपर सींचते हुए दुर्योधन से कहा—“कहो, मैं तुम्हें युद्ध के लिए सेनापति बनाता हूँ।” दुर्योधन ने कहा—“मैं राजाधिराज दुर्योधन अपने इस युद्ध के लिए अश्वत्थामा को सेनापति बनाता हूँ।” इसके उत्तर में अश्वत्थामा ने कहा, “मैं सेनापति, पांडवों का संहार करूँगा। निश्चय रखिये महाराज !” इतना बोलने से दुर्योधन थक गया था। इसलिए उसने एक बार फिर पानी माँगा। अश्वत्थामा ने उसके मुँह में अञ्जलि से फिर पानी डाला। दुर्योधन ने कहा, “मैं अपने सेनापति की विजय-कामना करता हूँ। अश्वत्थामा, शायद मैं तुम्हारी विजय को न देख सकूँगा। पर चाहता हूँ तब तक जीता रहूँ। मुझे अपने भाई अजातशत्रु के न्याय पर खुशी और अभिमान है। पर उन्होंने मुझे अकेला देखकर कहा—‘भाई ! इस समय मैं, श्रीकृष्ण, भीम और अर्जुन हम चार हैं, और तुम अकेले हो; पर डरने की कोई बात नहीं। हम में से जिस एक के साथ तुम युद्ध करना चाहो, करो। शेष देखते रहेंगे। तुम्हें और कोई कुछ नहीं कहेगा, और यदि कोई ज़रा भी कुछ कहने को हुआ तो मैं तुम्हारी ओर से उसके साथ लड़ूँगा।’ कितनी उदारता है युधिष्ठिर की ! पर भीम की दुष्टता देखो, उसने मुझे बल से नहीं, छल से हराया। जब मैं सर्वथा असमर्थ होकर गिर पड़ा तो उस क्रूर ने मेरे सिर पर लात मारते हुए कहा, ‘आज मैंने द्रौपदी के अपमान का बदला ले, अपने को कृत-कृत्य माना।’ यद्यपि गिरे पर लात मारना बहादुरी नहीं, बर्बरता है। तो भी मैंने उसे क्षमा किया; क्योंकि अभी कुछ ही क्षणों बाद मेरे सिर पर गीदड़, कुत्ते और चीलों ने भी तो पाँव रखने ही

हैं।” यह सुन अश्वत्थामा ने मन में कहा, दुर्योधन कितना अभिमानी है। इस समय भी अपना बड़प्पन दिखाने के लिए मुझे सुना रहा है कि मैंने भीमसेन को क्षमा-दान दिया है। सोचता नहीं कि यह क्षमा नहीं, वरन् आत्म-वंचना है। भीम के पास सेना है, सहायक हैं। उसकी भुजा में अपार बल है। इधर इसमें उठने की बात दूर, अपने पर से मक्खियाँ उड़ाने की शक्ति भी नहीं, फिर किस मुँह से कह रहा है, कि मैंने भीम को क्षमा किया। यह इस समय उसका बिगाड़ ही क्या सकता है, जो क्षमा करके नहीं बिगाड़ रहा? क्षमा कोई शक्तिशाली कर सकता है; ऐसे अशक्त का यह कहना कि मैं क्षमा कर रहा हूँ—अपना उपहास उड़वाने के सिवा और क्या है? पर चापलूसों के संसर्ग से इसका दिमाग इतना खराब हो गया है, कि यह मरते समय भी अपनी शक्ति और सामर्थ्य को बिना समझे डींग मार रहा है। मन में यह बात रखते हुए भी अश्वत्थामा ने भद्रता के अनुरोध से दुर्योधन को उत्तर दिया, “आप सम्राट हैं! आप क्षमा कर सकते हैं। पर मेरे मन में अपने पितृघातकों के लिए आग के शोले उठ रहे हैं। मैं उन्हें क्षमा नहीं कर सकता। मैं जाता हूँ और पाँचों के सिर काटकर आपके पाँवों पर रखने के लिए लाता हूँ।”

(कपिलपुराण, अध्याय १०)

२. द्रौपदी की क्षमा

महाभारत के १८वें दिन पाण्डव विजयी हुए। राजलक्ष्मी ने उन्हें वरा। युधिष्ठिर समग्र भारत के सम्राट् हो गए। उनका सर्वत्र निष्कण्टक राज्य हो गया। दुर्योधन, जो कल तक एक काँटा था, वह भी आज निकल गया। कई दिनों बाद आज पाण्डव-सेना बेफिक्री की

१ मृते मयि च मे देहो गृद्धशृगालकुक्कुरैः ।

हन्यते स्वपदाघातैरतो भीमोऽपि क्षम्यते ॥ कपिलपुराण १०।४०

नींद सोयी । आज उन्हें शत्रु का कोई भय वा आशंका नहीं थी । इसलिए अपने शिविर में यह सेना मजे से खुराटे लेने लगी । सब ने समझा था—पांडव बड़े भाग्यशाली हैं । अब ये सर्वदा के लिए सुखी हो गए । इनका दुःख सदा के लिए दूर हो गया । पर भाग्य में कुछ और ही था ।

अभी आधी रात भी न होने पाई थी कि शिविर में कोलाहल मच गया । चीखने और कराहने की आवाजें आने लगीं । अँधेरी रात में अपने ही अपनों को आक्रमणकारी शत्रु समझ मारने लगे । शत्रु कौन है और कहाँ से आया—यह देर बाद मशालों की लौ से पता चला । अब ज्ञात हुआ कि पांडव-सेना आक्रमणकारी के भ्रम से परस्पर लड़कर कट मरी है । पर एक घायल ने बतलाया, “नहीं; अश्वत्थामा ने आक्रमण किया था । वह मेरे हाथ-पाँव काट पांडवों के तम्बू में घुसा था । मूर्च्छित होने के पहले मैंने अँधेरे में उसे तो नहीं, परन्तु उसकी आवाज पहचानी थी ।”

उधर अश्वत्थामा भी पाँच सिर लेकर खुशी-खुशी दुर्योधन के पास पहुँचकर बोला, “महाराजाधिराज की जय हो ! आप सौभाग्य से विजयी हुए और आपके पाँचों शत्रु अपने खड्ग से परलोक में भेज मैं भी पितृऋण से मुक्त हुआ ।” दुर्योधन ने कहा—“मित्र, जो तुमने किया, वह मेरा और कोई सेनापति न कर सका । यद्यपि वे निस्संदेह बड़े योद्धा थे, पर यश भाग्य से ही मिलता है । अच्छा, मेरा अपमान करके मेरे सिर पर लात मारनेवाले भीम का सिर मेरे हाथ पर रख दो । मैं भी मरते-मरते उससे बदला निकाल लूँ ।” यह सुन विजयोन्मत्त अश्वत्थामा ने एक सिर उठाकर दुर्योधन के हाथ पर रखते हुए कहा, “सम्राट् ! आपके शत्रु भीम का सिर आपके हाथ में है । अब जैसे चाहें, इससे अपना प्रतिशोध निकालिये ।” भावना में भी अजीब बल होता है । जो हाथ अपने मुँह पर बैठकर तंग करने वाली मक्खियों और मच्छरों को नहीं उड़ा सकते थे, न जाने उनमें उस समय वह शक्ति कहाँ से आ गई । हाथ पर रखे सिर को जोर से दुर्योधन ने

दूर दे मारा, और वह सिर एक शिला पर गिरकर दो टुक हो गया । उसके टूटते ही दुर्योधन ने एक लम्बी आह भरी, उसकी चीखें निकल गई । वह फूट-फूटकर रोते हुए बोला, “अश्वत्थामा तुमने बड़ा अनर्थ किया । कौरव-कुल के सभी दीपक बुझा दिए । हाय ! तू ने अब हमारा कोई पानी-देवा भी नहीं छोड़ा । यह सिर कभी भीम का नहीं हो सकता । वह सिर तो मेरी गदा के आघात से भी नहीं फूटता था । आज मरते समय इन शिथिल हाथों से कैसे टूट गया ? अश्वत्थामा ! तुम ने बालहत्या की । पाण्डवों के स्थान पर पाण्डवों के बच्चों का वध कर आये हो ।” यों कहते-कहते दुर्योधन का दम टूट गया ।

उधर यह सुनते ही अश्वत्थामा का पसीना छूट गया । उसे अपनी जान के लाले पड़े और प्राण बचाने के लिए मारे डर के भाग निकला ।

उधर दिन निकल आया ; पाण्डवों का सब हर्ष, शोक में बदल गया । द्रौपदी के शोक का कोई पारावार न रहा । वह पुत्रहीना हो गई । उसके पाँचों बच्चे अश्वत्थामा की तलवार ने मौत के घाट उतार दिए । उसने रोते-रोते भीम से कहा—“भीम ! मुझे तुम्हीं पर आशा है और ये सब सुलहपसन्द हैं । अब ‘अशिखी’ (पुत्रहीना) रहकर क्या करूँगी ? मेरे मरण से पहले मेरे बच्चों का मुझे बदला ले दो । जिस तरह भी हो सके, उस सेनापति के बच्चे नर-पशु अश्वत्थामा को जीवित मेरे सामने बाँध कर लाओ । मैं उससे अपने पुत्रों का बदला लूँ, केवल इसी आशा से जी रही हूँ । आशा है, मेरा आशय जानकर तुम बिना किसी से पूछे अभी चल पड़ोगे ।”

यह सुन भीम ने कहा, “रोओ मत द्रौपदी ! अभी मुझे गया ही समझो । मैं अश्वत्थामा को पशु की तरह बाँधकर न लाऊँ तो मेरा नाम भीम नहीं ।”

यों कहकर वह चल पड़ा । तब श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा, ‘देखो, जोश में आ, भीम अकेला शत्रु का पीछा करने दौड़ा है, उसे

बचाओ ! याद रहे, अश्वत्थामा के पास ब्रह्मास्त्र भी है।” युधिष्ठिर ने घबराकर कहा, “अर्जुन, भीम की रक्षा के लिए दौड़ो, और अपनी रक्षा के लिए भगवान् को साथ ले लो। ब्रह्मास्त्र, साधारणास्त्र नहीं; उससे सारा देश भस्म हो सकता है।” युधिष्ठिर के कहते ही कृष्ण-अर्जुन दोनों दौड़कर भीम से जा मिले। तीनों ने सारा दिन खोजने के बाद उस स्थान का पता लगाया, जहाँ अश्वत्थामा भागकर जा छिपा था। अश्वत्थामा को ज्योंही उनके आने का पता चला, वह वहाँ से भाग तो निकला, पर अब उनके हाथ से बचकर निकल जाना असम्भव समझ कर एक ऊँचे टीले पर खड़ा हो, कहने लगा “ओ ! भीम, अर्जुन और कृष्ण, तुम तीनों कान खोलकर सुनो, और मेरे हाथ में पकड़े इस अमोघ ब्रह्मास्त्र को देखो। अब तुममें से जिसे अपनी जान दूभर जान पड़ती हो, वह मुझे पकड़ने आ जाय। मैं भागता नहीं।”

ब्रह्मास्त्र देख तीनों के पैर वहीं के वहीं रुक गए। पर तत्क्षण प्राणों से प्रण का महत्त्व अधिक जान, वे प्राण देने के लिए एकदम अश्वत्थामा को पकड़ने बढ़े। इन्हें आगे बढ़ते देख वह फिर बोला—“पतंगो, आग की ओर मत बढ़ो, भस्म हो जाओगे। क्या तुम्हें संधान किया हुआ ब्रह्मास्त्र नहीं दीख रहा वा भवितव्यता तुम्हें इस भ्रम में डाल रही है, कि तुम इसपर भी विजय पाओगे?” श्रीकृष्ण बोले—“तुम किसे डरा रहे हो अश्वत्थामा ? वीर भी कभी मृत्यु से डरते हैं ? वे कर्तव्य के सामने उसकी कभी परवाह नहीं करते।”

उन्हें पास आते देख सहसा अश्वत्थामा को एक बात सूझी। वह बोला—“तुम तीनों बूढ़े हो, मरने ही वाले हो; आज नहीं तो कल अपने-आप मरोगे। तुममें से किसी को इस अमोघ अस्त्र से मारकर शस्त्र को क्यों व्यर्थ करूँ ! पहले मैंने पांडवों के पाँच पुत्र मारकर इन्हें निर्वंश तो कर ही दिया है। पर अब याद आया कि अभी ये निर्वंश नहीं हुए। उत्तरा के गर्भ में अभी भी उनका एक तर्पण-कर्ता शेष है। अतः यह ब्रह्मास्त्र उसी पर छोड़कर उसे समाप्त किये देता हूँ, जिससे पांडव निर्वंश हो जायें। किये का फल पायें और मेरा प्रति-

शोध भी पूरा हो।” यों कहकर उसने वह ब्रह्मास्त्र अभिमन्त्रित करके उत्तरा के गर्भस्थ बालक को मार डाला। पर साथ ही ब्रह्मास्त्र चला चुकने पर उसकी अपनी सब शेखी भी किरकिरी हो गई। वह उनसे लड़ा अवश्य, पर शीघ्र ही बाँध लिया गया।

बन्दी बना ये तीनों उसे ले आये।

तबतक रात की उस कुत्सित दुर्घटना का समाचार सुन दूर-दूर के लोग पांडव-शिविर के पास पहुँच चुके थे। अश्वत्थामा को कैदी बना देखकर भी उससे किसी को सहानुभूति न थी। सभी उसके क्रूर कुत्सित कर्म की निन्दा उसके मुँह पर कर रहे थे। पर अश्वत्थामा भी चुप न था। मौत के निश्चय ने उसे निर्भय बना दिया था। वह सबके उत्तर में बराबर यह कहता चला जा रहा था—“तुम अपनी रुचि और समझ के अनुसार मुझे बालहत्यारा जान, मेरी ओर बड़े नाक-मुँह सिकोड़ते हो, सिकोड़ते रहो ! मुझे धोखा अवश्य हुआ है, पर उसका मुझे तनिक खेद नहीं; क्योंकि उसीने पांडवों का वंश-विच्छेद कर मेरा प्रतिशोध पूरा किया है। तुम सब मेरी निन्दा भले ही करो, पर मैंने तो धोके से गुरु की हत्या करने वालों से अपने पूज्य पिता का बदला लिया है। पांडव राजा थे, इनके पास सेना थी, शस्त्रास्त्र थे ; मैं असहाय था, अकेला था। अपने पिता के वध का बदला केवल इसी प्रकार ले सकता था। इसलिए मैंने ऐसा किया है। अब लोग स्वयं विचार करें कि मेरा यह कृत्य धोखा देनेवालों के साथ उचित था या नहीं ?” यों कहते-कहते जब वह पांडव-शिविर के समक्ष पहुँचा, तो उसे देख सैनिक दाँत पीसने लगे। एक ओर से आवाज़ आयी—इसे सूली पर चढ़ा दो। दूसरी ओर शोर मचा—इसे हाथी के पाँव से रूँधवा डालो। तीसरी ओर से सुनायी दिया—इसे जीते ही आग में डाला जाय, और चौथी ओर चिल्लाने लगे—नहीं-नहीं, इसे ज़मीन में गाड़कर इस पर कुत्ते छोड़ दिए जायँ। इस प्रकार वहाँ उत्तरोत्तर उत्तेजना बढ़ते देख श्रीकृष्ण बोले—आप सब अपनी-अपनी ही कहेंगे, या उसकी भी सुनेंगे जिसकी गौद खाली हुई ? जिसकी बात

पर भीम अपनी जान पर खेल गया था। और यह अर्जुन बेचारा, जिसका सर्वस्व ही लुट गया है। इनसे भी तो पूछो, ये इसे क्या दण्ड देना चाहते हैं। अश्वत्थामा को किस मौत मारकर इन्हें शान्ति होगी।”

यों कहकर उन्होंने बँधे हुए अश्वत्थामा को द्रौपदी के सामने उपस्थित किया। उस समय अश्वत्थामा का सिर नीचे था। और वह अपनी आनेवाली मौत के बुरे से बुरे दृश्य मन में देख रहा था। उसे निश्चय था कि अब उसे कोई बचाने वाला नहीं, ये लोग जिस बुरी मौत मारेंगे, उसीसे मरना पड़ेगा।

उसे देख द्रौपदी भूखी सिंहनी की तरह उस पर झपटी और उसकी जंजीर को भनभनाती हुई बोली—“क्या तू यह समझता था पापी ! कि तू मेरी गोद खाली करके भी जीवित रह सकेगा और मैं उसका बदला बिना लिये चुप रहूँगी ? मेरा अपमान करनेवालों की लाशों को चारों ओर पड़ी देख कर भी तू भूल गया ! मैं तुझसे बदला लेना भूल जाऊँगी ? मुझे दुःखी बनाने वाले, काश ! तू भी किसी की ‘माँ’ होता, तो तेरी समझ में आता कि माता को पुत्र-वियोग का दुःख कितना दुस्सह होता है !” यह कहते ही उसके हाथ से जंजीर गिर पड़ी और वह किर्तव्यविमूढ़ हो, अश्वत्थामा की ओर निर्निमेष देखने लगी। इधर सैनिकों में जोश बढ़ने के कारण शोर और बढ़ता देख अर्जुन ने कहा—“द्रौपदी, चुप क्यों हो ? बतलातीं क्यों नहीं ? अश्वत्थामा को किस मौत मारा जाय ?” द्रौपदी ने कहा, “मेरी मानोगे अर्जुन ?” अर्जुन बोला, “अभी भी मानने में कोई कसर बाक़ी रह गई है ? तुम जो कहोगी, निश्चय वही होगा। निःशंक हो अपना भाव जल्दी प्रकट करो।” तब द्रौपदी ने कहा, “अर्जुन ! अश्वत्थामा को मैंने क्षमा किया। तुम सब भी उसे क्षमा कर दो !” अर्जुन बोला—“द्रौपदी ! तुम पागल हो गई हो जो अपना सर्वनाश करनेवाले, हमें निर्वश बना देने वाले की प्राण-रक्षा चाह रही हो ?”

द्रौपदी बोली, “इस समय नहीं, कुछ समय पूर्व सचमुच मुझे क्रोध

ने पागल बना दिया था। तुम ही कहो, एक अश्वत्थामा नहीं, यदि हजार अश्वत्थामा भी मार डाले जायें, तो क्या मेरे पुत्र या आपका पौत्र वापस आ सकेंगे? कभी नहीं। फिर इसे मारकर मुझे क्या मिलेगा? और आप सब को क्या लाभ होगा?” अर्जुन ने कहा, “द्रौपदी, फिर सोचो, इस हत्यारे को जीता मत जाने दो।”

वह बोली, “तुम्हीं सोचो अर्जुन ! इसमें बेचारी पूज्या कृपी का क्या दोष है? जिसमें दुःखिनी को मैं और दुःखी बनाने लगी थी। किस्मत^१ की मारी कृपी बेचारी, पहले ही जिसके सुहाग और ऐश्वर्य दोनों लुट चुके हैं ! उस विधवा के बच्चे को मार उसे मैं पति-पुत्रहीन न करूँगी। उसका कोई तो सहारा रहने दो अर्जुन ! जिनके^२ अनुग्रह से आपने धनुर्वेद के प्रयोग और उपसंहार के रहस्य तथा समस्त शास्त्रास्त्र-विद्या सीखी थी, वे आपके गुरु भगवान् द्रोण ही पुत्र के रूप में आपके सामने खड़े हैं। उन्हें छोड़ दो ! मैं नहीं चाहती कि जैसे मेरी^३ आँखों से बार-बार आँसुओं की झड़ी लग रही है, वैसे ही बेचारी कृपी भी रोती रहे। इसलिए चाहती हूँ, तुम सब इसे क्षमा कर दो !”

श्रीकृष्ण ने पूछा, “द्रौपदी ! कुछ क्षण पहले तो तुम कुछ और चाह रही थीं। अब एकदम कैसे बदल गई ?”

वह बोली, “क्या बताऊँ यदुनाथ ! ज्योंही जंजीर पकड़ क्रोध से मैंने इसे अपनी ओर खींचना चाहा, कि अकस्मात् मेरे मुँह से निकल गया, ‘काश ! तू किसी की माँ होता, तो तुझे पता चलता कि

१ अशिर्वी चापि विश्वस्तां हतभाग्यां गतश्रियाम् ।

अवीरां न विधास्यामि कृपीं कृपणां ह्यर्जुन ॥ कपिलपुराण ११।५८

२ सरहस्यो धनुर्वेदः सविसर्गोपसंयमः ।

अस्त्रग्रामश्च भवता शिक्षितो यदनुग्रहात् ॥ ४४

स एव भगवान् द्रोणः प्रजारूपेण वर्तते ॥ ४५

३ मा रोदीदस्य जननी गौतमी पति देवता ।

यथाहं मृतवत्साऽर्ता रोदिम्यश्रुमुखी मुहुः ॥ भागवत स्क० १।३।४७

पुत्र का कितना दुःख होता है !' सहसा उसी समय मुझे ध्यान आगया कि इसकी माता कृपी भी तो अभी तक जीवित है। इसके मरने से उसे भी तो मुझ-सा ही दुःख होगा। परन्तु जिस दुःख से जलकर मैं जीती ही मर रही हूँ—मैं नहीं चाहती कि वह दुःख किसी दुश्मन को भी हो। इसीलिए मेरा खयाल बदल गया।”

यह सुन सबने द्रौपदी की इस क्षमा की प्रशंसा की। अश्वत्थामा छोड़ दिया गया। उसने भी मन में अनुभव किया कि द्रौपदी की क्षमा से उसके प्राण बच गए हैं। वह कृतज्ञता प्रकट करने के लिए बहुत कुछ कहना चाहता था, पर यह समझ, कि मेरे शब्दों का इस समय कोई मूल्य नहीं, चुपके से चला; परन्तु उससे न रहा गया। सहसा उसके मुँह से निकल पड़ा—“कल दुर्योधन की क्षमा सुनी थी, और आज द्रौपदी की क्षमा प्रत्यक्ष देख ली। दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। पर क्षमा पहली को नहीं, दूसरी को ही कहना चाहिए।”

(कपिलपुराण, अध्याय १०)

१ येन दुःखेन दग्धाहं जीवन्नपि मृतोपमा ।

तद् दुःखेन रिपवोऽपि दुःखिनो मा भवन्भुवि ॥ कपिलपुराण ११।६६

दुराचारी की दुर्दशा

जब इन्द्र ब्रह्महत्या के भय से भाग भारतवर्ष के पुष्कर तीर्थ में छिप कर रहने लगा, तब इन्द्र को राज्य-भ्रष्ट देखकर उसके राज्य पर नहुष नाम के राजा ने बलपूर्वक कब्जा कर लिया ।^१

एक दिन नहुष ने स्वर्ग की गङ्गा के किनारे शची को अकेली जाते देखा । उसे देखकर वह भौचक्का रह गया । स्वर्ग का राजा होकर भी वह दास की भाँति शची के सामने खड़ा होकर बड़ी नम्रता से बोला, “विधाता की गति बड़ी ही विचित्र है । उसे कौन जान सकता है ! ऐसी सुन्दर स्त्री एक ऐसे व्यक्ति को, जिसका शरीर सैकड़ों घावों से भरा पड़ा है । स्त्री इतनी सुन्दर है कि उसके सामने रम्भा, उर्वशी, तिलोत्तमा, मेना, घृताची आदि स्वर्ग की सभी अप्सराएँ तुच्छ लगती हैं । और उसे पति ऐसा मिला है, जो सहस्र व्रणों से युक्त होकर भी ऐसी सुन्दर पत्नी को छोड़कर पर-स्त्रियों के पीछे दौड़ता फिरता है ।^२ हमारी स्त्रियाँ तो इसकी नौकरानी बनने के योग्य भी हैं या नहीं, यह भी मुझे सन्देह है ।” यों कहकर फिर वह पापी, जो दूसरों को दोषी ठहराकर उसके निन्द्य कर्म की निन्दा कर रहा था, वही शची को कहने लगा, “मैं तेरा नौकर बनकर रहूँगा, तू मेरी रमणी^३ बन जा ।

१ राज्यभ्रष्टं हरिं दृष्ट्वा हरिभक्तो नराधिपः ।

बलाज्जहार तं राज्यं नहुषो नाम धार्मिकः ॥६

२ ईदृशी स्त्री भगाङ्गस्य लुब्धस्य परयोषिति ॥१३

३ ईदृशी सुन्दरी यस्य परभार्यासु तन्मनः ।

इमां विहाय मूढोऽयं कथं गच्छति मन्दधीः ॥

ब्रह्म० वै० कृ० खं० अ० ५६।१६

४ मां भजस्व वरारोहे सुप्रीता भव किङ्करम् ॥१७

जब तू मेरी स्त्री बन जायेगी, तब तू जहाँ कहेगी मैं वहीं रहूँगा । और देव, दानव, मानवों के पास जो-जो दुर्लभ वस्तुएँ हैं, वे सभी अपने बाहुबल से वा माँगकर भी समर्पण करूँगा । अथवा मेरे भय से भयभीत हो बहुत-से व्यक्ति बिना युद्ध के ही अपने उत्तमोत्तम पदार्थ मुझे सौंप देंगे । वे सभी मैं तेरी भेंट करूँगा । मुझे ब्रह्मा^१ ने अजर-अमर होने का वर दिया हुआ है । आशा है तुम मेरी मानोगी ।

“मेरा^२ मन पर-स्त्री की अभिलाषा कभी नहीं करता ; पर न मालूम, तुझे देख क्यों ललचा रहा है ! मैं^३ अपनी सभी स्त्रियों को छोड़ दूँगा । और यदि तू चाहेगी, तो उन्हें अपनी दासी बनाकर रख लेना ।” यों कहते-कहते स्वर्ग का राजा नहुष मार्ग में ही शची^४ के पाँवों पर गिर पड़ा । रास्ता^५ रोककर खड़े नहुष को डरी हुई शची ने हटाया और एक हाथ से पकड़ कर भगवान् का स्मरण करते हुए कहा, “बेटे^६ सुनो, अब तो तुम पिता के तुल्य हो गए हो ; क्योंकि राजा भय से रक्षा करने तथा प्रजा की पालना करने के कारण पिता के समान समझा जाता है । आज शक्र के भ्रष्ट होकर भाग जाने से मैं विपद्ग्रस्त हूँ और अब तुम स्वर्ग के राजा हो । राजा का कर्तव्य विपत्तिग्रस्तों की रक्षा करना है ; यदि राजा होकर तुम्हीं अत्याचार-दुराचार करने लगोगे, तो फिर रक्षक कौन होगा ? प्रजा अत्याचार नहीं, रक्षा चाहती है ।

१ ब्रह्मणश्च वरैर्देवि जरामृत्युविवर्जितम् ॥३४

२ न मे स्पृहा परस्त्रीषु त्वां दृष्ट्वा लोलुपं मनः ॥३६

३ त्यक्ता मया स्वभार्याश्च रत्नभूषणभूषिताः ।

अथवा रक्षिताः सर्वा दासीः कृत्वा वरानने ॥३७

४ इत्येवमुक्त्वा नहुषः पपात तत्पदाम्बुजे ।

५ उवाच तं शची अस्ता राजमार्गगतं नृपम् ॥ ५२

उत्थाप्य तं करे धृत्वा शुष्ककण्ठौष्ठतालुका ॥५३

६ शृणु वत्स ! महाराज ! हे तात ! भयभञ्जन !

भयत्राता च राजा च सर्वेषां पालकः पिता ॥५४

“पिता के तुल्य राजन् ! गुरु-पत्नी, शिष्य-पत्नी, भृत्य-पत्नी, राज-पत्नी, देव-पत्नी, इष्टदेवी, मासी, भाभी, भूआ, बहिन, भौजा, सास, नूंह, सौतेली माँ, लड़की और धाया ये १६ शास्त्र में माता के समान मानी गई हैं । राजा होने के नाते तुम मेरे पिता और मैं तुम्हारी बेटी हूँ । फिर तू मनुष्य है और मैं देव-पत्नी होने से तुम्हारी माँ भी लगती हूँ; यदि तुम अपनी दुर्वासना में बह, केवल रूप के ही पुजारी हो, तुम्हें शास्त्र-मर्यादा और शिष्टाचार की कोई परवाह नहीं, तुम जरूर भख मारना ही चाहते हो, तो बच्चे ! तेरी सौतेली माँ^१ अदिति मुझसे भी सुन्दर है । उस पर कुदृष्टि डाल और कुम्भीपाक नरक में पड़ ! पद्मनाग के भाई चन्द्रवंशी कहलाने वाले राजा भारतवर्ष जैसे पवित्र देश में जन्म लेकर तुम्हें अपने वंश का प्रदीप होना चाहिए था । पर तेरी यह करतूत ! राज-मदान्ध मूढ़ ! राजा तभी तक राजा है, जब तक प्रजा उसे चाहती है; जनता के विरोधी राजा राज्यच्युत हो मारे-मारे फिरते हैं । असम्भव नहीं, कि तेरा यही दुराचार तुम्हें राज्यच्युत कर दे ! ”

यह सुनकर नहुष अकड़कर बोला, “देवी ! तूने सभी उल्टी बातें की हैं । धर्म का जो यथार्थ स्वरूप है, वह अब मैं तुम्हें सुनाता हूँ । स्वर्ग^३ कोई कर्मभूमि नहीं, यह तो एकमात्र भोग-भूमि है । पुण्य करने के बाद फल भोगने के लिए मर कर लोग स्वर्ग में आते हैं । पर मेरे

१ गच्छ वत्सादिति रन्तुं यदि चेच्छसि मातरम् ॥५८

नोट—शायद यह नहुष कश्यप की पत्नी कद्रु का पुत्र था, तभी कद्रु की सौत अदिति उसकी माँ हो सकती है । यह बात निर्मूल नहीं । महाभारत शान्ति पर्व ३५।९ में कद्रु के पुत्र का नाम नहुष जान पड़ता है । इसके विरुद्ध जनमत हो जाने से यह राज्यच्युत कर दिया तो नाग का नाग ही रह गया ।

२ कद्रु का पुत्र एक पद्मनाग भी इसका भाई था । महाभारत शान्ति ३५।१० पद्मानां चन्द्रवंश्यानां । ब्र० नै० ५९।६६।

३ न हि कर्मस्थलमिदं स्वभोगस्थलमेव हि ॥६२

प्राणों का अन्दाज़ा कर मैं उसी शरीर से स्वर्ग^१ में आ गया हूँ। दूसरे, तेरा इस समय कोई स्वामी नहीं और अस्वामिक द्रव्य छोड़ना बुद्धि-मत्ता की बात नहीं होती है”^२—यों कहकर नहुष ने गुंडों की तरह उसका रास्ता फिर रोक^३ लिया और इन्द्राणी^४ के पाँवों पर बार-बार पड़ने लगा।

तब तंग आकर अपना पीछा छुड़ाने के लिए शची ने कहा, “मुझे छोड़, मैं तेरी माता के तुल्य हूँ^५; निर्लज्ज ! मैं आज अशुद्ध हूँ। चार दिन के बाद बात करना।”

नहुष पर तो काम का भूत सवार था। उसने अपने राज्य-पद की मर्यादा तो सड़क पर खड़े होकर मिटा ही दी थी। कामान्ध होते ही उसने धर्म-शर्म सब भुला दिए थे।

पर अपने मतलब के लिए पापी केवल प्रमाण ही नहीं, शास्त्र की व्यवस्था भी देने लगा। बोला, “एक तो देव-पत्नी^६ सदा ही शुद्ध होती हैं, दूसरे निषिद्धाचरण^७ कर्म-भूमि पर पाप है, परन्तु स्वर्ग में वह पाप नहीं माना जाता है। तीसरे, हमारे जैसे तपस्वी को, जो अग्नि के समान तेजस्वी हैं, उन्हें तो कर्मक्षेत्र में भी यह कोई पाप न था।

१ स्वर्गमागच्छति नरो विहाय मानवीं तनुम् ॥६०

स्व शरीरेणागतो यत्पुण्यं पश्य सुन्दरि ॥ ब्र० वै० ५६।६१

२ द्रव्यमस्वामिकं भोग्यं सुखं त्यजति मन्दधीः ॥६४

३ इत्येवमुक्त्वा नहुषः कृत्वा वर्त्मनिरोधनम् ।

४ पुनः पपात चरणे महेन्द्राण्या मुहुर्मुहुः ॥१०६

५ त्यज मामद्य हे मत्त ! मातृतुल्यां रजस्वलाम् ॥११६

६ यदि मां मातरं मूढ ! गृहीष्यसि बलेन च ।

ऋतावतीते दिवसे गमनञ्च करिष्यसि ॥१२५

६ देवपत्नी सदा शुद्धाधुना मां मानवं प्रति ॥ १२७

७ रजस्वलाया सम्भोगो कर्मक्षेत्रे च भारते ।

त्वयोक्तं च भवेत् पापं न तु स्वर्गे च सुन्दरि ॥१२८

८ को वा मन्त्रश्च के देवा नहि शास्ता यमो मम ॥ ब्र० वै० ५६।१३१

९ कर्मक्षेत्रेऽपि तत् कर्म यद्वेदोक्तं शुभाशुभम् ।

न भवेद्वैष्णवानाञ्च ज्वलतां ब्रह्मतेजसा ॥१२९

“प्रजा मेरा कुछ बिगाड़ सकेगी, इसका स्वप्न छोड़ दो। मैं किसी मन्त्र व देव की तो बात ही क्या... यम की भी परवाह नहीं करता। मैं सभी को ठीक कर सकता हूँ। इसलिए तू अपने घर^१ चल, मैं अभी तेरे पास आता हूँ। रजस्वलागमन^२ यदि तू पाप समझती है, तो वह भी तुझे नहीं, मुझे लगेगा। उससे तुझे क्या?” यों कहकर नहुष रत्नयान पर चढ़कर स्वर्ग के प्रसिद्ध बाग ‘नन्दन’ में चला गया। और शची अपने महल में न जा, गुरु बृहस्पति के घर चली गई। घर में देवगुरु बृहस्पति और उनकी धर्मपत्नी तारा दोनों बैठे थे। वहाँ पहुँच शची जोर-जोर से रोते हुए कहने लगी—“गुरुदेव! मैं आपकी शरण में हूँ, मेरी रक्षा कीजिये। मुझे डाकू नहुष से बचाइये! और जिसके न होने से मेरी यह दशा हुई है, उस अपने दास^३ (इन्द्र) का अपराध क्षमा कर उसे भी देश में फिर लाइये।” यों कहकर शची फिर ढाड़ें मार-मारकर रोने लगी। रानी के बुरे दिन देख बृहस्पति की पत्नी^४ तारा भी ऊँचे रोती हुई, अपने पति के पैरों पर गिर कर बोली, “नाथ, जैसे भी हो शची की रक्षा करो!” तब बृहस्पति ने अपनी पत्नी तारा को कहा, “तारा^५! उठ। शची का सभी प्रकार से कल्याण होगा। इसका पति इन्द्र, मैं शीघ्र ही मिला दूंगा।” फिर वह शची से कहने लगे, “बेटी^६! मेरे लिए तू मेरे पुत्र कच की पत्नी के समान है। फिर मेरे रहते तुझे किसका भय है, भय छोड़ दे! सती^७ का सतीत्व कोई नष्ट नहीं कर सकता। जो मन की कच्ची हैं, धर्म उन्हीं

१ शय्यां कुरु गृहं गत्वा शीघ्रं यास्यामि ते गृहम् ॥१३५

२ ऋतुपापं मयि भवेत् तव किं गच्छ शोभने ॥१३६

३ दस्युग्रस्ताञ्च मां रक्ष, देशं किङ्करमानय ॥ ब्र० वै० ५६।१४८

४ दृष्ट्वा तद्रोदनं तारा रुरोद च पुनः पुनः ॥१६८

५ उन्निष्ठ तारे शच्याश्च सर्वं भद्रं भविष्यति ॥ ब्र० वै० कृ० ५६।१७०

६ त्यज वत्से! भयं सर्वं भयं किं ते मयि स्थिते।

यथा कचस्य पत्नी मे तथा त्वमसि शोभने ॥२

७ न नश्यति सतीत्वञ्च हृच्छुद्धायाश्च योषितः।

यन्मानसे विकल्पश्च तस्य धर्मश्च नश्यति ॥११

के बिगड़ते हैं। तू बिल्कुल भय मत कर !”

उधर नहुष शची को रोती देख यह कहता गया था, कि तू अब घर जा, मैं वहीं आऊँगा। पर कामी को चैन कहाँ ? नन्दन वन में पहुँचते-पहुँचते उसकी सलाह बदल गई। उसने शची के पास दूत भेजकर उसे नन्दन वन में बुला भेजा। दूत ने शची से कहा, “देवी, उठिये ! और शीघ्र नहुष के पास चलिये, वह आपको नन्दन-वन में अपने विनोद के लिए बुला रहे हैं।”^१

दूत की बात सुन बृहस्पति का सारा शरीर काँप उठा और आँखें क्रोध से लाल हो गईं। पर नहुष वहाँ का राजा था। दूसरों के अत्याचार-अन्याय को राजा रोकता है; पर जब वही कुकर्म करने पर उतारू हो जाए तो उसे कौन रोके ? यह सोचकर उन्होंने उसके विनाश का उपाय मन में सोच, दूत से कहा, “नहुष को जाकर कह दे, यदि वह शची को स्त्री बनाना चाहता है तो रात को ऐसी सवारी पर बैठकर आये, जिस पर कभी कोई सवार न हुआ हो—और वह यों हो सकता है, कि ऐसी पालकी में बैठे जिसको सप्तर्षि उठाकर चलें।”

बृहस्पति का यह सन्देशा दूत ने जब नहुष को सुनाया, तब उस कामान्ध ने खुशी-खुशी कहा, “जा, जा ! तू सप्तर्षियों को यहीं शीघ्र बुला ला।” यह सुन दूत ने सप्तर्षियों को जाकर कहा और वे नहुष की बात सुनने उसके पास आ गए। आये हुए महर्षियों का उस स्वार्थान्ध नहुष ने इतना सम्मान किया कि वे प्रसन्न होकर उससे कहने लगे, “तू जो चाहता है, वही वर हमसे माँग ले !” यह सुन नहुष

१ उत्तिष्ठ देवि शीघ्रं च गच्छ त्वं नहुषं प्रति।

क्रीडां कर्तुं च रहसि रम्ये नन्दनकानने ॥ ब्र० वै० कृ० ६।१६

२ बृहस्पतिरुवाच—नहुषं वद गत्वा त्वं शचीं चेद्भोक्तुमिच्छसि।

अपूर्वयानमारुह्य निशायामागमिष्यसि ॥ १८

सप्तर्षीणाञ्च स्कन्धे वै दत्वा स्वशिविकां शुभाम् ॥

ब्र० वै० कृ० ६०।१६

ने कहा, “मैं शची^३ को प्राप्त करना चाहता हूँ और उसकी यह इच्छा है कि मैं सप्तर्षियों को वाहन बनाकर उसके पास आऊँ। इसलिए मैं चाहता हूँ कि आप सातों ही मेरी पालकी उठा कर मेरे वाहन बनें !” कामी नहुष से यह सुनकर वे एक-दूसरे को नहुष के मोह का संकेत कर बहुत ऊँचे स्वर से हँस पड़े और अपनी की प्रतिज्ञा के अनुसार उन्होंने पालकी उठाना स्वीकार कर लिया। फिर क्या था ! नहुष उसी समय पालकी में बैठ गया और उसने उन्हें पालकी उठाकर ले चलने की आज्ञा दे दी। जब पालकी उठाकर ऋषि अपनी चाल से चल रहे थे, तब देर होती देख नहुष उन्हें झिड़ककर कहने लगा, “सर्प-सर्प” (अर्थात् जरा जल्दी-जल्दी सरको)। तब आगे-आगे चलनेवाले दुर्वासा ने क्रुद्ध होकर उसे शाप दिया—“सर्प-सर्प कहने वाले, तू आप ही सर्प हो जा !” यों कहते ही पापी स्वर्ग से गिरा और भारत के जंगल में अजगर बन कर रहने लगा।

(ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृष्णजन्म खण्ड २, अ० ४६)

३ क्रुद्धः शशाप दुर्वासाश्चाग्रगामी च वर्त्मनि ॥४१
महानजगरो भूत्वा पत वै मूढमानस ॥ ब्र० वै० कृ० ६०

बलात्कार से सर्वनाश

इक्ष्वाकु का पुत्र दण्ड बड़ा उद्वण्ड था, अतः पिता ने उसे दूर दक्षिण के एक भूभाग का शासक बना दिया था। दण्ड ने वहाँ गोदावरी के तट पर मधुमन्त नाम का नगर बसा, उसे अपनी राजधानी बनाया और वहाँ जाकर सबसे पहला काम यह किया कि बात-बात पर टोकने वाले महर्षि वसिष्ठ को हटा उनकी जगह दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य को अपना गुरु बना लिया। दानव-गुरु मानव-शिष्य को पा बड़े प्रसन्न हुए। उन्हें क्या पता था कि बिगड़ा मानव दानव से भी अधिक भयंकर नीच हो जाता है। उन्होंने तन-मन से दण्ड के राज्य की अभ्युदय-कामना की। उनके प्रयत्नों से वह छोटा-सा साम्राज्य बड़ा समृद्ध हो गया। उसकी ऋद्धि के साथ दण्ड के उच्छृंखल आचरण की भी वृद्धि हुई। अब वह शास्त्रों के विधि-निषेध को मानना मन की दुर्बलता का चिह्न मानने लगा।

चैत्र^१ में वह एक दिन अपने साथियों के साथ घूम रहा था। मन में लहर उठी, गुरु के पास चलें, सभी सहित शुक्राचार्य के आश्रम पर पहुँच गया। गुरु घर पर न थे, वह अपने पुराने शिष्य दानवराज वृषपर्वा के यहाँ गये हुए थे। दण्ड ने दासियों से पूछा, “क्या और कोई घर पर है?” उन्होंने^२ उत्तर दिया—“राजन्! गुरुपुत्री अरजा अन्दर ही बैठी हैं।” यह सुन उस राजा ने यों ही स्वाभाविक तौर पर अपने भाई^३,

१ परस्य चाकरोन्नाम मधुमन्तमिति प्रभो ॥ वाल्मीकि उ० बा० २०।१८

२ रमणीयमुपक्राम चैत्रे मासि मनोरमे ॥ वाल्मीकि रा० उ० ८०।३

३ तास्तमूचुर्गुरोः पुत्री संतिष्ठत्यरजा नृप ॥२५

४ विसर्जयामास तदा भृत्यान् भ्रातृन् सुहृत्तमान् ।

शुक्रशिष्यानपि बली एकाकी पृष्ठ आब्रजत् ॥२८

मित्र तथा नौकरों को घर लौट जाने की आज्ञा दी और स्वागत के लिए इकट्ठे हुए शुक्राचार्य के शिष्यों से भी कहा, “आप सब अपना-काम कीजिये । मैं गुरुपुत्री के पास बैठ गुरुदेव की प्रतीक्षा करूँगा ।” वे सब यथारुचि अपने-अपने स्थानों पर चले गए । राजा दण्ड अकेला अरजा के पास गया ।

अरजा ने उसे आते देख बड़ा भाई समझ खड़ी होकर बड़ी प्रसन्नता से उसका स्वागत-सत्कार किया ।^१ परन्तु अरजा के सौन्दर्य को देख, तथा उसे एकान्त में पा, इसका मन पाप-लिप्त हो गया था । वह काम-मोहित हो, अरजा से बोला—“सुन्दरी ! तू मुझे स्वीकार-कर !” अरजा लज्जा तथा भय से काँप उठी । मारे शर्म के कुछ न बोली । पर वह बेशर्म बार-बार यही रट लगाता रहा । आखिर तंग आकर बोली, “मूढ़ ! तू मेरे पिताजी का शिष्य होने से मेरा भाई लगता है और मैं तेरी धर्मबहिन हूँ ।”^२ पर कामी वही बात कहता-कहता आगे बढ़ता ही गया । यह देख अरजा ने कहा, “राजन् ! आपके अधिक कहने से क्या होगा ? मैं आत्म-समर्पण नहीं कर सकती । अपना आप दान करने से न केवल मेरा ही, अपितु आपका भी घोर अनिष्ट होगा । आप नहीं जानते, मेरे पिता बहुत क्रोधी हैं । वह इतने तेजस्वी हैं कि मुझे और आपको अपने एक ही शाप से तत्काल भस्म कर देने की क्षमता रखते हैं ।”

यह सुन दण्ड ने कहा, “सुन्दरी, वह तो आकर भस्म करेंगे, परन्तु काम^३ तो मुझे इसी समय जला रहा है । अतः तुझे पा लेने पर मेरी

१ तथागतं शुक्रसुता प्रत्युत्थाय यशस्विनी ।

पूजयामास संहृष्टा भातृभावेन मानवम् ॥२६

२ मूढबुद्धे ! भवान् भ्राता ममापि स्वयमागतः ।

भगिनी धर्मतस्तेऽहं भवान् शिष्यः पितुर्मम ॥ वामनपुराण ६३।३२

३ सोब्रवीद्भीरु मां शुक्रः कालेन परिदह्यति ।

कामाग्निनिर्दहति मामद्यैव तनुमध्यमे । वामनपु० ६३।३३

४ त्वां प्राप्य तु वधो वाऽपि पापं वाऽपि सुदारुणम् ॥ वा०रा०उत्तरका० ८०।१५

मृत्यु हो जाय या कोई बड़ा भारी पाप लगे, मुझे वह सब सह्य है ।”
यों कह उस पापी ने अरजा से भगड़ा शुरू किया, हाथा-पाई हुई ।
सुकुमारी अबला उस मुस्टण्डे दुष्ट का मुक्ताबला न कर सकी । दुष्ट
ने उससे बलात्कार किया । बलपूर्वक उसका सतीत्व नष्ट करके वहाँ
से चोर की तरह छुपता अपने नगर को भाग गया । और अरजा
बेचारी क्षत-विक्षत होकर आश्रम के बाहर बैठ उसकी जान को रोने
लगी ।

कुछ देर बाद उसके पिता शुक्र वृषपर्वा के यहाँ से यज्ञ समाप्त
कराकर आश्रम लौटे । अरजा की यह दशा देख आचार्य शुक्र ने पूछा,
“बेटी ! तुम्हें किसने इस शोचनीय दशा को पहुँचा कर अपने सर्वनाश
का आह्वान किया है ?”

अरजा ने लज्जा, घृणा, शोच और शोक से विह्वल हो रोते-रोते
कहा, “मेरे बार-बार मना करने, लड़ने-भगड़ने और रोने-चिल्लाने
पर भी आपके उद्दण्ड शिष्य दण्ड ने अनाथ समझ मेरी यह दशा कर
मुझे कहीं का नहीं छोड़ा ।”

यह सुन शुक्राचार्य आगबबूला होकर कहने लगे, “दण्ड ने उद्दण्ड
हो मेरा अपमान, गुरुपद के गौरव का तिरस्कार और अरजा को धर्म-
भ्रष्ट किया है । अतः सात रात के अन्दर उसका यह राज्य, सेना और
सभी सवारियाँ आग में जलकर भस्म हो जायेंगी—जिनके बल पर
उसने यह सब अनर्थ किया है ।” फिर उन्होंने अपने सभी शिष्यों से
कहा, “यहाँ के निवासियों में घूम कर उन्हें यह कह दो कि इस जन-
पद को सात दिन के अन्दर छोड़कर चले जायँ, क्योंकि यह प्रांत मेरे
ही प्रताप से समृद्ध हुआ था और अब मेरे ही शाप^१ से आज से सातवीं

१ तव शिष्येण दण्डेन वार्यमाणेन चासकृत् ।

बलादनाथा रुदती नीताऽहं वचनीयताम् ॥

२ तस्मात् सराष्ट्रः सबल सभृत्यो वाहनैः सह ।

सप्तरात्रान्तराद् भस्मन्नग्नौ दृष्ट्वा भविष्यति ॥

रात को जलकर स्वयं निर्जन हो जायगा । जनपद नहीं रह सकेगा ।”

शिष्य गुरु-आज्ञा से गये और प्रांत में सब जगह यह खबर फैल गई । इससे प्रांत-भर में भगदड़ मची । पर पापी दण्ड भाग कर भी कहाँ जाता, उसी के कारण तो यह सब होने वाला था । मौत सामने आयी देख मद्य और काम दोनों नशे उतर गए; पर जो कर चुका था, उसका फल उसे भोगना ही पड़ा । सातवीं रात को शुक्र के शाप से ऐसी आग लगी कि दण्ड और उसकी राजधानी सब आग लगने से भस्म हो गए । तभी से इसे दण्डकारण्य कहते हैं और यह तभी से फिर कभी नहीं बसा ।’

(वामनपुराण, अ० ६)

पत्नी-त्याग से पाप

राजा उत्तानपाद की सुरुचि नामक भार्या से उत्तम का जन्म हुआ, यह ध्रुव का सौतेला भाई था। उत्तम का विवाह बभ्रुकुमारी बहुला से हुआ। बहुला अपने समय की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी थी। इसीलिए उसे अपने सौन्दर्य का गर्व भी था। यद्यपि उत्तम की विजयों ने उसके राजपद को सौ गुणा बढ़ा दिया था और वह भी कोई कम गर्वीला न था, तो भी वह बहुला नहीं, उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होने के कारण उसके सामने भीगी बिल्ली बना रहता था। वह सदा उसके पास रहता और कभी स्वप्न में भी उससे वियुक्त होना न चाहता था। यह राजा रानी की जितनी अधिक अपेक्षा करता था, रानी राजा की उतनी ही ज्यादा उपेक्षा करती थी। उत्तम बहुला की इच्छाओं के सदा अनुकूल चलता और बहुला उत्तम की इच्छाओं के हमेशा प्रतिकूल व्यवहार करती थी।

एक दिन महाराज उत्तम ने एक बड़ा भारी दरबार किया, उसमें देश-देशान्तरों के राजा-रईस बुलाये गए। यह उत्सव उत्तम ने अन्य लोगों पर अपना प्रभाव तथा दबाव दिखलाने के उद्देश्य से ही किया था। इस उत्सव में बड़ी चहल-पहल थी। महाराज उत्तम का प्रभाव और प्रताप बाहर से आये राजा-महाराजाओं तथा सामन्तों के विनीत आचरण से अपने-आप प्रकट हो रहा था। राजा और रानी के सामने अनेक राजा-महाराजा, सामन्त तथा उच्च अधिकारी बैठे थे। भोजन का आयोजन हुआ, अनेक भक्ष्य, भोज्य, पेय, चोष्य सभी के सामने रखे गए। उस समय राजा उत्तम अपने सम्मान्य अतिथियों का मान बढ़ाने तथा उन पर अपनी प्रीति जताने के लिए किसीको भक्ष्य, किसीको भोज्य, किसीको पेय अपने हाथों दे-दिला रहे थे। तभी उत्तम ने

अपनी महारानी को भी कुछ पेय पदार्थ पीने को कहा, परन्तु बहुला ने उस राज-प्रसाद को लेने से सबके सामने बड़ी बुरी तरह इन्कार कर दिया। राजा के बार-बार कहने पर भी वह बराबर इन्कार ही करती गई। उत्तम राजा थे, उनमें धन, यौवन तथा प्रभुत्व तीनों ही मद थे। उन्होंने सबके सामने इस इन्कार को अपना बहुत बड़ा अपमान समझा। मन ही था, इस ठेस से टूट गया। उससे बहुला पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। यद्यपि बहुला का प्रभाव उस पर कम न था। उसमें बड़ी शान्ति थी, बड़ा सामर्थ्य था। वह वहाँ की महारानी थी। पर यह सभी सामर्थ्य तथा प्रभाव उसका अपना न होकर, दूसरे का दिया होने से उसमें तभी तक था, जब तक उसका पति उस पर प्रसन्न था। उसकी दृष्टि वक्र होते ही उसके प्रभाव आदि सब उसे निराश्रय छोड़ न जाने किधर भाग गए।

इधर कुपित उत्तम ने द्वार पर खड़े एक विश्वस्त उच्चाधिकारी को बुलाकर आज्ञा दी कि वह महारानी बहुला को इसी समय राज्य की सीमा से बाहर निकाल किसी निर्जन वन में छोड़ आए। अधिकारी कुछ कहना चाहता था, यह जान, राजा ने कहा, “खड़े क्या देखते हो, शीघ्र आज्ञा का पालन करो! इस विषय में तुम्हें कुछ सोचने या बोलने की आवश्यकता नहीं। हमने इसे त्याग दिया है। हम नहीं चाहते कि यह निरंकुश अब यहाँ रहे।” यह सुन वह सेनाधिकारी राजाज्ञा को अनिवार्य जान, रानी को रथ पर बिठा, सीमा के बाहर दूर निर्जन वन में निर्वासित कर लौट आया।

रानी को निर्ममता से त्याग वह राज-काज में लग गया। क्योंकि सबके सामने अपने साथ उस दिन रानी द्वारा हुए रूक्ष व्यवहार से राजा के अभिमान को चोट लगी थी। राजा की अहंता ने उसकी ममता को चूर-चूर कर दिया था। अतः अपने मन में अब रानी की कोई जगह न होने से वह उसे बिल्कुल भूल-सा ही गया था। पर एक

१ द्वारस्थैनां दुष्टहृदयामादाय विजने वने ।

परित्यजाशु नैतत्ते विचार्य वचनं तव ॥ मार्क० १७

घटना से भूली बहुला उसे फिर याद आने लगी । बात यों हुई कि—
एक दिन कोई सुशर्मा नाम का ब्राह्मण राजा के पास आया । वह बहुत दुःखी था । उसने उत्तम से कहा, “राजन् ! मैं आपकी प्रजा हूँ और इस समय भयानक विपत्ति में पड़ा हूँ । उस विपद् से आप मेरा शीघ्र ही उद्धार कीजिये । राजा निर्बलों का बल होता है । वह संकट में सबकी रक्षा करता है ।” राजा ने पूछा, “ब्राह्मणदेवता ! कहो, तुम्हें क्या कष्ट है ? तुम्हें किसने सताया है ?” ब्राह्मण ने कहा, “महाराजा-धिराज ! मैं रात सोया हुआ था, मेरे घर के सभी दरवाजे बन्द थे । फिर भी दरवाजा खोले बिना ही कोई मेरी स्त्री को चुराकर ले गया है । मुझे चोर का पता नहीं, कृपया आप उस चोर का पता लगा, मेरी भार्या मुझे दिलवा दें !” राजा ने कहा, “जब चोर का पता नहीं, तो हम किससे दिलवा दें ? जिसका तुम्हें पता नहीं, उसका पता हमें कैसे हो सकता है ?” ब्राह्मण बोला, “आप इसका पता कैसे लगायें, इस विषय में मैं क्या बतलाऊँ ? यह आपका अपना काम है । इसका उपाय आप स्वयं ढूँढ़िये । राजन् ! आपको मालूम होना चाहिए कि हम प्रजा के लोग अपनी रक्षा के लिए ही आपको वेतन^१ के रूप में अपनी-अपनी आय का छठा भाग कर देते हैं । और इसी विश्वास से रात को निश्चिन्त सोते हैं कि आप हमारे धन और जन की रक्षा करेंगे ।”

राजा ने बात बदलकर कहा, “जब तुम कह रहे हो कि चोर का पता नहीं, दरवाजे भी बन्द थे, तो हो सकता है कि तुम्हारी पत्नी स्वयं किसी के साथ चली गई हो ?” ब्राह्मण ने कहा, “जबान सँभाल कर बोलिये, आप क्या कह रहे हैं ! यह कभी नहीं हो सकता, वह पतिव्रता है । उसके विषय में आप ऐसा न कहें !” राजा बोले, “ब्राह्मण ! हम पता तो लगायें, पर पहले हमें भी तो उसके विषय में कुछ पता हो । इसलिए उसकी पहचान के लिए उसकी शकल-सूरत, आकार-

१ त्वं रक्षिता नो नृपते ! षड्भागादानवेतनः ।

धमस्य तेन निश्चिन्ता स्वपन्ति मनुजा निशि ॥ मा० पु० ६६।२८

प्रकार का परिचय दो । तुम्हारी स्त्री शरीर से कैसी है, रंग-रूप कैसा तथा उसकी अवस्था क्या है ? और स्वभाव की कैसी है ? —तब कहीं जाकर उसका पता लगाने का कार्य आरम्भ होगा ।”

ब्राह्मण बोला, “राजन् ! मेरी स्त्री की दृष्टि से क्रूरता टपकती है । उसका क्रोध बहुत ऊँचा है, पर भुजाएँ बहुत छोटी हैं । मुँह दुबला-पतला, आँखें अन्दर को धँसी हुई, शरीर कुरूप, रंग बहुत काला और स्वभाव बहुत ही चिड़चिड़ा है । यह मैं उसकी निन्दा नहीं करता, किन्तु पहचान के लिए उसका ठीक-ठीक हुलिया बता रहा हूँ । उसकी बातें सदा बहुत कड़वी होती हैं । उसकी पहली अवस्था कुछ-कुछ बीत चुकी है । इस ढलती जवानी में बुढ़ापा उस पर पूरी तरह छाया हुआ प्रतीत होता है ।”^१

राजा ने कहा, “ब्राह्मण ! ऐसी स्त्री लेकर क्या करोगे ? मैं तुम्हें दूसरी भार्या ला देता हूँ । जो सुन्दर, स्वरूप तथा अच्छे स्वभाव की होगी । वह पहली तुम्हारी स्त्री तो तुम्हारे जीवन का जंजाल और दुःख का कारण ही थी—उसे जाने दो, चली गई तो अच्छा ही हुआ ; भगवान् ने अपने-आप आपकी विपत्त टाल दी ।”^२

ब्राह्मण बोला, “राजन्, तुम यह क्या कह रहे हो ? अपनी पत्नी की रक्षा करनी चाहिए, यही वेद की आज्ञा है । उसकी रक्षा न करने पर उससे वर्णसंकर ही उत्पन्न हो सकते हैं ।^३ पत्नी न होने के कारण मेरे सभी धार्मिक नित्य कर्म छूट रहे हैं । इससे मेरा पतन हो रहा है । मैं दूसरी भार्या बिल्कुल नहीं चाहता । मैंने उसके साथ अग्नि को

१ कठोरनेत्रा सात्युच्चा ह्रस्वबाहुः कृशानना ।

विरूपा चापि भूपाल न निन्दामि तथैव ताम् ॥३०

वाचि भूपातिपरुषा न सौम्या सा च शीलतः ।

इत्याख्याता मया भार्या साकारा चानिरीक्षणा ॥३१

मनागतीतं भूपाल तस्याश्च प्रथमं वयः ।

२ अलं ते ब्राह्मण तया भार्यामन्यां ददामि ते ।

३ धर्महानिश्चानुदिनमभार्यस्य भवेन्मम ॥ मा० पु० ६६।३२

साक्षी कर विवाह के समय जो प्रतिज्ञाएँ की थीं, उन्हें भुलाकर कैसे पापी बनूँ ? मुझे मेरी वही स्त्री चाहिए, आप उसी का पता लगायें । मैं दूसरी को नहीं चाहता ।” उत्तम बोला, “ज़रा मुश्किल बात है; पता नहीं, वह कहाँ और किधर हो !” ब्राह्मण ने कहा, “मुश्किल क्या है ? राजा स्वयं पता लगाना चाहे तो पता क्यों न लगे ? पर यह अवश्य है कि गद्दी पर बैठे-बिठाये यह काम आराम से होने का नहीं । इसके लिए ज़रा हाथ-पाँव हिलाने की आवश्यकता है ।” राजा भोले-भाले स्पष्टवक्ता ब्राह्मण की बात सुन जोश में आकर बोले, “हाथ-पाँव की बात कहते हो, तो मैं स्वयं उसकी खोज करूँगा और कराऊँगा । आगे मिलना न मिलना तुम्हारे भाग्य की बात है ।”

यों कह, राजा उत्तम रथ पर चढ़ स्वयं उसकी खोज को निकले । कई दिन इधर-उधर खोज के बाद, एक दिन वह वन में से जा रहे थे, तो उन्हें वहाँ एक आश्रम दिखायी दिया । राजा रथ से उतर उस आश्रम में गये ।

राजा को आश्रम में आया देख, आश्रम-वासियों ने राजा का स्वागत-सत्कार किया । जब मुनि के पास पहुँचे, तो उन्हें देख मुनि ने त्वरा से शिष्य को कहा, “अर्घ का सामान ला !” यह सुन शिष्य ने धीरे से कहा, “गुरुदेव ! क्या इन्हें अर्घ देना है—इस बात का भली प्रकार विचार कर जो आज्ञा हो, वह पालन करूँ ।” उसकी यह बात मुनि तथा राजा दोनों ने सुनी । यह सुन मुनि ने राजा के स्त्री-त्याग का वृत्तान्त योगबल से जान “नहीं रहने दो !” यों कह एक आसन की ओर संकेत कर राजा को बैठने के लिए कहा और उसके प्रणाम कर बैठ जाने पर ऋषि ने कहा, “राजन् ! आप यहाँ कैसे पधारे हैं और क्या चाहते हैं ?”

राजा ने कहा, “एक ब्राह्मण के घर से किसी व्यक्ति ने उसकी

१ स दृष्ट्वा नृपतिं प्राप्तं समुत्थाय त्वरान्वितः ॥४५

सामान्यस्वागते नैव शिष्यामाहार्घमानय ।

२ तमाह शिष्यः शनकैर्दातव्योऽर्घोऽस्य किं मुने ॥४६

भार्या चुरा ली है। उसकी खोज करने के लिए मैं यहाँ आया हूँ। परन्तु इस समय उससे पहले आपसे एक बात अपने विषय में पूछनी पड़ गई है। कृपया बतलाइये जब मैं आपके आश्रम में आया था तो मुझको देखते ही आपने मुझे अर्घ देने का विचार किया था; किन्तु फिर आपने उसे सहसा रोक क्यों दिया? क्या मुझे आप राजा नहीं मानते? या शास्त्रानुसार राजा अर्घ्य नहीं होता? यदि मैं भूलता नहीं तो राजा षडर्घ्यों में एक अवश्य है।”

ऋषि बोले, “राजन् ! मैं जान गया हूँ कि आप राजा उत्तान-पाद के पुत्र महाराज उत्तम हैं। और यह भी जानता हूँ कि षडर्घ्यों में राजा भी होता है तथा अब यह भी जान लिया कि आप किस लिए घूम रहे हैं। परन्तु जिस समय आप यहाँ आये, उस समय आपको देखकर मैंने जल्दी में अर्घ्य लाने की आज्ञा भी दे दी थी। परन्तु इस शिष्य ने मुझे सावधान किया। मेरी कृपा से वह मेरी ही भाँति संसार के भूत, भविष्य और वर्तमान का हाल जानता है। उसने जब कहा, ‘विचार कर आज्ञा दीजिये!’ तब मैंने आपका भूत आचरण ध्यान से जाना। इसीलिए आपको अर्घ्य का अनधिकारी हो गया जान, अर्घ्य नहीं दिया। राजन् ! इसमें सन्देह नहीं कि आप स्वायम्भुव मनु के वंश में उत्पन्न होने के कारण अर्घ्य पाने के अधिकारी थे, तो भी मैं अब आपको अर्घ्य का पात्र नहीं समझता।”

राजा ने पूछा, “मैं रोज तो आता नहीं, फिर मैंने ज्ञानपूर्वक वा अज्ञान में कौन-सा ऐसा पाप किया है, जिससे बहुत दिनों के पश्चात् आने पर भी मैं आपसे अर्घ्य पाने का अधिकारी नहीं रहा?”

ऋषि बोले, “राजन् ! क्या इस बात को भूल गए कि आपने अपनी पत्नी का अकारण परित्याग किया है। पत्नी को छोड़ते ही तुम्हारा समस्त धर्म तुम्हें छोड़ चुका है। इस बात को अब वर्ष हो चला, फिर भी तुम अपने को अर्घ्य का अधिकारी मान रहे हो। नरेश्वर !

१ किं विस्मृतं ते यत् पत्नी त्वया त्यक्ता च कानने ।

परित्यक्तस्तया सार्धं त्वया धर्मो नृपाखिलः ॥५७

जैसे पति का स्वभाव कैसा ही हो, पत्नी को उचित है कि वह सदा पति के अनुकूल रहे; ठीक इसी प्रकार पति का भी कर्तव्य है कि बुरे स्वभाववाली पत्नी का भी भरण-पोषण करे, उसे त्यागे नहीं।^१ ब्राह्मण की पत्नी जिसका अपहरण हुआ और जिसे तुम ढूँढ़ने आये थे, वह सदा पति के प्रतिकूल बोलती थी; तथापि धर्मपालन की इच्छा से वह तुम्हारे पास गया और अपनी पत्नी को खोजने के लिए उसने तुम्हें प्रेरित किया। राजन् ! धर्म से विचलित हुए दूसरे मनुष्यों को धर्म पर आरुढ़ रखने के लिए ही तुम्हें राजा बनाया गया। जब तुम स्वयं धर्म से विचलित हो तो तुम्हें धर्म में कौन लगायेगा ?” यह सुन राजा लज्जित हो गया। उसने बात टालकर ब्राह्मण की पत्नी के विषय में पूछा, “ऋषे ! आप सर्वज्ञ हैं, कृपया पहले यह बतलाइये, ब्राह्मण-पत्नी को कौन ले गया ? पीछे आप जो कहेंगे, मैं वही करूँगा।” ऋषि ने कहा, “बलाक नाम के राक्षस ने उसका अपहरण किया है। वह उस स्त्री को इस समय उत्कल वन में ले गया है।

“राजन् ! शीघ्र ब्राह्मण को उसकी पत्नी दिलवाइये और आप भी सन्मार्ग पर आइये !”

राजा ‘जो आज्ञा’ कह, ऋषि को प्रणाम कर उत्कल वन में पहुँचा तो वहाँ उसने ब्राह्मण के बतलाये हुए आकार-प्रकार की स्त्री को देख समझ लिया कि यह वही स्त्री है। उसका यह अनुमान ठीक निकला। तब ब्राह्मणी के बतलाये मार्ग से वह राक्षस के पास गया। राक्षस ने राजा का यथोचित सत्कार कर कहा, “आपने यहाँ पधार कर मेरा गौरव बढ़ाया है। आपके देश में रहने से मैं आपकी प्रजा हूँ। मेरे योग्य कोई सेवा हो तो कहिये, मैं आपकी आज्ञा पालन करना अपना परम सौभाग्य समझूँगा।” राजा ने कहा, “बलाक, मेरा सभी सम्मान इसी से हो गया कि तुम मेरी बात मानोगे। इसलिए पूछना चाहता हूँ कि एक ब्राह्मणी को जो तुम उठा लाये हो, क्या उसे अपनी भार्या

१ पत्न्यानुकूलया भाव्यं यथा शीलेऽपि भर्तारि ।

दुःशीलाऽपि तथा नारी पोषणीया नरेश्वर ॥६६॥५६

बनाना चाहते हो ? परन्तु मुझे यह कुछ बात जँची नहीं, क्योंकि वह तो बहुत ही कुरूपा है और मैं यह भी देख रहा हूँ कि तुम्हारे घर में आगे ही अनेक स्त्रियाँ हैं। और यदि खाने के विचार से लाये हो तो आजतक तुम उसे खा क्यों नहीं गए ?”

राक्षस बोला, “राजन् ! हम लोग मनुष्य को नहीं खाते, मनुष्य का मांस खाने वाले राक्षस दूसरे हैं। हम तो स्त्री-पुरुषों के अच्छे व बुरे स्वभाव को खा जाते हैं। जिससे वह व्यक्ति बिल्कुल बदल जाता है। यदि हम किसी मनुष्य की क्षमा को खा जायें तो वह क्रोधी बन जाता है। और यदि उसकी क्रूरता को खा लें, तो वह मृदुल स्वभाव का हो जाया करता है। रही विवाह की बात; महाराज ! मेरे घर में परम सुन्दर स्त्रियाँ हैं। उनके रहते हुए मैं ऐसी कुरूपा को क्यों कर भार्या बनाने की इच्छा करूँगा !” राजा ने कहा, “उस ब्राह्मणी को न तुम खाने के लिए और न ही व्याहने के लिए लाये हो, तो फिर समझ में नहीं आता कि उसे लाये किसलिए हो ?”

राक्षस ने कहा, “महाराज ! इस ब्राह्मणी का पति वेदज्ञ है। मैं जिस किसी यज्ञ में जाता था, वहाँ यही ऋत्विज होता था और ‘रक्षोघ्न’ मन्त्रों का पाठ कर यह मुझे दूर भगा देता था। इस प्रकार हम लोग भूखे रहने लगे। ऐसी दशा में हम कहाँ जाते, क्योंकि यहाँ के प्रायः सभी बड़े-बड़े यज्ञों में जहाँ देखो, यही ऋत्विज बना होता है। इसलिए मैंने सोचकर उसकी शक्ति के ह्रास के लिए यह उपाय निकाला कि इसकी पत्नी चुरा लूँ। क्योंकि पुरुष पत्नी के बिना यज्ञ-कार्य करने योग्य नहीं रहता। और यज्ञ न कर सकने से इसकी शक्ति जाती रहेगी। मेरा यह विचार ठीक निकला। अब सच-मुच उसमें वह शक्ति नहीं रही। अब हम मजे से यज्ञ-मण्डपों में घूमते हैं। पर मैं आपके राज्य में रहता हूँ और आप पहली बार कुछ कहने आये हैं, अतः आप जो आज्ञा करेंगे, मैं वही करूँगा।”

राजा ने कहा, “राक्षस, मेरे दो काम कर दे ! पहला यह कि इसके क्रूर स्वभाव को तू खा ले, जिससे उसके पति का जीवन सुखी

हो सके और दूसरे यह कि इसे इसके पति के पास सदा के लिए भेज दो।”

राजा के कहने से राक्षस उसके क्रूर स्वभाव को खा गया। इससे वह मधुर स्वभाव बन गई। और साथ ही राक्षस ने उसे उसके पति के पास भी उसी समय पहुँचाकर राजा को कहा, “आपकी प्रसन्नता के लिए मैंने आपके दोनों काम कर दिये, अब कुछ और आज्ञा कीजिये!” राजा ने कहा, “मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ, मेरा सब कार्य इसी से सम्पूर्ण हो गया।”

राक्षस ने कहा, “महाराज! आपको जब कभी काम पड़े, मुझे याद करिये, मैं भट पहुँचूँगा।”

अब राजा यह सोचने लगा—मैं अपने विषय में क्या करूँ, क्या करने से मेरा भला होगा! ऋषि ने तो मेरे पाप के कारण मुझे अर्घ के अयोग्य बताया है। यह मेरे लिए कितने कष्ट की बात है! मैं शास्त्र-दृष्टि से पापी और लोगों की नज़रों में अपराधी समझा जा रहा हूँ। मैं राजा होकर भी अर्घ के योग्य नहीं रहा, मेरे लिए कितनी लज्जा-जनक बात है! अच्छा, मुझे मेरे किये का फल मिला। अब उन्हीं ऋषि महाराज से इसके उद्धार का उपाय पूछता हूँ—यह सोच वह उन्हीं ऋषि के पास आकर अपनी सभी बात बतलाने को ही था कि ऋषि ने कहा, “राजन्! मैं अपने तपोबल से ब्राह्मणी के छुड़ा लाने की सभी बात जान गया हूँ। और महाराज, राक्षस की बातों से तुम भी यह जान गए होगे कि गृहस्थी के सभी धर्म-कार्य पत्नी के साथ होने से ही पुण्य-प्रद होते हैं, उसके बिना नहीं। गृहस्थ को पत्नी के बिना यज्ञ-यागादि का अधिकार नहीं रहता। तुमने अपनी पत्नी का त्याग करके अच्छा नहीं किया। जैसे स्त्रियों के लिए पति का त्याग अनुचित है, उसी प्रकार पुरुष के लिए पत्नी का त्याग भी उचित नहीं।”

१ त्यजता भवता पत्नी न शोभनमनुष्ठितिम्।

अत्याज्यो हि यथा भर्ता स्त्रीणां भार्या तथा नृणाम् ॥ मार्क० पु० ७१।११

राजा ने कहा, “ऋषिवर ! मैं स्वयं पछताता हूँ, उसे लाना भी चाहता हूँ, पर क्या करूँ, मैंने उसे निर्जन वन में भिजवा दिया था । निश्चय ही उसे कोई हिंस्र जन्तु खा गया होगा । अब लाऊँ तो कहाँ से लाऊँ ? ऋषिवर, आप मुझे बहुला के विषय में बतलाने की कृपा करें कि क्या वह कहीं से मुझे प्राप्त हो सकेगी ?”

ऋषि ने कहा, “राजन् ! बहुला को नागराज ‘कपोत’ उठाकर पाताल ले गया था । कपोत की कन्या नन्दा ने यह समझकर कि नागराज इसे मेरी माता मनोरमा की सौत बनायेगा और स्त्री के लिए सौत का दुःख सबसे अधिक दाहक होता है, अतः वे दुःख मेरी माता को न हों, इस विचार से बहुला के पाताल पहुँचते ही उसने उसे अपने घर में छिपा लिया और कपोत के बार-बार पूछने पर कि वह स्त्री कहाँ है, जब वह कुछ न बोल चुप रही, तो नागराज ने उसे गुँगी हो जाने का शाप दे दिया । जिस याज्ञिक ब्राह्मण की पत्नी को तुम राक्षस से छुड़ा लाये हो उस कर्मकाण्डी ब्राह्मण से पूछना, वह उसे ठीक करने का उपाय करेगा ।” यह सुन राजा राजधानी में लौट आया । ब्राह्मण ने राजा का बहुत धन्यवाद किया और कहा, “राजन् ! आपने स्वयं खोजकर मेरी पत्नी मुझे लाकर दी है, उससे आपने मेरे धर्म की रक्षा की है । आपका कल्याण हो, अब कहो, मैं आपका कौन सा हित-साधन करूँ ?”

राजा ने कहा, “आप तो अपना धर्मपालन कर कृतार्थ हो गए । परन्तु मैं धर्म-संकट में पड़ा छटपटा रहा हूँ । मैंने भी अभिमानवश अपनी पत्नी त्याग दी थी ।”

ब्राह्मण ने राजा की ओर तिरस्कार-भरी जिज्ञासा की दृष्टि से देखते हुए कहा, “गृहस्थ में रहते जीवित पत्नी का त्याग ! यदि वह व्यभिचारिणी नहीं तो उसे त्यागकर आप पाप कर रहे हैं ।”

राजा ने कहा, “लाना तो उसे मैं भी चाहता हूँ, पर यह सोचकर कि उसकी प्रतिकूलता मेरे घर को अखाड़ा बना देगी, मुझे दुःख होगा । क्योंकि वह कभी मुझे मित्र-भाव से नहीं देखती । मुझे एक ऋषि ने

कहा है कि स्वभाव भी बदला जा सकता है। क्या आप उसका कोई उपचार करना जानते हैं?" ब्राह्मण बोला, मैं 'मित्रविन्दा' नाम की दृष्टि करूंगा जिससे वह अवश्य आपके अनुकूल हो जायेगी।"

यह सुनते ही राजा ने बलाक नाम के राक्षस का स्मरण किया, राक्षस आया और राजा की बात सुनते ही उसकी पत्नी बहुला को पाताल से ले आया। ब्राह्मण की उस मित्रविन्दा दृष्टि से बहुला का स्वभाव पति के अनुकूल हो गया। फिर क्या था, पति-पत्नी के परस्पर प्रतिकूल होने से जो घर पहले नरक बना हुआ था, वही उस दम्पती के अनुकूल होने से स्वर्ग बन गया।

(मार्कण्डेय पुराण, अध्याय ६६)

मेरी सौत न हो

पार्वती ने शिवजी को प्रसन्न करने के लिए कई वर्ष तपस्या की। तपस्या से प्रसन्न होकर, उन्होंने उसे वर माँगने को कहा।^१ पार्वती ने कहा, “यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो यह वर दें, कि आपकी मेरे सिवाय और कोई भार्या न हो।”^२ शंकर ने यह बात स्वीकार करके कहा, “मैं तुझे छोड़ और किसी दूसरी स्त्री का मन^३ में भी चिन्तन न करूँगा।” स्त्री को इससे अधिक प्रसन्नता की बात क्या हो सकती है कि उसका पति एकनारीव्रती हो? पार्वती वर प्राप्त कर बड़ी प्रसन्न हुई। दोनों कैलाश पर आनन्द से रहने लगे। एक दिन पार्वती ने शम्भु के सामने बैठे हुए उनके बिल्लौर के समान निर्मल चमकीले वक्षःस्थल के वाम भाग पर पड़ती हुई अपनी छाया देखी।^४ जिसे उन्होंने भ्रम से शिव की दूसरी स्त्री समझ लिया। पार्वती ने देखा, वह बड़ी प्रसन्न है और बैठी-बैठी मुस्करा रही है।^५

पार्वती सोचने लगी, मुझ से प्रतिज्ञा करके भी शंकर यह दूसरी स्त्री कैसे ले आये हैं—इस विचार के आते ही उनकी भौंहें तन गईं,

१ प्रीतोऽस्मि देवि भद्रं ते वरं वरय वाञ्छितम् ॥६४

२ अनन्यकान्तस्त्वं चापि भूया मत्तो विना हर ॥६५

शम्भुश्चाङ्गी चकाराशु नाहं त्वत्तो विना प्रिये ।

३ मनसापि गृहीष्यामि नान्यां सत्यं ब्रवीमि ते ॥११२

४ अथैकदा महादेव समीपे हिमवत्सुता ।

आसीना ददृशे तस्य स्वां छायामुरसि स्थिताम् ॥११३

स्फटिकाभ्रसमस्वच्छे हृदि शम्भो मनोहरे ॥११४

आत्मछायां गिरिसुता वामभागे मनोहरे ॥११५

५ ददर्श वनिता रूपं स्मितवक्त्रां मनोहराम् ॥११६

६ कृतसत्योऽपि गिरिशः किमन्यां वनितां दधौ ॥११७

और वह उसको ओर टेढ़ी नज़र से देखने लगीं। सामने अपना ही तो प्रतिबिम्ब था। उधर भी भवें^१ चढ़ीं दिखायी दीं। पार्वती ने समझा, यह मुझे बड़ी घूर-घूर कर देख रही है—यह सोचते ही पार्वती का चेहरा फीका पड़ गया।^२ वह बड़ी खिन्न हुई। आपे से बाहर हो मान तथा रोष के जोश में वहाँ से उठीं, और पर्वत की चोटी पर चली गईं। शंकर देर तक पार्वती को ढूँढ़ते रहे। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते बहुत देर बाद वह उन्हें पर्वत-शिखर पर मिलीं। शंकर ने देखा, पार्वती बहुत उदास बैठी हैं, और उनका मुँह चिन्ता के कारण शुष्क हो रहा है। शिव बोले, “पार्वती ! तुम्हें क्या हुआ है, तुम्हारी इस उदासी तथा दुःख का कारण क्या है ? तुम कुपित क्यों हो रही हो ?

“मैंने शरीर वा वाणी से तो क्या, मन से भी तुम्हें दुःख पहुँचाने वाला कोई काम नहीं किया।” पार्वती को जब बार-बार शंकर ने पूछा तब वह बोली, “मैंने तपस्या^३ कर आपसे वर प्राप्त किया था। और आपने मुझसे इकरार किया था कि तेरे सिवाय हम किसी और स्त्री को कभी भार्या-रूप से स्वीकार न करेंगे। उस अपनी प्रतिज्ञा को तोड़कर आज आप कैसे दूसरी स्त्री को ले आये हैं ? प्रभो ! मैंने प्रत्यक्ष उसे आपके वाम भाग में बैठे देखा है।^४ यही सोच रही थी, क्या करूँ ? मैंने आपको व्रतों से प्रसन्न करने का प्रयत्न किया था।^५ पर महेश्वर ! जान पड़ता है, कि आप प्रसन्न नहीं हुए। इसलिए आपको प्रसन्न करने के लिए दीर्घकाल तक मैं फिर तपस्या करूँगी।^६ अब आप मुझे यहाँ से जाने की कृपया शीघ्र आज्ञा दें !”^७ पार्वती की

१ सा मया स्थापितां गात्रे वीक्षन्तीं कुटिलं च माम् ।

२ इति तस्यास्तदा वक्त्रं मलिनं भ्रुकुटिसंयुतम् ॥ का० पु० ४७।११८

३ समयेन मया पूर्वं तपः सम्प्रार्थितो भवान् ॥१२४

कथं ते परिहाय त्वमन्यां भार्या समीहसे ।

४ प्रत्यक्षेण मया दृष्टा तव हृद्यन्तरे हर ॥१२५

५ तोषितोऽपि व्रतैर्कृच्छ्रैर्न तुष्टस्त्वं महेश्वर ।

६ तस्याहं तपस्तप्तुं शाश्वद्गन्तुं समुत्सहे ॥१२७

७ अनुजानीहि मां शम्भो मा विलम्ब वृथा कृथा ॥१२८

बात सुनकर शंकर खिल-खिलाकर हँसे, और कहने लगे “यह सन्देह तुझे यों ही हुआ है। पार्वती, मेरी और कोई स्त्री नहीं, न मैंने इकरार तोड़ा है। तुझे यह मिथ्या भ्रम हुआ है, पार्वती ! यदि ठीक बात जानना चाहती हो तो क्रोध छोड़कर शान्त होकर सुनो ! असल बात यह जान पड़ती है, कि तुमने अपनी ही परछाईं देखी है, जिससे तुझे बिना सोचे यह भ्रम हो गया है। वहाँ चलकर देख, तुम्हारे सिवाय इस पर्वत पर ही और कोई स्त्री कहाँ है ? पार्वती बोली—“मैं यह कैसे समझ लूँ कि वह छाया थी ? मैंने उसे स्वयं देखा है, कि मेरे आने से पहले वह बहुत खुश बैठी थी, किन्तु मेरे वहाँ पहुँचते ही उसकी भवें तन गईं।” शंकर ने कहा—“जिस स्त्री को तुमने देखा, उसकी शक्ल तुम्हें याद है क्या ?” पार्वती बोली—“उसे मैं कैसे भूल सकती हूँ ! अभी भी उसकी वह आकृति मेरी आँखों के आगे घूम रही है।”

शंकर बोले, “तब भ्रम को मिटा ही समझो। चलो, मैं फिर वहीं चलकर बैठता हूँ। जिस जगह से वह स्त्री तुम्हें पहले दिखायी दी थी, वहीं खड़े हो मेरी ओर फिर देखो। निश्चय ही वह स्त्री तुम्हें वहाँ पुनः दिखायी देगी। उसे देख फिर दर्पण के सामने खड़ी हो अपने को देखना कि वह तुम्हीं हो या कोई और। ऐसा करने से तुम अपने आप मानोगी कि वह कोई और न थी—तुम्हारा अपना ही प्रतिबिम्ब था।”

गौरी ने वैसा ही किया, और यह जानकर वह बहुत लज्जित हुई कि अपनी छाया देखकर ही उसे सौत का भ्रम हो गया था। वह सिर नीचा कर चुपचाप मन ही मन सोचने लगी—भ्रम का भूत भी कैसा भयंकर होता है। मैंने यह क्या और क्यों किया !

उन्हें चुपचाप उदास खड़े देख शंकर बोले—“सोचने वा शर्म करने की कोई बात नहीं। भ्रम किसे नहीं होता ? फिर यह आशंका तो तुम्हारे प्रेमातिशय की ही द्योतक है। पत्नी तो पति की अर्द्धांगिनी होती है। आज से तुम मेरे ही आधे शरीर में आ जाओ, जिससे यह भ्रान्ति तुम्हें पुनः कभी दुःख न दे सके।” तब से शंकर के आधे शरीर

में गौरी आ गई, और वे देवाधिदेव महादेव अर्द्धनारीश्वर के नाम से विख्यात हो गए। भवानी ने भव से कहा, “नाथ ! जब अपनी परछाई सौत के भ्रम से इतना दुःख देती है, तो सचमुच की सौत से स्त्रियों को न जाने कितना कष्ट होता होगा !”

(कालिकापुराण, अध्याय ४७)

माँ की ममता

यज्ञशर्मा नामक ब्राह्मण की पत्नी का नाम रोहिणी था। रोहिणी के घर एक पुत्र हुआ, पिता ने उसका नाम देवशर्मा रखा। उपनयन करने के बाद पिता ने उसे एक वेद पढ़ाया। कुछ ही समय के बाद यज्ञशर्मा की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु से रोहिणी तथा देवशर्मा दोनों को बड़ा दुःख हुआ। दोनों बेचारे दरिद्र तो थे ही, अब अनाथ भी हो गए। पिता का संस्कार करने के बाद किसी की बातों में आ देवशर्मा घर से भाग गया। भागते समय उसने माँ का कोई ध्यान न किया कि यह जियेगी या मरेगी। बिना धन के अपना निर्वाह कैसे करेगी। रोहिणी के दुःख का ठिकाना न रहा। उस पर एक के बाद यह दूसरी मुसीबत आयी। उसका पति मरा ही था कि पुत्र भी घर से भाग गया—रोहिणी का कोई सहारा न रहा। समय ज्यों-ज्यों अधिक होता गया, वह पति का दुःख तो भूलती गई; पर पुत्र के घर लौट आने की आशा ने उसे सदा दुःखी बनाये रखा। वह नित्य उसकी प्रतीक्षा करती। जब रात हो जाती तो कहती, आज नहीं आया, पर अब अधिक रात हो गई है। इस समय न आये, जहाँ है वहीं सुखी रहे। भगवान् उसकी रक्षा करें—इस प्रकार वह पुत्र की प्रतीक्षा में जीवन के दिन बिताने लगी।

उधर देवशर्मा घर से निकल गंगादि तीर्थों पर स्नान-ध्यान, दर्शन-अध्ययन करता हुआ, ब्रह्मचारी के वेश में घूमता-घामता नन्दिग्राम में आया और वहीं एक मठ में रहने लगा। यहाँ वह मन लगा कर जप-तप करते-करते सिद्ध हो गया। संयम के साथ जप-तप से उसमें अपूर्व शक्ति उत्पन्न हो गई। इस बात का भी तब पता चला जब एक दिन उसने नदी-स्नान के अनन्तर अपना वस्त्र

धोकर सूखने डाला और उसे एक ओर से काक तथा दूसरी ओर बलाका (बगला) उठाकर उड़ने लगे। देवशर्मा ने उन्हें डराया, वे मारे डर के उसपर बीट करके उड़ गए। यह देख देवशर्मा ने क्रोध-भरी दृष्टि से उनकी ओर देखा। उस ब्रह्मचारी की कोपाग्नि से भस्म हो, वे दोनों तत्काल वहीं गिर पड़े। उन्हें गिरते देख देवशर्मा को हैरानी हुई और साथ ही अभिमान भी, कि मेरे समान संसार में और कोई शक्तिशाली तपस्वी नहीं। अपने को सबसे महान् मान नदी से उठ नित्य की तरह आज भी नन्दिग्राम में भिक्षा करने गया। भिक्षा करते-करते कश्यप नाम के ब्राह्मण के द्वार पर पहुँच उसने आवाज़ दी, “भवति, भिक्षां देहि!”, कश्यप की पतिव्रता पत्नी सावित्री उस समय पति-सेवा में तत्पर थी। वह देर तक चुपचाप पति-सेवा में लगी रही। उसने पानी गर्म किया। उससे पति के पाँव धोये। जब पति आराम से बैठ गया, तब वह भीख लेकर ब्रह्मचारी के पास आ उसे भीख देने लगी। परन्तु ब्रह्मचारी को तो अपनी सिद्धि का अभिमान हुआ था। वह कभी का चला जाता, वह तो केवल देर तक जो उसे वहाँ खड़ा रहना पड़ा—इस अपमान का बदला लेने के लिए ही वहाँ खड़ा था। उसने इस पतिव्रता सावित्री को जलाने की इच्छा से घूरकर देखा। उसे वैसे देखते देख, सावित्री ने हँस कर कहा, “न मैं काक हूँ, न ही बलाका हूँ, जिसे आप जलाने लगे हैं। वे नदी पर ही जल गए। अब तुमसे कोई नहीं जलता। क्रोधी! यदि भिक्षा लेनी हो तो ले। व्यर्थ में घूर-घूरकर क्या देखता है? तेरे इस गुस्से से यहाँ क्या होगा?”

सावित्री की यह बात सुनकर उस ब्रह्मचारी ने विस्मित हो चुपचाप भिक्षा ले ली और वह सोचने लगा, इस स्त्री में दूर-घटित घटना को जान लेने की सामर्थ्य कैसे आ गई? यही सोचता-सोचता वह मठ में पहुँच गया। बहुत सोचने पर भी जब वह न जान सका, तब

भिक्षा का पात्र^१ मठ में रखकर फिर उसी पतिव्रता के घर वापस आकर उसने उससे बड़ी नम्रता से पूछा, “देवी ! मैं आपसे यह जानने आया हूँ कि एकान्त में घटित उस घटना का ज्ञान आपको यहाँ बैठे कैसे हो गया ?” सावित्री बोली, “ब्राह्मण ! स्त्रियों के लिए पति-सेवा ही एक सबसे बड़ा धर्म है । वही मैं नित्य करती हूँ और तो मैंने कभी कुछ किया नहीं ।^२ मैं सभी सन्देह छोड़कर पति को सन्तुष्ट रखने के लिए दिन-रात श्रद्धापूर्वक पति-सेवा में तत्पर रहती हूँ ।^३ इस-लिए दूर की बात जानने की शक्ति मुझमें अपने आप उत्पन्न हो गई है । यह तो तूने पूछ लिया, पर मैं तेरे कल्याण के लिए तुझे एक और बात भी समझाना चाहती हूँ । तू यदि समझना चाहे तो सुन, और सोच—अरे कर्तव्य-भ्रष्ट^४ ! अपने पिता के मरते ही उसका प्रेत-कर्म करके तू अपनी बेचारी, गरीब, बूढ़ी, असहाय विधवा माँ को छोड़कर अपना पेट भरने के लिए इधर भाग आया । पेटू, जिस माँ ने पहले तुझे गर्भ में रखा, फिर बड़े लाड़-प्यार से पाला, उस माँ को असहाय छोड़कर वन में जप-तप रूप, धर्म करने आते तुझे जरा शर्म न आयी ?” तूने यह न सोचा कि जिस माँ ने तेरे बचपन में तेरा विष्ठा तक साफ किया है,^५ क्या उस दुःखिनी^६ माँ को असहाय छोड़-

१ एत्याश्रमे मठे स्थाप्य भिक्षापात्रं प्रयत्नतः ।

पुनरागम्य तद्गेहं तामुवाच पतिव्रताम् ॥३१॥

२ स्त्रीणां तु पतिशुश्रूषा धर्म एषः परिस्थितः ॥३४॥

तमेवाहं सदा कुर्यां नान्यमस्मि महामते ।

३ दिवारात्रिमसन्दिग्धं श्रद्धया परितोषणम् ॥३६॥

४ मृते पितरि कृत्वा तु प्रेतकार्यमिहागतः ॥३८॥

उत्सृज्य मातरं भ्रष्ट ! वृद्धां दीनां तपस्विनीम् ।

अनाथां विधवामत्र नित्यं स्वोदरपोषक ॥३९॥

५ यया गर्भे धृतः पूर्वं पालितः लालितस्तथा ।

तां त्यक्त्वा विपिने धर्मं चरन् विप्रं न लज्जसे ॥४०॥

६ यया तव कृतं ब्रह्मन् ! बाले मलनिकृन्तनम् ।

७ दुःखितां तां गृहे त्यक्त्वा किं भवेद्विपिनेऽतः ॥

कर वन में घूमने से तू कौन-सी सिद्धि पा सकेगा ? देख, माता को दुःख देने के कारण तेरे मुख से दुर्गन्ध आने लगी है^१, जिससे तू भद्र-समाज में बैठने योग्य नहीं रहा। जिस सिद्धि को पा तू आपे से बाहर हो गया था, उसमें तेरी कोई बहादुरी नहीं; तेरे धर्मात्मा पिता ने तेरे जो विधिवत् संस्कार किये थे, उनके कारण जप-तप से तुझे वह प्राप्त हो गई थी।^२ परन्तु माता को दुःखी रखने से वह सब अब नष्ट हो चुकी है। ब्राह्मण ! याद रख, जिसकी माँ पुत्र के कारण दुःख उठा रही है उसका स्नान, तीर्थ, यज्ञ तो वृथा है ही, साथ ही जीवन भी व्यर्थ ही है।^३ जो मातृ-भक्त भक्तिपूर्वक अपनी माता की पालना करता है उसी के लिए स्नान, तीर्थ, जप तथा यज्ञ इस लोक और परलोक में फल देते हैं।^४ जो नर-श्रेष्ठ माता की आज्ञा का पालन करते हैं वे धन्य हैं और सर्वत्र नमस्कार के योग्य हैं।^५ इसलिए यदि तू अपना भला चाहता है तो आज ही जहाँ तेरी माँ है वहीं चला जा और जब तक वह जीवित रहे तब तक उसकी पालना तथा सेवा कर ! बेटे के लिए माता का पालन करना ही सबसे बड़ा तप है।^६

“जो यथार्थ बात थी, वह मैंने तुझे कह दी है। यदि तू अपनी सद्गति चाहता है तो इसे कर ! भूल जा कि अब तुझमें कोई शक्ति है। वह तो बलाका तथा कौए के जलने के साथ जल गई। बलाका के रूप में मेरी माता की सफेद आहें तथा कौआ तेरी काली करतूत

१ मातृदुःखेन ते वक्त्रं पूतिगन्धमिदं भवेत् ।

२ पित्रैव संस्कृतो यस्मात् तस्माच्छक्तिरभूदियम् ॥४२

३ वृथा स्नानं वृथा तीर्थं वृथा जप्तं वृथा हुतम् ॥४३

स जीवति वृथा ब्रह्मन् ! यस्य माता सुदुःखिता ।

४ यो रक्षेत्सततं भक्त्या मातरं मातृवत्सलः ॥४४

तस्येहानुष्ठितं सर्वं, फलं चामुत्र चेह हि ।

५ मातुश्च वचनं ब्रह्मन् पालितं यैर्नरोत्तमैः ॥४५

ते मान्या नमस्कार्या इह लोके परत्र च ॥४६

६ तां त्वं रक्षय जीवन्तीं तद्रक्षा ते परं तपः ॥ नृसिंहपुराण १४।४७

का प्रतीक था । कौए ने बीट कर तुझसे तेरे तप को निकाल बाहर किया । तू स्वयं उस अपनी ही क्रोधानल से भस्म हो जाता, पर मूढ़ ! देख, बलाका बन तेरी माता की आह तुझे नहीं, केवल तेरे पुण्यों को जला स्वयं भस्म हो गई । क्योंकि तेरी रक्षा सदा तेरी माँ की यह भावना करती रहती है कि 'मेरा बेटा जहाँ भी रहे सुखी रहे, उसपर कोई विपत्ति न आये ; विभो ! वह बेसमझ है, उसने नहीं, उसकी बेसमझी ने मुझे दुःखी किया है । मेरा बेटा अकेला विदेश में है नाथ ! उसका बालबाँका न हो प्रभो ! यही मेरी विनय है, उसके आप सदा रक्षक बने रहें । यह ठीक है, उसने मुझे दुःख दे पाप किया है ; पर परमेश्वर, उसके इस पाप के बदले में उसे दुःख न दें ; क्योंकि उसके दुःख से मेरा दुःख और भी अधिक बढ़ जायेगा ।' यही तेरी माता की प्रार्थना तेरा कवच बन तुझे बचा गई है ।"

यह सुन देवशर्मा का हृदय सन्ताप तथा पश्चात्ताप से भर गया । वह सोचने लगा, 'कहाँ माता के लिए मेरी यह निष्ठुरता थी कि मैं उस असहाय को भूखा मरने के लिए छोड़ भागा और कहाँ यह स्वाभाविक स्नेह, कातरताजन्य दया, कि दुःख देनेवाले मुझ पापी को भी दुःख न हो, इसके लिए उसकी प्रभु से यह प्रार्थना !' यह सोचकर उसने सावित्री से कहा, "बहिन ! आपकी आज्ञा से मैं अभी सीधा माँ के पास घर जा रहा हूँ । उनसे अपने किये अपराध की क्षमा माँगूंगा । वह मेरी माँ है, वह मुझे अवश्य क्षमा करेगी ।" यह कहकर वह चला गया । उसे देख माँ ने गले लगाकर पूछा, "बेटा, मैं तो तुझे रोज़ याद करती थी ; तू माँ को बिल्कुल ही भूल गया !"

(नृसिंहपुराण, अध्याय १४)

पिता का मोह

उग्रसेन को उदास बैठे देख, श्रीकृष्ण ने पूछा, “नरनाथ ! आप इस तरह उदास क्यों हो रहे हैं ? आपको किस बात की चिन्ता है ? किस वस्तु की कमी है ? बतलाइये, उसे मैं अपने प्राण देकर भी दूर करूँगा ?”

उग्रसेन बोले, “कृष्ण ! शायद तुम मेरे मोह पर यह सोच कर हँसो कि जिसने अधिकार हथियाने के मोह में पड़ मुझे क्रोध कर अनेक यातनाएँ दीं, मारने तक के मनसूबे बाँधे, पिता को कैदी बना अन्धक-वंश को सदा के लिए कलङ्कित कर दिया—उसी अपने पापी बेटे कंस की परलोक में इन पापों के कारण क्या गति हो रही होगी—उसे वहाँ कितना असह्य कष्ट सहन करना पड़ रहा होगा—यह चिन्ता मुझे अन्दर ही अन्दर घुन की तरह खाये जा रही है। किन्तु क्या करूँ ! मेरे बस की बात नहीं। मैं पिता हूँ। दुःख देनेवाले पुत्र को भी दुःख हो, यह भी मैं सहन नहीं कर पा रहा हूँ।

“पर हाय ! उस पापी पुत्र^१ कंस ने तो बिना किसी अपराध के हजारों बालकों को भी असुरों से मरवा डाला था। मैंने सुन रखा है, कि बाल-हत्या बड़ी ही भयंकर होती है, उसे करनेवाले नरक में बहुत ही बुरी तरह तड़पाये जाते हैं। गोविन्द ! तुम्हीं बतलाओ, उस पापी कंस का उन पापों से छुटकारा कैसे हो सकता है ?”^२

१ मत्पुत्रेण च कंसेन बालकाश्च सहस्रशः ।

विनाऽपराधेन हरे मारिताश्च महासुरैः ॥२१

२ तस्य मुक्तिश्च गोविन्द कथं भवति पापिनः ॥२२

“वासुदेव ! आज यही प्रश्न मैंने नारद से किया था । उन्होंने जो उत्तर दिया उसे भी आप सुन लीजिये । मुझे ढाढस बँधाते हुए वह बोले, ‘उग्रसेन, बहुत सम्भव है उसके कुछ पाप तुम्हारे क्षमादान से दूर हो जायें, वे पाप तुमसे ही सम्बन्ध रखते हैं ।’ मैंने बीच में ही उनकी बात काटकर कहा, ‘मेरी क्षमा यदि मेरे बेटे को सुखी बना सके तो मैंने अपने साथ किये उसके सभी दुर्व्यवहार तथा अत्याचारों को अभी क्षमा कर दिया । किन्तु उन बाल-हत्याओं का क्या होगा ? वे कैसे मिटेंगी देव ?’ श्री नारद बोले, ‘तुमने मेरी बात बीच में ही काट दी । मैं कहना चाहता था कि यद्यपि बाल-हत्या पाप है, तो भी अश्वमेध कर उसका फल कंस को देने से उस हत्या से भी उसका छुटकारा हो सकता है । अतः यदि कर सको तो अश्वमेध करो । उससे कंस के पाप-ताप सब दूर हो जायेंगे ।’

“इसलिए कृष्ण ! मैं अश्वमेध यज्ञ कर उसका फल कंस को देना चाहता हूँ । यही एकमात्र मेरी इच्छा है । इसे पूर्ण कर मुझे सुखी बनाना आपके हाथ है ।”

यह सुन श्रीकृष्णजी ने अपने पोते अनिरुद्ध की अध्यक्षता में अश्वमेध का घोड़ा छोड़ा ।

उग्रसेन और उनकी धर्म-पत्नी यज्ञ में दीक्षित हो, उसके सभी विधि-विधान तथा व्रत-नियमों का पालन करने लगे । उन्हें यह अनुष्ठान करते जब एक वर्ष पूरा हो गया, तब विजयी अनिरुद्ध उस ययु (अश्वमेध के घोड़े) को लेकर द्वारका लौटा । यज्ञ के सभी कृत्य समाप्त कर उग्रसेन-दम्पती ने यज्ञ के अन्त में अवभृथ-स्नान कर इस यज्ञ का फल कंस आदि अपने पुत्रों को दिया ।

‘होता’ ऋत्विज ने कंस की प्रेतात्मा का आह्वान कर उसे यज्ञ

१ कथितं नारदेनाद्य तच्छृणुष्व जगत्पते ।

विप्रहा विश्वहा गोघ्नो हयमेधेन शुध्यति ॥ गर्ग खं० सं० १७, अ० १७

मण्डप में बुलाया। कंस मण्डप में आ, अपरिचित की भाँति चुपचाप खड़ा हो गया। उसे देख यज्ञ के 'होता' दूसरे ऋत्विज ने अध्वर्यु से कहा, "आने वाले कलियुग का अभी से प्रभाव देखो; यह पुत्र पिता के सामने कैसी उद्वण्डता से खड़ा है! इतना अभिमान, कंस राजा ही सही, पर उग्रसेन का तो बेटा ही था। स्नेह व भक्ति प्रदर्शन करना तो दूर रहा, दुष्ट ने शिष्टाचार का भी पालन नहीं किया और इस बूढ़े (उग्रसेन) के मोह को देखिये, वह किस प्रकार अपने पुत्र-स्नेह में डूबकर गोते खा रहा है, एक क्षण भी सुख की साँस नहीं लेता!" उद्गाता ने कहा, "भैया! स्नेह की धारा स्वभाव से ही नीचे को बहती है, ऊपर जाने के लिए तो उसे सदा दबाव की आवश्यकता हुआ करती है।"

कंस को इस प्रकार शिष्टाचार दिखाये बिना चुपचाप खड़े देख श्रीकृष्ण ने उससे कहा, "वीर! आपके माता-पिता आपसे मिलने को अधीर हो रहे हैं। उनके पास जाकर उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम करो!"

यह सुन कंस को अपनी भूल का भान हुआ, पर वह अपनी भूल मानने वाला जीव थोड़े ही था। ढोंगी ज्ञानी बन बैठा। बोला, "नाथ! आपकी माया से इस संसार में बार-बार जन्म लेते हुए इस प्रकार के पिता और ऐसी माताएँ हमारी बहुत हो चुकी हैं।"

"मैं इनके पास नहीं आया। मैं तो आपके पुत्र प्रद्युम्न^१ तथा पोते अनिरुद्ध को देखने यहाँ आया हूँ। क्योंकि वे मेरी मृत्यु के बाद द्वारका

१ पश्य मातापितरौ ते युष्माकं दर्शनोत्सुकौ ।

गत्वा समीपं हे वीर ! यूयं नमत भक्तितः ॥७

२ ईदृशाः पितरोऽस्मकामीदृश्यो मातरश्च वै ।

बहवश्चाभवन्नाथ ! अमतां तव मायया ॥८

३ पश्चाज्जातौ द्वारकायां न दृष्टो कार्ष्णिकार्ष्णिजौ ।

तस्माद्द्रष्टुं चतुर्व्यूहं वयमत्र समागताः ॥१०॥११

में उत्पन्न हुए हैं। मैं तो यह समझकर यहाँ आया हूँ कि श्रीकृष्ण-बलरामजी को तो पहले देखा ही हुआ है, अब संयोग से प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध को देख लिया तो चतुर्व्यूह के दर्शन हो जायेंगे।”

यों कह वह अदृश्य हो गया।

(गर्गसंहिता, अश्वमेध खं० १०, अ० १७)

श्रीकृष्ण ने कहा ..

माता यशोदा प्रातःकाल स्वयं दही बिलो रही थीं । वहीं बैठे-बैठे उन्होंने दासियों को अनेक काम बतलाये । कोई घर की सफाई करने लगी, कोई बर्तनों की; किसी ने गोबर सँभाला, कोई पाथने लगी । माताजी की मथानी धूम से चल रही थी । वह पसीने से तर होने लगीं । मैं पास खड़ा था, पर माखन निकालने के ध्यान में लगी माता ने मुझे उसी प्रकार न देखा, जैसे अपने-अपने कामों में लगे समृद्ध लोग मुझे नहीं देख पाते । मैंने उनका हाथ प्यार से थामा ही था कि उन्होंने अपने कार्य में बाधा पड़ती देख मेरे हाथ को झटका दे मुझे बेपरवाही से झिड़क दिया, वैसे ही जैसे संसार के भंभटों में फँसे लोग मेरे आगम-वाक्यों से प्रबुद्ध होने के स्थान में उनकी अवहेलना करने लगते हैं । मैं माँ की गोदी में आने को मचल रहा था और वह अपने काम में तन्मय हो, वैसे ही मुझे भूली हुई थीं, जैसे संसार में लगे लोग मुझे भूले रहते हैं ।

जब उन्होंने माखन निकाल लिया, उस काम से निवृत्त हुईं, तब उन्होंने मेरा ध्यान किया जैसे एक इच्छा पूरी होने पर दूसरी स्वार्थ-सिद्धि के लिए कुछ लोग मेरा ध्यान करते हैं । वह प्यार से गोद में लिटा मुझे दूध देने को ही थीं, कि सामने चूल्हे पर चढ़े दूध में उफान आया देख, वह मुझे भूमि पर छोड़ भागीं । मेरी माया देखो, उसके प्रभाव से मनुष्य अपनी ज़रा-सी हानि होते ही मुझे छोड़ दूसरी ओर भागने लगते हैं, पर निस्संदेह उनकी सदा हानि ही हुआ करती है । वही यशोदा माँ का हुआ, उधर वह दूध के पास पहुँचीं, इधर

१ हानिकाले परित्यज्य मां जनोजन्यत्र धावति ।

तत्र त्रैकालिकी हानिर्जायते नात्र संशयः ॥ आ० पु० २८।६

मैंने मचलते-मचलते चंचलता से छाछ की मटकी फोड़ डाली । मटकी फूटने से सभी छाछ तो बह ही निकली, पास ही रखा माखन भी मैंने बिखेर दिया; कुछ मिट्टी में मिला, कुछ ऊखल में गिरा । मुझे छोड़ माता अपना एक काम सँवारने गयी थीं, इधर उनके अनेक बिगड़े । मटकी टूटी, छाछ बही, नवनीत (ताजा मक्खन) गया । इस हानि से उन्हें दुःख हुआ, पर मुझे छोड़ जो और वस्तुओं के पीछे भागते हैं, उन्हें दुःख होता ही है ।^१ माँ यह माखन स्वयं किसी को देतीं, तो उन्हें यह दुःख न होता, प्रसन्नता होती; क्योंकि संचय का नाश निश्चय ही होता है । इसलिए मेरे भक्त कृपणों की तरह कभी संचय नहीं करते । मेरी ओर से पीठ फेर दूध बचाने वाली माँ का नवनीत (ताजा मक्खन) तो मैंने बिखेर दिया और छींके पर पड़ा हैयङ्गवीन (बीते कल का माखन) बन्दर उठा ले गए । मुझसे विमुख लोगों के अगले-पिछले सभी संचय इसी तरह नष्ट-भ्रष्ट हुआ करते हैं ।^२ माँ को आशा थी कि मुझे इस तरह छोड़ शीघ्र जाकर वे दूध को बचा लेंगी, पर उनके वहाँ पहुँचने से पहले ही वह चूल्हे में गिर गया । यह देख उन्हें और भी दुःख हुआ; पर आशा किसको दुःख नहीं देती ? यह आशा ही तो सब दुःखों का मूल है । उन बन्दरों को देख माँ इधर भागीं, इधर मैं यहाँ से चम्पत हुआ । टूटी मटकी के पास से मुझे भागते देख माँ क्रोध से मेरे पीछे भागीं । पर मुझे पकड़ने की इच्छा से अनेक योगीजन अपने मन दीर्घकाल तक मेरी ओर दौड़ाते हुए भी मुझे पकड़ नहीं पाते^३, तो फिर वे कैसे इतनी जल्दी पकड़ लेतीं ? जरा देर में उकताकर वे वैसे ही बैठ गईं, जैसे अनेक लोग

१ मामेवं यः परित्यज्य वस्तुनोऽर्थेऽभिधावति ।

विवेकरहितो मूर्खो दुःखमेवाभिपद्यते ॥१२

२ संचयो नहि कर्तव्यो मद्भक्तैः कृपणैर्यथा ।

संचयस्य विनाशो हि जायते निश्चितो बुधैः ॥ आ० पु० २८।१६

३ यं योगिनोऽपि स्वमनः प्रयच्छन्ति सदा हि माम् ॥२१

ग्रहीतुं बहुकालेन न स्रष्टुमपि ते क्षमाः ॥२२

कुछ देर ध्यान करने पर मेरा दर्शन होते न देख, मेरे प्राप्त होने की आशा छोड़, निराश होकर बैठ जाते हैं। वे थक तो गई थीं, पर अभी उनका क्रोध शान्त न हुआ था। वे साहस बटोर फिर उठीं और मेरे पीछे भागने लगीं। मैं अपनी दया से अपने-आप भले ही किसी से पकड़ा जाऊँ, पर मुझे बल से पकड़ने वाला कौन है ? मुझे उनकी पकड़ने की लगन से बार-बार पीछा करने पर दया आ गई। तब मैं उन्हें स्वयं पकड़ाई दे गया। तब वे रस्सी लेकर मुझे बाँधने लगीं, पर बँधे वह जिसका ओर-छोर हो; पर मेरा आदि-अन्त कहाँ है, जो वे मुझे बाँध पातीं।^१ वे जो-जो रस्सी लायीं, सब छोटी निकलीं। उनमें से किसी से भी वे मुझे न बाँध सकीं। भला संसार को बंधनों से छुड़ाने आया मैं, एक छोटी-सी रस्सी से कैसे बँध जाता ?^२ वे क्रोध के कारण यह भी भूल गई कि इन रस्सियों से नहीं, भक्त प्रेम की रस्सी से मुझे बाँध भी लेते हैं और माँ की उसी रस्सी से बँधा, अजन्मा होकर भी मैं इस जन्म में खिंचा आया हूँ।

इतने में मुझे देख वहाँ आस-पास की कुछ गोपियाँ भी इकट्ठी होकर मेरी माँ को कहने लगीं—“हमने तो आपको एक बार नहीं, अनेक बार यह कहा है कि आपका कृष्ण सभी का बड़ा नुकसान करता है। जो गोपियाँ दही-दूध या माखन लेकर बेचने मथुरा जाती हैं यह अपने साथियों के साथ उन्हें घेरकर, दूध-दही माखन छीनकर ग्वालबालों को खिलाते हुए कहता है, ‘गोरस बेचना पाप है। गाँव का दूध, दही, माखन हम लोगों के खाने के लिए है, बेचने को नहीं।’ यदि कोई गोपी छल-बल से उस घेरे से भाग निकलती है तो यह उस पर पत्थर फेंक कर उसकी मटकी फोड़ देता है। उसके सब वस्त्र दूध-दही से भीग जाने पर वह अपना-सा मुँह ले घर लौट आती

१ बन्धनं तस्य भवति यस्य पूर्वापरं भवेत् ।

पूर्वापरं च मे नास्ति बन्धनं जायते कथम् ॥२७

२ बृहत्वाद्ब्रह्म चाहं तु विशेषाच्छृणु नारद !

तत्कथं वेष्टनं मे स्यादनाद्यन्तस्य रज्जुतः ॥ आ० पु० २८।२८

हैं। जब ये बातें हम आपसे आकर कहतीं हैं तो आप सदा यही उत्तर देती हैं कि पहले तो कृष्ण बहुत सुशील है, वह ऐसा कभी नहीं कर सकता। दूसरे वह इतना छोटा है कि यदि करना भी चाहे तो भी ऐसा होना उससे असम्भव है। तुम लोग व्यर्थ इसकी शिकायत किया करती हो, मैं तुम सबसे तंग आ गई हूँ। तुम लोगों को तो शिकायत की बान पड़ गई है। पर आज जब उसने आपका नुकसान किया तो आप उसे मारने और बाँधने दौड़ रही हैं। सच्ची बात तो यह है कि पुरुष को मन में अपनी वस्तु के नाश से जैसा दर्द होता है, वैसा दूसरों की हानि होते देखकर कभी नहीं होता।^१ इस बात का प्रत्यक्ष उदाहरण आज हमने अपने आँखों देख लिया।

“आज आपका वह स्नेह कहाँ गया, जो इसे बाँध बैठी हो? आज क्यों नहीं कहतीं—यह अभी बच्चा है, कुछ भी नहीं जानता।”

यह सुन माता ने मुझे छोड़ दिया और उनके छोड़ते ही मैं भाग कर अपने ग्वाल-बालों में जा मिला, जो मेरी प्रतीक्षा में बाहर वन में बैठे ‘कृष्ण-कृष्ण’ पुकार रहे थे। क्योंकि मेरा स्वभाव है कि जो मुझे बुलाते हैं मैं उनके पास अवश्य जाता हूँ।

[आदिपुराण, अध्याय १८]

१ यथाऽऽत्मवस्तुनाशेन क्षोभो मनसि वर्तते ॥३४

तथा न चान्यहानौ हि त्वयि प्रत्यक्षतां गतम् ॥३५

२ इदानीं क्वः गतः स्नेहो यत्त्वं बद्धमिच्छसि ।

बालोऽयं न हि जानाति कथं न प्रोच्यतेऽधुना ॥ आदिपुराण २८।३६

पाँच प्रेतों की आपबीती

संतप्तक नाम का एक ब्राह्मण संसार से विरक्त हो वनों में घूमा करता था। एक बार वन में उसे पाँच प्रेत मिले, जो उसे तंग करने लगे। पर था वह भगवद्भक्त, अतः भगवान् ने उसकी सहायता की। उस सन्त के दर्शन से प्रेतों को अपना-अपना पूर्व जन्म याद आ गया। उन्होंने उस ब्राह्मण से अपनी धृष्टता के लिए क्षमा-प्रार्थना की। ब्राह्मण ने पूछा, “तुम कौन हो और यहाँ क्या करते हो? पहले तो तुम इतने उद्वण्ड थे, अब एकदम इतने विनम्र कैसे हो गए हो?”^१

एक प्रेत ने कहा, “मेरा नाम पर्युषित है, दूसरे का सूचीमुख, तीसरे का शीघ्रग, चौथे का रोधक और उस पाँचवें का लेखक है। हम प्रेत हैं इसीलिए उद्वण्ड थे, पर आपके दर्शन से पूर्व-जन्म की याद आ जाने से हम आपको महात्मा तथा अपने को दुरात्मा समझ मारे शर्म के मरे जा रहे हैं। इसीलिए होश ठिकाने आ जाने से हम प्रेत होकर भी विनम्र हुए बठे हैं।

“आपको अपनी रामकहानी हम अपने मुँह से स्वयं सुनाते हैं। और साथ ही यह कहते हैं कि लोगों को कहिये कि वे हमारी दुर्दशा देखकर पाप के ताप से सदा डरें।”

१ तब पहले ने कहना शुरू किया—“मेरा नाम ‘पर्युषित’ इस-लिए है कि मैंने पूर्व जन्म में श्राद्ध के दिन एक ब्राह्मण को निमन्त्रण दिया। परन्तु वह वृद्ध होने से धीरे-धीरे चलकर मेरे घर देर से पहुँचा। मुझे भूख लग रही थी, मैंने सोचा—श्राद्ध-वाढ़ यों ही होता है, जाने दो, उसे क्या करना है?—यों विचार मैंने श्राद्ध किये बिना ही घर

१ किं नामा च किमाचाराः कथञ्चैमां दशां गताः ।

अविनीता कथं पूर्वं विनीताः साम्प्रतं कथम् ॥ गरुड पु०, अ० ८।४६

में जो पकाया था, उसे खाकर समाप्त कर दिया। इतने में वह निमन्त्रित वृद्ध ब्राह्मण आ पहुँचा। मैंने उसे उपहास से बासी अन्न खिला कर उसकी खिल्ली उड़ायी। ब्राह्मण ने इसे अपना अपमान समझ मुझे कहा, 'तुझे श्राद्ध पर श्रद्धा नहीं, न सही; पर उस तेरी अश्रद्धा ने तुझे मेरा उपहास तथा अपमान का अधिकार कैसे दे दिया?' वह बूढ़ा और मैं जवान था, जवानी के जोश में उसका फिर भी उपहास ही करता रहा। अपने उसी पाप के कारण मैं प्रेत बना और पर्युषित (बासी) अन्न खिलाने से मेरा नाम पर्युषित पड़ा है।"

२ दूसरे ने कहना शुरू किया—“मेरा नाम ‘सूचीमुख’ है; क्योंकि मेरा मुख सूई के छेद के बराबर है, इसलिए मुझे सूचीमुख कहते हैं। पिछले जन्म की बात है एक ब्राह्मणी ‘भद्रवट’ तीर्थ की यात्रा करने जा रही थी। उसके साथ उसका पाँच वर्ष का पुत्र भी था। वही उसका सर्वस्व था। मार्ग चलते-चलते जब वह एक निर्जन वन में पहुँची, तब कुमार्ग पर चलते हुए मैंने क्षत्रिय होकर भी नीचता की। उसके सिर के बाल पकड़कर मैंने एक मुक्का मारा, वह डर गई। तब उसके और उसके बच्चे के कपड़े तथा और भी जो कुछ मार्ग के लिए उसके पास खाने-पीने आदि का सामान था, वह सभी छीन लिया। उसका प्यासा बच्चा एक बर्तन में पानी पी रहा था। उधर मुझे भी प्यास थी, मैंने डपटकर उसे कहा—‘खबरदार, पानी मत पीना।’ यों कहकर मैं उससे वह सभी पानी छीनकर पी गया।’ और बच्चा मारे डर के प्यासा ही मर गया। पुत्र-शोक से उसकी माँ ने पास के कुएँ में कूदकर प्राण दे दिए। बस, उसी पाप से मुझे प्रेत बनना पड़ा। उस पाप के कारण ही मेरा मुँह तो सूई के छेद के बराबर सूक्ष्म और शरीर पहाड़-सा स्थूल बन गया है।” जो खाने

१ मयाथ सकलं पीतं जलं पात्रात् तृषावता ।

बालोऽपि भयसंत्रस्तः पिपासुर्व्यसुरापतत् ॥५८

२ सूच्याग्रविवरमुखः पर्वतदेहवानहम् ।

को मिलता है, उसे भी नहीं खा पाता ।”^१

३ तीसरे ने कहा—“मेरा नाम ‘शीघ्रग’ है । मैं अपने मित्र को मारकर शीघ्र भाग आया था, इसलिए मुझे शीघ्रग कहते हैं । अपने पहले जन्म में मैं वैश्य था । मेरे पास पर्याप्त धन था । मैं अपने एक महाधनी मित्र के साथ व्यापार करने लगा । मेरा लालच बहुत बड़ा हुआ था और भाग्य बहुत ही छोटा था । मुझे घाटा पड़ा और मेरी सब पूँजी समाप्त हो गई । मैं अब कमाई का ढँग सोचने लगा । सोच-विचारकर मैंने अपने मित्र को विदेश में व्यापार करने को फुसलाया । और एक दिन शुभ मुहूर्त में प्रातःकाल नाव पर बैठ नदी के मार्ग से हम दोनों विदेश-यात्रा के लिए चल पड़े । एक दिन मेरा मित्र मार्ग की थकावट के कारण मेरी गोद में सिर रखकर उसी नाव में सो गया । उसे नींद में अवश देख मेरी नीयत बिगड़ गई । लोभ के कारण मेरी बुद्धि इतनी क्रूर हो गई कि उस गोदी में सोये हुए अपने विश्वस्त मित्र को मैंने शस्त्र से काट कर नदी के प्रवाह में बहा दिया ।^२ और नाव में जो रक्त गिरा, उसे घास से इसलिए रगड़ दिया कि लोगों को मेरे इस पाप का पता न चले । फिर उसकी मणि-मुक्तादि समस्त वस्तुएँ लेकर मैं शीघ्र अपने घर वापस आ गया । वह सभी कुछ अपने घर में छोड़ मैं अपने मित्र की पत्नी के पास गया । और रोना-सा मुँह बनाकर हिचकियाँ लेते हुए कहा, ‘भाभी, मैं लुट गया । रास्ते में डाकू मेरे भाई को मार हमारा सभी धन छीन ले गए । मैं अभागा तो भागकर किसी तरह से बच गया, पर तेरा पति बेचारा न बच सका ।’

“यह सुन उसकी पत्नी रोते-रोते मूर्छित हो गई । मैंने दम्भ कर रोते-रोते कहा, ‘अच्छा, तेरा यह बच्चा जीता रहे, इसका ध्यान कर । धैर्य धर, और रोना बन्द कर दे । अब रोने से क्या लाभ;

१ यद्यपि प्राप्नुयां भक्ष्यं भक्षितुं तु न शक्यते ॥ गरुडपु०, प्र० ख०, अ० दा० ६०

२ तमुत्संगगतं सूरं तृष्टे पूरेऽक्षिपं तदा ॥ ६६

लाभ होता तो मैं भी रोता ।' परन्तु उसे उस समय बड़ा दुःख हो रहा था । वह घर-द्वार तथा सम्बन्धियों की ममता तोड़कर अपने असह्य दुःख के कारण आग में जल मरी । इसके मर जाने से मेरा रहा-सहा सभी खटका मिट गया । उसे मरा देख मैं बहुत प्रसन्न हुआ और घर आकर खूब सुख से उमर-भर उस धन से मौज उड़ाता रहा । पर जो पाप मेरी चालाकी से सभी की नज़रों से ओभल था, उसे मैं यम की नज़रों से न बचा सका । मुझे यमदूत यहाँ ले आये और वह धन वहीं का वहीं रह गया । । उस पाप से पाये धन का दुःख-रूप फल मैं अकेला यहाँ खा रहा हूँ और उस धन से प्राप्त सुख दूसरे भोग रहे हैं । आज मुझे उसी अपने पाप से यह असह्य व्यथा भोगनी पड़ रही है । पर अब क्या करूँ ?”

४ चौथे ने कहना शुरू किया—“मेरा नाम ‘रोधक’ है । मैंने अपने माता-पिता को बाँधकर रखा था, इसलिए मेरा नाम रोधक पड़ा है । पिछले जन्म में मैं शूद्र था । तत्कालीन राजा की कृपा से मेरा सौ ग्रामों पर अधिकार हो गया । मेरे माता-पिता बूढ़े थे और एक छोटा सगा भाई भी था । मैं लालची था और उसी लालच के कारण मैंने शीघ्र ही अपने छोटे भाई को घर से निकाल दिया । मेरा वह छोटा भाई बेचारा अन्न तथा वस्त्र न मिलने के कारण बहुत दुःख पाने लगा । मेरे माता-पिता पुत्र-स्नेह के कारण उसे कभी कुछ (गुप्त रूप से) दे दिया करते थे । माता-पिता ने जो-जो दिया, वह सभी मैंने अपने विश्वस्त पुरुषों से सुना और अपने माता-पिता को बाँध, एक सूने घर में बन्द कर अवरुद्ध कर दिया था । तब उन्होंने इस दुःख से दुःखी हो, विष^१ पीकर अपने प्राण त्याग दिए । वह मेरा छोटा भाई अभी बालक ही था । माता-पिता से हीन होकर भूख से तंग आकर छोटे-बड़े नगरों, गाँवों तथा भोंपड़ियों में मारा-मारा फिरा और भूख के मारे मर गया । इसी पाप में से यह दुःख उठा रहा हूँ ।”

१ ततस्तौ जंहतुः प्राणान् दुःखितौ विषपानतः ॥ गरुडपु० ८।७६

पाँचवें ने अपनी कहानी यों सुनायी—“मेरा नाम ‘लेखक’ है। मैंने देव-प्रतिमाओं के अङ्ग कुरेदे थे, अतः मुझे लेखक कहते हैं। पूर्वजन्म में मैं अवन्ती नगरी में रहनेवाला एक ब्राह्मण था। वहाँ भद्र नामक राजा ने मुझे अपने बनाये मन्दिरों की देवपूजा के लिए नियुक्त किया था। उन मन्दिरों में भिन्न-भिन्न देवों की अनेक प्रतिमाएँ थीं। उन प्रतिमाओं के अङ्गों में स्वर्ण तथा रत्न जड़े थे। उन मूर्तियों की पूजा पर नियुक्त होते ही लोभ के कारण मेरी बुद्धि में पाप समा गया। मैंने तीक्ष्ण लोहे से उन मूर्तियों के अङ्ग कुरेदे तथा उनकी आँखों से भी रत्न निकाल लिए। उन प्रतिमाओं के क्षत-विक्षत अवयवों को तथा निकाले गए नेत्रों को देख राजा की कोपाग्नि प्रज्वलित हो उठी। उसने प्रतिज्ञा की कि इन प्रतिमाओं के स्वर्ण तथा रत्नों को जिसने चुराया है वह चाहे कोई क्यों न हो पता लगते ही मैं उसे मरवा दूँगा। जब मुझे इसका पता लगा तो एक पाप के दण्ड से बचने के लिए मैं दूसरा पाप करने पर उतारू हो गया। मैंने राजा के राजप्रासाद में घुसकर राजा को तलवार के घाट उतारा और प्राण-भय से आधी रात को रत्न आदि लेकर वन में भाग खड़ा हुआ। परन्तु वहाँ पहुँचते ही एक व्याघ्र ने झपट कर अपने तीक्ष्ण नखों से मेरी चमड़ी उधेड़ मुझे सीधा यमपुर पहुँचा दिया। मेरे साथ एक कौड़ी भी न गयी। सभी सोना, रत्न वहीं के वहीं बँधे रह गए। मेरे किसी काम न आये। मैं उसी पाप के कारण अब प्रेत बनकर यहाँ यह दुःख भोग रहा हूँ।”

यह सब सुन संतप्तक ब्राह्मण ने पूछा, “जिस पेट के लिए पाप कर अब सब सन्ताप भोग रहे हो, उस पापी पेट को यहाँ कैसे पालते हो?” प्रेतों ने कहा—“हम पापियों को इस योनि में जो खाने को मिलता है, वह बहुत घृणित है, उसे ग्राम-शूकर^१, कूकर, काक तथा

१ वयं विड्दूषिका च श्लेष्मामूत्राश्रुणी तथा ।

एतद्भक्ष्यञ्च पानञ्च मा पृच्छातः परं द्विज ॥ ६२

लज्जा नो जायते स्वामिन्नहार वदतां स्वकम् । गरुडपु०, अ० ८ । ६३

कुक्कुट ही खाते हैं। आगे मत पूछिये, अपनी खुराक बतलाते हम शर्म से मरे जा रहे हैं। उससे आपको कोई लाभ नहीं, किन्तु घृणा होगी। पर हम आगे ही बहुत घृणित हैं, लाभ इसमें है कि जैसे हम पहले भी कह चुके हैं कि आप हमारी दयनीय दशा पर दया कर लोगों को यह हाल सुनाते हुए कहिये कि पाप किया तो सुगमता से जाता है, किन्तु उसका फल भोगने में बड़ी कठिनता होती है। इसलिए पाप न करो, उससे सदा बचे रहो !”

[गरुडपुराण, प्रेतखण्ड, अ० ८]

बड़ा कौन ?

राजा क्षुप से ब्राह्मण दधीच की पुरानी मित्रता थी ।^१ एक दिन इन दोनों मित्रों का इस विषय पर बातों ही बातों में विवाद छिड़ गया कि ब्राह्मण और क्षत्रिय इन दोनों में श्रेष्ठ कौन है ।^२ वास्तव में यह ब्राह्मण-क्षत्रिय की श्रेष्ठता का विवाद न था, विवाद था राजा और ब्राह्मण की श्रेष्ठता का । इसीलिए राजा क्षुप ने कहा—“राजा में आठ लोकपालों की शक्ति निवास करती है । राजा होने से मैं इन्द्र, अग्नि, भय, निर्भरति, वरुण, वायु, सोम और कुबेर का स्वरूप हूँ । लोग राजा को ईश्वर कहते हैं । ईश्वर होने से मैं तेरा पूज्य हूँ ।”^३

यह सुनते ही दधीच ने अपने गौरव को ठेस लगी जानकर क्रोध में आ बाँए हाथ से राजा क्षुप के सिर पर जोर से एक मुक्का मारा ।^४ क्योंकि वह यह नहीं सहन कर सका कि परम्परा से चला आया ब्राह्मण का महत्त्व आज राजा पर से एक दम ऐसा मिट जाए कि राजा ब्राह्मण से भी बड़ा कहलाने का दम भरे ।

१ ब्रह्मपुत्रो महातेजा राजा क्षुप इति स्मृतः ।

अभून्मित्रो दधीचस्य मुनीन्द्रस्य जनेश्वरः ॥३॥

२ चिरात्तयोः प्रसङ्गाद्वै वादः क्षुपदधीचयोः ।

अभवत् क्षत्रियश्रेष्ठो विप्र एवेति विश्रुतः ॥४॥

३ अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः ।

तस्मादिन्द्र ह्यहं वह्निर्यमश्च निर्वृतिस्तथा ॥५॥

वरुणश्चैव वायुश्च सोमो धनद एव च ।

ईश्वरोऽहं न सन्देहो [नावमन्तव्य एव च ॥६॥

४ दधीचश्च्यावनिश्चो गौरवादात्मनो द्विजः ।

अताडयत् क्षुपं मूर्ध्नि दधीचो वाममुष्टिना ॥ लिङ्ग ३५।७

इधर क्षुप भी कोई कम न था; अपनी राज-शक्ति के मद से उसमें यह बात आ चुकी थी कि मैं महान् शक्तिशाली हूँ, फिर दूसरों को व्यर्थ ही महत्त्व क्यों दूँ—उसने न आव देखा न ताव, दधीच पर जोर से अपने वज्रास्त्र का प्रहार किया। वज्र की चोट से दधीच पृथ्वी पर गिर पड़ा।^१ गिरते-गिरते उसने दानवों के पुरोहित शुक्राचार्य को पुकारा।^२ दानव-पुरोहित मानवों के पुरोहित दधीच की सहायता के लिए भट पहुँच गया और उसके उपचार से दधीच स्वस्थ भी हो गया।^३

परन्तु मुक्के के बदले में वज्र मारकर भी क्षुप को शान्ति न हुई। वह उसे जान से मार देना चाहता था। यह देख शुक्राचार्य ने उसे बहुत समझाया कि तुम बदला ले चुके हो, अब जाने दो बहुत हो चुका; पर क्षुप नहीं माना, बोला, “मैं इसे जान से मारे बिना न जाने दूँगा।”

तब शुक्राचार्य ने राजा का अभिमान तोड़ने के लिए दधीच को मृतसंजीवन मन्त्र देकर उसे अवध्य बना दिया। मन्त्र पाते ही दधीच ने बदला लेने के लिए क्षुप के माथे पर जोर से पाद-प्रहार किया। तब क्षुप ने भी क्रोध से वज्र उठा, दधीच की छाती पर मारा^४; परन्तु अब की बार क्षुप ने हैरानी से देखा कि मन्त्र के प्रभाव के कारण वज्र की चोट दधीच को नष्ट नहीं कर सकी।^५ उसे अवध्य तथा अकड़ा हुआ देख उसे हराने के लिए राजा क्षुप ने लक्ष्मी-पति विष्णु की आराधना कर उन्हें प्रसन्न किया।^६ भगवान् विष्णु के प्रत्यक्ष होने पर

१ पपात भूमौ निहतो वज्रेण द्विजपुङ्गवः ॥१२

२ सस्मारं च तदा तत्र दुःखाद्वै भार्गवं मुनिम् ॥१३

३ सन्धाय पूर्ववद्देहं दधीचस्यास्य भार्गवः ॥१४

४ अताडयच्च राजेन्द्रं पादमूलेन मूर्धनि ।

५ क्षुपो दधीचं वज्रेण जघानोरसि च प्रभुः ॥२८

६ नाभूद्विनाशातद्वज्राद्दधीचयस्य महात्मनः ॥ वा० पु० ३५।२६

७ आराधयामास हरिमुकुन्दम् ॥ वा० ३५।३५

क्षुप ने कहा—“दधीच मेरा मित्र था । उसका मेरा भगड़ा हो गया । उसने मुझे बाँए पाँव से मारा है । शुक्र उसका सहायक है, उसने उसे शिव-मन्त्र दिया है । मन्त्र-बल से सम्पन्न हो वह अब किसी से नहीं डरता । मैं अपने प्रभाव की रक्षा के लिए उसे एक बार जीतना चाहता हूँ, मुझे विजयी बनाइये भगवन् !”

विष्णु बोले—“राजेन्द्र ! शिव की शरण जाने वाले ब्राह्मणों को किसी का भी भय नहीं होता ।^१ फिर दधीच तो पहले से ही शिव का भक्त ठहरा । तुम उससे लड़कर जीत नहीं सकते ।^२ मैं तुम्हारी जीत का कोई और प्रयत्न करूँगा ।”^३ यों कहकर लक्ष्मीपति ब्राह्मण का रूप धारण कर दधीच के आश्रम में गये ।^४ उन्होंने दधीच से कहा—“मैं तुमसे एक वर माँगने आया हूँ । आशा है, तुम मुझे निराश न करोगे ।”^५

दधीच ने कहा—“मैं आपको पहचानता हूँ और आप क्या चाहते हैं, यह भी जानता हूँ ।^६ ब्राह्मण का वेश छोड़ आप अपने रूप में बात कीजिये ! मुझे पता है कि क्षुप ने आपकी आराधना की है ; पर आप ही कहिये कि मैं किसी से डरता हूँ ? जब नहीं, तब झूठ क्यों बोलूँ ?”^७

लक्ष्मीपति ने कहा—“दधीच, यह ठीक है कि तुम्हें किसी का

१ जेतुमिच्छामि तं विप्रं दधीचं जगदीश्वर ॥३६॥२४

२ विप्राणां नास्ति राजेन्द्र भयमेत्य महेश्वरम् ॥२७

३ तस्मात्तव महाभाग ! विजयो नास्ति भूपते ॥२६

४ करोमि यत्नं राजेन्द्र ! दधीचविजयाय ते ॥३१

५ आस्थाय रूपं विप्रस्य भगवान् भक्तवत्सलः ॥३३

६ वरमेकं वृणे त्वत्तस्तं भवान् दातुमर्हति ॥३४

७ ज्ञातं तवेप्सितं सर्वं न विभेमि तवाऽप्यहम् ॥३५

भगान् हि विप्ररूपेण आगतोऽसि जनार्दन ॥३६

८ ज्ञातं प्रसादद्रुद्रस्य द्विजत्वं त्यज सुव्रत ॥३७

वदामि न मृषा तस्मान्न विभेमि जनार्दन ॥ वा० पु० ४०

भय नहीं, तो भी मेरे कहने पर एक बार सभा में राजा क्षुप को कह दो कि मैं तुमसे डरता हूँ ।” दधीच ने कहा—“नहीं देव ! मैं किसी से नहीं डरता ।” यह सुन विष्णु भगवान् ने उसे अचम्भे में डालने के लिए अपने शरीर में उसे विश्वरूप दिखलाया ।^१ दधीच ने उस ब्राह्मण-रूपधारी हरि के शरीर में देवों के अनेक भुण्ड, करोड़ों रुद्र, करोड़ों शिवजी के गण तथा करोड़ों ही ब्रह्माण्ड देखे । यह देख दधीच ने विस्मय से कहा—“महाबाहो ! यह माया करना छोड़ दो । मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि देता हूँ । विचार-मात्र से दीख जाने वाली ये सभी चीजें ब्रह्मा-रुद्रादि अपने सहित तुम मुझ में भी देख लो ।” यों कहकर मुनि ने अपने शरीर में वह सभी कुछ दिखा दिया ।^२ तब विष्णु ने राजा क्षुप से कहा—“लालची डरता है, निरीह सत्यवादी शिव-भक्त किसी से नहीं डरता ।” यह सुन विवश हो दुःखी राजा ने उस ब्राह्मण का सम्मान किया और कहा—“मित्र दधीच, मैंने अज्ञानवश आपका जो भी अपराध किया है, आप उसे क्षमा कर दें !”^३

[लिङ्गपुराण, अध्याय ३५]

१ ततो विस्मयनार्थाय विश्वमूर्तिरभूद्धरिः ।

तस्य देहे हरेः साक्षादपश्यद् द्विजसत्तमः ॥५८

दधीचो भगवान् विप्रो देवतानां च गणान् पृथक् ।

रुद्राणां कोटयश्चैव गणानां कोटयस्तथा ॥५९

अण्डानां कोटयश्चैव विश्वमूर्तेस्तनौ तदा ।

दृष्ट्वैतदाखिलं तत्र च्यावनिः विस्मितं तदा ॥६०

२ त्यज मायां महाबाहो प्रतिभाया विचारतः ॥६२

मयि पश्य जगत्सर्वं त्वया सार्धमनिन्दित !

ब्रह्माणञ्च तथा रुद्रं दिव्यां दृष्टिं ददामि ते ॥ ३६।६३

इत्युक्त्वा दर्शयामास स्वतनौ निखिलं मुनिः ॥६४

३ क्षुपो दुःखातुरो भूत्वा संपूज्य च मुनीश्वरम् ।

दधीचमभिसंधाय प्रार्थयामास विक्लमः ॥६६

दधीच क्षम्यतां देव ! मयाऽज्ञानात्कृतं सखे ॥ लि० पु० ३६।७०

व्यसनी मूर्ख

जयस्थलपुर के समीप एक छोटे-से गाँव में विष्णुस्वामी नाम का एक वेद-वेदांगों का महाविद्वान् ब्राह्मण रहता था। वह बड़ा सुशील, सदाचारी और राधा-कृष्ण का परम भक्त था।^१ अपनी योग्यता से उसने धन भी खूब प्राप्त किया था। विष्णुस्वामी के पास धन, मान, सन्तान-सुख सभी कुछ था। किसी वस्तु की कमी न थी। प्रायः प्रत्येक पिता पुत्रों को अपने से अधिक योग्य, धनी-मानी तथा सुखी देखने की अभिलाषा करता है। इसी प्रकृत नियम से प्रेरित हो विष्णुस्वामी को भी अपने पुत्रों के विषय में यह आशा उत्पन्न हुई। जब तक उसके बच्चे छोटे थे, यह आशा बढ़ती गई; पर पुत्रों के बड़े होते ही यह आशा मिट्टी में मिलकर एकदम लुप्त हो गई। कारण यह कि उसके जो चार पुत्र थे, वे चारों ही, उसके ठीक विपरीत स्वभाव के निकले। धनी होने पर भी पिता ने निर्व्यसन रह परिश्रम से बहुत धन कमाया था तो इधर एक पुत्र दुर्व्यसनों में पड़, बिना परिश्रम के बहुत-सा धन कमाने में लालच से जूए पर बड़े-बड़े दाँव लगाकर प्रसिद्ध जुआरी बन गया। पिता सदाचारी था तो दूसरा पुत्र व्यभिचारी निकला। पिता सुरा की गन्ध से भी घृणा करता था, पर तीसरा पुत्र पक्का मद्यपी हुआ। पिता परमेश्वर का परम भक्त था, तो चौथा पुत्र नास्तिक हो गया। विष्णुस्वामी कमाऊ था, उसके घर में लक्ष्मी आयी थी; पर भगवत्कृपा से लक्ष्मी अपने मद से स्वामी को अन्धा न कर सकी थी। इस लक्ष्मी का प्रभाव पड़ा उसके इन चार पुत्रों पर; ये निखट्टू होकर भी अपने पिता के कमाये धन के मद से मदान्ध हो गए।

१ विष्णुस्वामीति विख्यातो राधाकृष्णपरायणः ॥२

उनके आचरणों से दुःखी हो पिता जब कभी कोई धर्म की बात कहने लगता, तो नास्तिक कहता—“आप मेरे विचार तो जानते ही हैं, मैं धर्म-कर्म कुछ नहीं मानता। आप धर्म की बातें इन औरों को सुनाइये।” तब शराबी कहता—“खाने-पीने से धर्म का सम्बन्ध ही क्या है भैया ?” और जुआरी बोल उठता—“इन्हें सम्बन्ध का ध्यान नहीं, अपने पैसे की फिकर है। आप तो उम्र-भर कंजूस रहे; हमें भी वही सिखाना चाहते हैं। यह नहीं जानते कि हम छोटे नहीं बड़े हो गए हैं। समझ हम में भी है। अपना हानि-लाभ हम भी विचारते हैं।” तब व्यभिचारी कहता—“ठीक कहते हो भाई ! यह पैसे पर साँप बनकर बैठे रहेंगे। इन्होंने उम्र-भर न आप सुख लिया है, और जब तक जीवित हैं, न हमें ही सुख लेने देंगे।”

इन बातों से तंग आ, विष्णुस्वामी ने अपना सभी काम छोड़कर अपने धन के चार विभाग कर चारों पुत्रों में बाँट दिये और आप एक कुटिया में रह, भगवद्भजन करने लगे। धन तथा निरंकुशता पा चारों पुत्र बहुत प्रसन्न हुए, पर उनकी यह प्रसन्नता बहुत दिन न रह सकी। यद्यपि उन्हें इसका तभी पता चला जब वे अपना-अपना सभी धन समाप्त कर चुके। अब वे और कोई आश्रय न देख अपने पिता के पास आकर बड़े आश्चर्य से कहने लगे—“पता नहीं पिताजी, हमारा वह सब धन कैसे समाप्त हो गया; अब हम में से किसी के पास कुछ नहीं रहा। कृपया बताइये, अब हम क्या करें ?”

यह सुन पिता ने जुआरी पुत्र से कहा—“बेटा, ध्यान देकर सुनो, जुआ^१ बड़ी बुरी लत है। यह सभी पापों का मूल है। इससे धन का व्यय तो होता ही है, साथ ही यह जीतने वाले को अधिक अपव्ययी (फिजूल-खर्च) बनाकर उसे अनाचार की ओर प्रवृत्त करता है, और हारने वाले को कलह, धोखा, चोरी, निर्दयता आदि सिखाता है।

१ द्यूतो धनव्ययकरः पापमूलो महाखलः।

व्यभिचारं तथा चौर्यं निर्दयत्वमतो भवेत् ॥६॥

द्यूतकर्मप्रभावेण त्वदीयद्रव्यसंशयः ॥७॥

तुम्हारा वह सभी धन जूए के कारण ही नष्ट हुआ है। अब जूए से मुफ्त का धन कमाने की लालसा छोड़कर सदुपायों से धन कमाओ और मन की शान्ति के लिए तीर्थ तथा व्रत करो जिससे धर्म पर दृष्टि होने से अधर्माचरण बचा रहे।”

विष्णुस्वामी ने अपने दूसरे व्यभिचारी पुत्र^१ से कहा—“तू वेश्याओं का साथ छोड़, सदाचारी तथा ब्रह्मचारी बनकर रह और चञ्चल मन को वश में करने के लिए परमेश्वर का भजन कर! यह समझ ले कि सर्वव्यापक परमेश्वर तुझे सदा देखता रहता है, तेरे लिए पाप करने को एकान्त स्थान संसार में कहीं है ही नहीं।”

इसके अनन्तर उसने अपने तीसरे शराबी पुत्र को कहा—“अब तू मांस और शराब को छोड़ दे! ^२ प्रतिदिन बढ़ती जा रही तेरी इस आदत ने ही तेरे स्वास्थ्य तथा धन का नाश किया है। अब जब पैसा खत्म हो गया है तब इनका चसका तुझे चोरी सिखलायेगा और उसके बाद तुझे लोक-परलोक दोनों ही जगह नरक का दुःख भोगना पड़ेगा। इसलिए जो तू खाये-पीये, उसे भगवान् को भोग लगाकर खा, इससे तू अपवित्र वस्तु न खा सकेगा।” फिर वह अपने चौथे नास्तिक पुत्र से बोला—“क्योंकि तू नास्तिक है, इसलिए कर्तव्याकर्तव्य का ध्यान नहीं रखता। ^३ धर्म तथा देवों की निन्दा-उपहास में तथा विवाद में सारा-सारा दिन बिता देता है। इसे छोड़ कोई जीविका कमाने का काम कर! विवाद से तुझे क्या मिलता है? जड़-चेतन में भेद तू भी मानता ही है। आत्मा चेतन^४ है। सभी में एक है, वह शक्ति-रूप से

१ हे पुत्र कुलट ! त्वं वै, वेश्यासंगं महाऽशुभम् ।

त्यक्त्वा ब्रह्मपरो भूत्वा ब्रह्मचर्ये मतिं कुरु ॥८

२ विषयिन् ! मांसमदिरे नित्यं पापविबन्धके ।

अतः प्राप्स्यति चौर्यत्वमतो वै निरयस्तथा ॥९

३ नास्तिकः त्वं देवनिन्दां परित्यज्य मतिं कुरु ।

४ आत्मा सर्वमयो नित्यमात्मशक्तिश्च चण्डिकाः ॥११

ही सहीं। उसी शक्ति को शाक्त लोग सृष्टिकर्त्री चण्डिका देवी कहकर पुकारते हैं। संसार किसी शक्ति से बना है, यह केवल तू ही नहीं, सभी बड़े-बड़े वैज्ञानिक भी मानते हैं; फिर व्यर्थ विवाद में समय क्यों खोता है? जिसकी वह शक्ति है, ये सभी देवता उसी के अंश हैं। मनुष्य स्वभाव से ही अपने से बड़े का आश्रय चाहता है। और इस परमेश्वर ने, जिसे तू काल्पनिक मानता है, आज तक संसार के करोड़ों मनुष्यों को सहारा दे उन्हें मानसिक व्यथा से बचाया है, सत्पथ पर लगाया है।

चारों भाई, पिता से उपदेश नहीं पैसा लेने आये थे, निराश लौट पड़े। मार्ग में कहने लगे—“जहाँ शान से रहे हैं, वहाँ निर्धन होकर रहना ठीक नहीं; चलो, तीर्थों पर ही चलते हैं। सुना है वहाँ कई सिद्ध-महात्मा आते हैं; किसी की सेवा कर उससे धन कमाने का मन्त्र सीख लेंगे, फिर धन कमाकर धनी बन जायेंगे।” यह सोच चारों तीर्थ-यात्रा पर चल पड़े। दैवयोग से उन्हें मार्ग में ही एक सिद्ध मिल गया। उसकी सिद्धि का चमत्कार देख स्वार्थवश उन्होंने उस सिद्ध की तन-मन से सेवा की। वह सिद्ध इन पर प्रसन्न हो, इन्हें संजीवनी विद्या सिद्ध करने की विधि बता कर चला गया और ये वहीं बैठ उस मन्त्र की सिद्धि के लिए भगवान् शंकर की आराधना करने लगे। वर्ष-भर के अनुष्ठान से वह मन्त्र सिद्ध हो गया।^१ चारों भाई सिद्धि प्राप्त कर बड़ी प्रसन्नता से देश की ओर इस आशा से लौटे कि देश में चल मृत व्यक्तियों को जीवित कर उनके कुटुम्बियों से धन पाकर मालामाल हो जायेंगे।

अपने नगर को लौटते हुए उन्होंने वन में एक स्थान पर कुछ हड्डियाँ पड़ी देखीं। उन्हें देख जुआरी ने परीक्षा करने के लिए मन्त्र पढ़ कर उन हड्डियों पर जल सींचा।^२ पानी सींचते ही वे सब हड्डियाँ अपने-

१ वर्षान्ते च महादेवो विद्यां संजीविनीं ददौ ॥१४

२ मृत व्याघ्रास्थि निश्चेष्टं मन्त्रपूताम्बुसिंचितम् ।

तेन मन्त्रप्रभावेण पञ्जरत्वमुपागतम् ॥

आप अपनी-अपनी जगह पर ठीक जुड़ गई और शेर का पिञ्जर या ढाँचा बन गया। अब दूसरे ने उस अस्थि-पिंजर पर फिर मन्त्र पढ़कर पानी सींचा। अब पंजर में मांस और उसके अन्दर रुधिर दीखने लगा। तब तीसरे ने फिर मन्त्र पढ़ जल सींचा, तो उस पर त्वचा आ गई। वह सोया शेर प्रतीत होने लगा। परन्तु नास्तिक को तब भी मन्त्र की सत्यता पर सन्देह बना ही रहा। अब उसने अपने सन्देह की निवृत्ति के लिए उस शेर पर मन्त्र पढ़कर ज्यों ही जल का एक छींटा दिया कि वह जीवित होकर उन चारों को खा गया।

वैताल ने पूछा—“राजन् ! इन चारों में से अधिक मूर्ख कौन था ?” राजा ने कहा—“वह नास्तिक जिसने विश्वास से काम न ले, अपनी कुतर्क-बुद्धि से अविश्वास कर अपने विश्वास के लिए उस मृत शेर को जिला दिया।”^१

(भविष्यपुराण, प्रतिसर्ग पर्व २, अ० २१)

१ यह कथा विक्रमांकचरित्र, अ० ११ में भी है।

सूर्यग्रहण

एक बार नारद मुनि से श्रीकृष्ण के पुत्र साम्ब ने पूछा—“देवर्षे ! लोग कहते हैं कि सूर्य को राहु ग्रस लेता है। क्या यह बात ठीक है ?”

नारद बोले—‘साम्ब ! सोचो, जिसके प्रकाश से जगत् प्रकाशित होता है, वह सूर्य किसी असुर से कैसे खाया जा सकता है ! किसी प्राणी की क्या सामर्थ्य है, जो इस इतने बड़े तेज के पुञ्ज को ग्रस सके !’ राहु सूर्य को खा जाता है, यह बात हृदय से बिल्कुल निकाल दो। यह बात कहना तो अज्ञ जनों को ही सुहाता है। सूर्य को राहु खा जाता है—ऐसा बेसमझ ही कह सकते हैं।

“साम्ब ! यदि सचमुच ही इस सूर्य को राहु खा जाय, तो यह अग्नि-पुञ्ज सूर्य राहु के पेट में जाकर उसे उसी दम भस्म कर दे।^१ किन्तु यदि तुम राहु को सूर्य से भी बड़ा तथा शक्तिशाली समझ यह कह रहे हो, कि राहु के मुँह में सूर्य आ सकता है और राहु सूर्य को निगल ही जाता है,^२ तो फिर वह अपने तेज दाँतों से सूर्य के सैकड़ों टुकड़े क्यों नहीं कर देता^३ ? पर हम तो ग्रहण के बाद सूर्य को सदा ठीक पहले-सा अखण्डित ही देखते हैं।^४ तुम कहते हो कि राहु सूर्य के बल की

१ कस्य शक्तिः गृहीतुं वै तेजोराशिदिवाकरः ।

२ सर्वस्थोऽयमसंग्राह्यो ह्यबुधस्य जनस्य तु ॥८

३ यदि सत्यमयं ग्रस्तस्तेजोराशिदिवाकरः ॥९

तत्कथं नोदरस्थेन राहुर्भस्मीकृतः क्षणात् ॥१०

४ अथापि राहुणाक्रम्य भानुर्वक्त्रे प्रवेशितः ।

५ कथं नो दशनैस्तीक्ष्णैः शतधा न विखण्डितः ॥११

६ निर्मुक्तस्तु पुनर्दृष्टस्तथैवाखण्डमण्डलः ॥ साम्बपुराण १२

निचोड़ लेता है; यदि राहु सूर्य को निचोड़ ले तो निचुड़ा हुआ सूर्य फिर प्रकाशमान क्यों दिखायी देता है, उसका तेज मिट क्यों नहीं जाता? इसलिए यह तेजःपुञ्ज सूर्य कभी राहु के मुँह में नहीं जाता ।^१

“साम्ब ! ग्रहण के समय सूर्य क्यों दिखायी नहीं देता—यह मैं तुझे समझाता हूँ ।^२ ध्यान से सुन ! बात यह है कि पृथ्वी^३ की काली परछाई निकल कर जब शुक्लपक्ष में पूर्णिमा के समय चाँद को ढँक लेती है, तब चन्द्र-ग्रहण होता है^४; और कृष्णपक्ष में अमावास्या को चन्द्र सूर्य के जितने भाग के आगे आ जाने से सूर्य के प्रकाश को पृथ्वी पर पड़ने से रोक लेता है, उस छाया से सूर्य में ग्रहण दीखने लगता है । इस छाया का नाम ही राहु है ।^५ इस प्रकार पृथ्वी की छाया से चन्द्र-ग्रहण के समय चाँद तथा चाँद की छाया से सूर्य-ग्रहण के समय सूर्य वैसे ही नहीं दीखते, जैसे सूर्य या चन्द्र के आगे बादल आ जाने के कारण उनसे ढँप जाने से कुछ देर पृथ्वी पर चन्द्र वा सूर्य नज़र नहीं आते ।^६ इस छाया के पड़ने का कारण यह है कि चन्द्र सदा हमारी पृथ्वी की परिक्रमा करता रहता है । प्रदक्षिणा करते-करते जब वह पृथ्वी तथा सूर्य के बीच आ जाता है, उस समय पृथ्वी के आगे चन्द्र और उसके बाद सूर्य होने से सूर्य के प्रकाश को चन्द्रमा पृथ्वी पर आने से रोक लेता है । तब सूर्य का प्रकाश पृथ्वी तक नहीं पहुँचता । चन्द्रमा से ढँका सूर्य हमें काला दिखायी देता है । उस समय नीचे पृथ्वी, उसके ऊपर चन्द्र और चन्द्रमा के एक सीध में ऊपर सूर्य होता है । यह स्थिति

१ यदि चाप्येष निष्पीतः कथं दीप्ततरो भवेत् ॥१२

२ तस्मान्न तेजोराशीराहो वक्त्रं स गमिष्यति ॥१३

३ इदन्त्वदर्शनं साम्ब ! शृणु यत्ते वदाम्यहम् ॥५

४ उद्धृत्य पार्थिवीं छायां म्लानाकारस्तमोमयः ।

पातुमिच्छेस्ततश्चन्द्रमाच्छादयति छायाया ॥१७

शुक्ले सचन्द्रमभ्येति कृष्णे पर्वणि भास्करम् ॥१८

५ एवं चन्द्रश्च सूर्यश्च छादिताश्चापि राहुणा ॥२२

६ अतः छादयते राहुरभ्रवच्छशिभास्करौ ॥ साम्बपुराण ३३

केवल अमावास्या के पर्वकाल में ही सम्भव हो सकती है, अतः सूर्य-ग्रहण केवल अमावास्या को ही होता है ।^१

“इसके विपरीत चन्द्रमा पृथ्वी की परिक्रमा करता-करता जब पृथ्वी के दूसरी ओर पहुँच जाता है, तब चन्द्रमा और सूर्य के मध्य में पृथ्वी के आ जाने से सूर्य के प्रकाश को चन्द्र पर जाने से पृथ्वी रोक लेती है । उस समय पृथ्वी की छाया^२ चन्द्र पर पड़ने लगती है । उससे चन्द्रमा का जो भाग काला दिखायी देता है, उसे चन्द्र-ग्रहण कहते हैं । यह स्थिति केवल पूर्णिमा को ही हो सकती है, इसलिए चन्द्र-ग्रहण केवल पूर्णिमा को ही होता है ।”

यह सुन साम्ब ने नारदजी से पूछा—“मुनिवर ! यदि यह बात फर ग्रहण कभी-कभी पूरा और अधिकतर अधूरा नज़र क्यों आता है ?” नारद बोले—“साम्ब ! पृथ्वी की जितनी छाया^३ चन्द्र-मण्डल को घेर लेती है, उतने भाग को ही राहु कहते हैं । शेष चन्द्रमा प्रकाशित रहने से अधूरा चन्द्र-ग्रहण होता है । भाव यह कि चन्द्र वा सूर्य के जितने भाग को राहु-रूप छाया छिपा लेती है, उतना भाग काला दीखता है । यह चन्द्र तथा पृथ्वी की गति के कारण पूरा, अधूरा, तिहाई, चौथाई तथा उससे कम भी हो सकता है ।^४ इससे ग्रहण भी कभी पूरा और बहुत बार अधूरा हुआ करता है ।

“ज्योतिष से अनभिज्ञ लोग गणित आदि न जानने के कारण

१ अधो राहुः परः सोमः सोमादूर्ध्वं दिवाकरः ।

पर्वकाले स्थितिस्त्वेवं विपरीतगतौ पुनः ॥३२

२ आक्रम्य पार्थिवीं छायां यावती चन्द्रमण्डलम् ।

स्मृतः सभागो राहोस्तु देवभागश्च शेषकः ॥ ३३

३ चन्द्रस्य यदवस्पृष्टं राहुणा भास्करस्य च ॥३४

ते भागखण्डितं तस्य केवलं श्यामलीं कृतम् ॥३४

वा पादं पादार्द्धमेव वा ॥३८

आक्रम्य पार्थिवीं छायां यावती चन्द्रमण्डलम् ।

स्मृतः सभागो राहोस्तु देवभागश्च शेषकः ॥ साम्बपुराण २६

केवल^१ आँखों से चन्द्र वा सूर्य को ढँपा देख यह मिथ्या कल्पना कर लेते हैं कि राहु असुर सूर्य वा चन्द्र का ग्रास^२ कर लेता है; इसलिए राहु असुर सूर्य को खा जायगा—यह चिन्ता तू अपने हृदय से बिल्कुल निकाल दे !”

इस प्रकार साम्ब को समझा कर नारद महाराज अपने स्थान को चले गए ।

(साम्बपुराण, अध्याय २२)

१ राहुणाच्छादितौ वापि दृष्ट्वा चन्द्रदिवाकरौ ॥३७

अबुधास्तन्न पश्यन्ति मानुषा मांसचक्षुषा ॥३६

२ राहुणा ग्रस्यते नार्को व्येतु ते हृदयव्यथा ॥ साम्बपुराण ७

युग का प्रभाव

स्कन्द ने शंकर से पूछा—“पहले कैसा समय था और आगे कैसा आने वाला है ?”

शंकर बोले—“समय का अच्छा वा बुरा होना युगों पर निर्भर करता है—

(१) सत्य-युग में जो मनुष्य जन्म लेते हैं उन्हें आजीविका के लिए कभी भटकना नहीं पड़ता ।^१ उन्हें न मृत्यु का भय होता है, न ही चोरों का खटका । सत्ययुग में वृक्ष फलों से लदे रहते थे ।^२ पृथ्वी अन्न से परिपूर्ण होती थी । लोग सत्यवादी थे, उनकी आयु बहुत लम्बी हुआ करती थी । उन लोगों में लोभ, क्रोध, रोष और दम्भादि दुर्गुण न थे ।^३ वे न चुगली करना जानते थे, न कमीने थे और न ही विषयासक्त थे । वे दण्ड के भय से नहीं, धर्म समझ कर सदाचार का पालन किया करते थे । इस युग में देव, गंधर्व, किन्नर, दानव, यक्ष, राक्षस और उरगों का जन्म हुआ था । सत्ययुग के अन्त में तारकामय अनेक संग्राम हुए, जिनमें देव, गंधर्व, सिद्ध, राक्षस तथा उरगों का बहुत विनाश हुआ था । जो बचे, उनकी रक्षा के लिए ब्रह्माजी ने क्षत्रिय जाति को उत्पन्न किया ।

(२) त्रेता-युग में चारों वर्ण अपने-अपने धर्म में प्रवृत्त हुए और यज्ञयागादि होने लगे । वेदज्ञ विद्वान् वनों में कुटिया बना रहने लगे और क्षत्रिय लोग युद्ध से देश-रक्षा और प्रजा-पालन में तत्पर हुए ।

१ न वृत्त्यर्थं भयं तेषां न च मृत्युर्न तस्कराः ॥१३

२ द्रुमाः काम फलास्तेषां सस्यपूर्णा च मेदिनी ॥१४

३ न लोभस्तेषु न क्रोधः शरीरेषु शरीरिणाम् ॥१६

न रोषो न च दम्भोऽस्ति न पैशुन्यं न च क्षुद्रता ॥ पु० पु० १७

वैश्य पशु-पालन तथा कृषि करने लगे । तब ब्राह्मणों का पालन वैश्य तथा रक्षण क्षत्रिय करते थे । शूद्र देश-सेवा में लगे थे और ब्राह्मण तत्त्व-चिन्तन तथा शिक्षण में लगे रहते थे । इस युग में पहले से कुल दसवाँ भाग फल-मूल होने लगे । मनुष्य की आयु भी आगे से दसवाँ भाग रह गई ।^१ मानव में ईर्ष्या तथा क्रोध का जन्म हुआ । अहंकार पहले की अपेक्षा बढ़ गया, हैहय-वंशी उच्छृंखल हो गए । त्रेता-युग के अन्त में परशुराम ने उन उद्धृत हैहयवंशी क्षत्रियों का २१ बार संहार कर देश में शान्ति स्थापित की ।

(३) द्वापरयुग में मनुष्यों में वध, बन्धन वा बलप्रयोग कोई किसी पर न करता था ।^२ पृथ्वी पर सुगमता से धर्मानुष्ठान चलते थे । राजा प्रजा की रक्षा में संलग्न रहते थे । द्वापर में सत्य, धर्म तथा यज्ञ में लोगों को विश्वास था । कोई व्यक्ति कभी अपने धर्म का उल्लङ्घन न करता था । किन्तु इस युग के अन्त में शस्त्र-मद के कारण कुछ लोगों की अधर्म में प्रवृत्ति बढ़ने लगी, जो उस युग के अनुकूल न थी । इसी-लिए महाभारत का युद्ध हुआ और १८ दिन में अठारह अक्षौहिणी सेना में से केवल सात व्यक्ति बचे । इसके अनन्तर शाप-ग्रसित यादव आपस में लड़ मरे । अब भगवान् का उद्देश्य पूरा हो गया और श्रीकृष्ण के धरा-धाम छोड़ते ही संसार में कलियुग का आरम्भ हो गया ।^३

(४) कलियुग में थोड़ा-सा धन पास होते ही लोग धनाढ्य होने का अभिमान करने लगेंगे । ज्यों-ज्यों कलियुग बढ़ेगा, त्यों-त्यों धर्म और सत्य दोनों में कमी आती जायेगी । धर्म पर चलने वालों का लोग उपहास करेंगे । कलियुग में शास्त्र की बात से अपने मन की बात को लोग अधिक महत्त्व देंगे । लोगों की वर्ण-आश्रम धर्म में प्रवृत्ति न रहेगी । प्रायः लोग धर्म तथा परम्परागत आचार को छोड़ देंगे । बहुधा

१ इहस्थायुःस्थिता वत्स ! दशभागेन प्राणिनाम् ॥४८

२ न तेषां वधबन्धोऽस्ति बलात्कारेण दारुणः ॥५४

३ यस्मिन् कृष्णो दिवं यातस्तस्मिन्नेव तदाहनि ।

प्रतिपन्नं कलियुगं तस्य संख्यां निबोधमे ॥ विष्णुपु० अंश ४।२४।११३

लोग धर्म के लिए नहीं, दिखावे के लिए यज्ञ करेंगे। कई ब्राह्मण तप तथा यज्ञ के फल को वेचेंगे। अनेक लोग आजीविका के लिए धर्म के कृत्रिम चिह्न धारण कर फिरेंगे। बहुत से लोग परमेश्वर को मानना छोड़ देंगे। उपासना के लिए उपासना-गृहों में कोई नहीं जायगा, देव-मन्दिर खाली पड़े रहेंगे। धर्म का तत्त्व न जानने वाले लोग बड़े-बड़े आसनों पर बैठकर उपदेश दिया करेंगे। कई लोग अपनी प्रतिष्ठा के लिए धर्म के स्वरूप में भेद कर नये-नये पंथ चलायेंगे।

कलियुग में ऐसे लोग उत्पन्न होंगे जो लोगों के सामने उनकी स्तुति और पीठ पीछे निन्दा किया करेंगे। किसी को परम्परा के आचार की परवाह न होगी। लोग निःशंक होकर पाप करेंगे। पुत्र पिता की और शिष्य गुरु की भर्त्सना करेंगे। पुरुष ऐसे आत्मनिष्ठ होंगे कि बूढ़े माता-पिता का भी पालन न करेंगे। प्रायः लोग स्त्रैण होंगे, पत्नी के सम्बन्धियों का ही मान करेंगे। माता-पिता की उपेक्षा करेंगे। पिता और भाईयों को छोड़ घरेलू मामलों में लोग बहुधा सालों की सलाह पर चलेंगे खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ प्रायः यही लोगों का उद्देश्य होगा। पुरुष एकपत्नी-व्रती न होंगे, स्त्रियाँ धनहीन पति को छोड़ दिया करेंगी। विवाह का बन्धन न रहेगा। सोना, चाँदी, रत्न, वस्त्र दुर्लभ हो जाने से स्त्रियाँ अपने केशों से ही अपना शृंगार किया करेंगी।

आय कम तथा संतान अधिक होने के कारण लोग दुःखी रहेंगे। पुरुष कम और स्त्रियाँ अधिक होंगी। जब तक किसी से मतलब होगा, तब तक उससे लोग मित्रता का व्यवहार करेंगे। लोगों में ग्लानि, मोह, लोभ, तमोगुण अधिक होगा। वे दूसरे के गुणों में भी दोष निकालने का यत्न करेंगे। झूठ बोलेंगे। सभी दूसरों से कुछ लेने की इच्छा करेंगे। कोई किसी को कुछ देना न चाहेगा। जिससे कुछ मतलब निकालना हो, दान उसी को देंगे। कलियुग में परम आयु सौ

वर्ष की होगी। ज्यों-ज्यों काल बढ़ेगा, पुरुषों की आयु घटती जायेगी और घटते-घटते बीस वर्ष रह जायेगी। बाल-मृत्यु की संख्या बढ़ेगी। १२ वर्ष की अवस्था में ही बाल पकने लगेंगे। लोग एक दमड़ी के लिए पुरानी मित्रता तोड़, भगड़ा ठान, मरने-मारने को तैयार हो जायेंगे। अपने स्वार्थ के लिए दूसरों की हानि की तनिक परवाह न करेंगे। राजा प्रजा की रक्षा का ध्यान कम और टैक्स लगाने का अधिक करेंगे। वे बड़े-बड़े कर लगायेंगे। रक्षक ही भक्षक बन जायेंगे। वर्षा कम होने से खाद्यान्न कम उत्पन्न होंगे। लोग मृग, पशु-पक्षी खाकर पेट भरेंगे। समुद्र, तीर्थ और नदी-तटवासी मछलियाँ खाकर जीयेंगे। गेहूँ और जौ के लिए लोग एक देश से दूसरे देश में मारे-मारे फिरेंगे। सदा अनावृष्टि का भय रहेगा। देश में उथल-पुथल मचेगी। प्रजा दुर्भिक्ष तथा कर से तंग रहेगी। चोर-डाकू लोगों को तंग करेंगे। लोग आचार का नहीं, धन का मान करेंगे। परन्तु यह सब कलिकाल का स्वभाव है, इससे सुगमता से बचाव कठिन होगा; किन्तु इस कलियुग^१ में भी अनेक जन पूर्वकर्मों के प्रभाव, सत्संग तथा ईश्वरानुग्रह से उक्त दोषों से बचे रहेंगे। कलियुग में अनेक दोष होते हुए भी यह एक बड़ा गुण होगा कि इसमें थोड़े से धर्म-कर्म में भी शीघ्र सिद्धि हो जाया करेगी। वे धन्य होंगे जो कलियुग में भी धर्माचरण पर दृढ़ रहेंगे।

बुढ़ापा, व्याधि, भुखमरी आदि दुःखों से लोग संसार से उकता कर संसार से विरक्त हो जायेंगे। संसार से विरक्त होने के कारण उनके विचारों में परिवर्तन होगा। उससे वे परस्पर समानता का बर्ताव

इस निबंध के निर्माण में जिन १० पुराणों की सहायता ली गई है, उनके नाम निम्नांकित हैं :—

- १ देवीभागवत स्कन्द ६, अध्याय ११
- २ पद्मपुराण, क्रियायोग खण्ड, अध्याय २६
- ३ ब्रह्मपुराण, अध्याय २२६
- ४ ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृष्णजन्म ख०, अ० ६०
- ५ भागवतपुराण स्कन्द १२, अ० ३

करेंगे । समानता के व्यवहार से उनमें बोध (ज्ञान) उत्पन्न होगा और बोध होने से वे धर्मशील बन जायेंगे । इस नैसर्गिक चक्र के घूमने से युग-परिवर्तन होकर सत्य-युग आ जायेगा ।

(युगपुराण—१० अन्य पुराणों-सहित)

६ मत्स्यपुराण, अध्याय १४३

७ वायुपुराण, उपोद्घातपाद, अ० ५८

८ विष्णुपुराण, षष्ठ अंश, अध्याय १

९ लिङ्गपुराण, पूर्वार्ध, अध्याय ४०

१० स्कन्दपुराण, माहेश्वर खण्ड, २।४०

३. धर्म-काण्ड

पूजा पर भागड़ा

हैहयवंशी राजा अर्जुन के शूर, शूरसेन, कृष्ण, धृष्ण तथा जयध्वज ये पाँचों ही पुत्र बड़े वीर तथा महारथी थे। पहले चार शिवजी के भक्त होने से शिवजी की पूजा करते थे।^१ परन्तु पाँचवाँ जयध्वज विष्णुनारायण का भक्त हो जाने से विष्णु का पूजन किया करता था।

एक दिन अर्जुन के पहले चार पुत्र उसे कहने लगे—“यह जो आप करते हैं, यह धर्म नहीं। हमारे पिता तो शिव-पूजा किया करते थे—यही हमने सुन रक्खा है।”

जयध्वज ने कहा—“यह मेरा धर्म नहीं—यह तुम कैसे कहते हो ? मेरा यही परम धर्म है। मेरा ही क्यों, सभी राजाओं का भी यही धर्म होना चाहिए। क्योंकि पृथ्वी के सभी राजाओं का प्रादुर्भाव विष्णु भगवान् के अंश से ही होता है।

राज्य की पालना करने वालों को भगवान् विष्णु की ही पूजा करनी चाहिए, क्योंकि जगत् के पालन का काम तो भगवान्

१ शूरसेनादयः पूर्वे चत्वारः प्रथितौजसः ।

रुद्रभक्ताः महात्मानः पूजयन्ति स्म शंकरम् ॥१२१॥

जयध्वजस्तु यतिमान् देवं नारायणं हरिम् ।

जगाम शरणं विष्णुं दैवतं धर्मतत्परः ॥१२२॥

२ तमूचुरितरे पुत्राः नायं धर्मस्तवानघ ।

ईश्वराराधनरतः पिताऽस्माकमिति श्रुतिः ॥१२३॥

३ तानब्रवीन्महातेजा ह्येष धर्मः परो मम ।

विष्णोरंशेन सम्भूता राजानो यन्महीतले ॥ कूर्मपुराण, सू०, अ० २२।२४

विष्णु ही करते हैं। चाहे उस परात्पर तत्त्व के सात्त्विक, राजस् तथा तामस् तीन ही रूप हैं^१, जो सृष्टि, स्थिति तथा संहार करते हैं। क्योंकि जब वह शक्ति, रजोगुण वन सृष्टि की इच्छा से संसार को उत्पन्न करती है, तब उसे ब्रह्मा कहते हैं; और जब सृष्टि-संहार करने की कामना से वह तमोगुण में आ, जगत्-संहार करने के लिए रुद्र-रूप धारण करती है, तो वह हर कहलाती है; तथा वही जब विश्व का पालन, संचालन तथा रक्षण करने के लिए सात्त्विक रूप धारण करती है, तब उसे विष्णु कहते हैं। क्योंकि राजा भी अपनी प्रजा के पालन का ही काम करता है, इसलिए उसे अपने कार्य में सहायता तथा सफलता पाने के लिए विष्णु की ही आराधना करनी चाहिए।^२

जयध्वज की बात सुन^३ उसके भाई उसे कहने लगे—“अरे ! सुन—संसार में आना मनुष्य का उद्देश्य नहीं। संसार से मुक्ति पाना ही सच्चा पुरुषार्थ है। क्योंकि रुद्र संसार का संहार करने वाले हैं, इसलिए आवागमन के बन्धन से छुटकारा पाने के लिए मुमुक्षु लोगों को उसी शिव का ही पूजन करना चाहिए। वस्तुतः यह समस्त

१ सात्त्विकी राजसी चैव तामसी च स्वयंभुवः ।

तिस्रश्च मूर्तयः प्रोक्ताः सृष्टिस्थित्यन्तहेतवः ॥२६

सत्त्वात्मा भगवान् विष्णुः संस्थापयति सर्वदा ।

सृजेद्ब्रह्मा रजोमूर्तिः संहरेत् तमसो हरः ॥२७

२ तस्मान्महीपतीनान्तु राज्यं पालयतामिदम् ।

आराध्यो भगवान् विष्णुः केशवः केशिमर्दनः ॥ कूर्म० पू०, अ० २२।२८

३ निशम्य तस्य वचनं आतरोऽन्ये मनस्विनः ।

प्रोचु संहारको रुद्रः पूजनीयो मुमुक्षुभिः ॥२९

अयं हि भगवान् रुद्रः सर्वं जगदिदं शिवः ।

तमोगुणं समाश्रित्य कालान्ते संहरेत् प्रभुः ॥३

या सा घोरतमा मूर्तिरस्य तेजोमयी परा ।

संहरेद्विद्यया पूर्वं संसारं शूलभृत्तया ॥ कूर्म० पू०, अ० २२।३१

संसार उस महाप्रभु शिव का ही रूप है ? और कार्य का कारण में लय स्वाभाविक होने से शिव स्वयं ही प्रलय-काल के समय तमोगुण-रूप हो, संसार का संहार कर लेते हैं। फिर उपासना भी तो बार-बार जन्म-मरण के बन्धन में पड़ने के लिए नहीं की जाती। उसका उद्देश्य भी संसार के बन्धन से छूटना, अपने संसार का संहार करना ही तो है, और संसार का संहार शिव ही करते हैं—इसलिए सभी को शिव की ही आराधना करनी चाहिए।”

यह सुन जयध्वज ने कहा—“अजी ! सुनो तो सही, जीव सतोगुण से ही तो मुक्ति पाता है और विष्णु ही तो सतोगुण के स्वरूप हैं। इसलिए उस विष्णु की ही सभी को पूजा करनी चाहिए।”

उसके ऐसा कहने पर उसके भाई बोले—“यह तुमने खूब कही ! क्या सात्त्विक लोग शिव की पूजा नहीं करते ? हम तो जानते हैं कि हमारे पूर्वज सात्त्विक थे, और वे शिव-पूजन से ही मुक्त हुए हैं। हाँ, यह ठीक है कि सात्त्विक वृत्ति से युक्त होकर शिवजी की आराधना करनी चाहिए।”

तब जयध्वज ने हँसकर कहा—“मुनियों ने मुक्ति पाने के लिए स्वधर्म का पालन करना ही एकमात्र रास्ता बतलाया है। क्योंकि राजाओं का काम प्रजा-पालन करना होता है, इसलिए राजा लोग

१ ततस्तानब्रवीद्राजा विचिन्त्यासौ जयध्वजः ।

सत्त्वेन मुच्यते जन्तुः सत्त्वात्मा भगवान् हरिः ॥३२

२ तमूचुर्भातिरो रुद्रः सेवितः सात्त्विकैर्जनैः ।

मोचयेत् सत्त्वसंयुक्तः पूजयेच्च ततो हरम् ॥३३

३ अथाब्रवीद्राजपुत्रः प्रहसन् वै जयध्वजः ।

स्वधर्मो मुक्तये पन्था नान्यो मुनिभिरुच्यते ॥ ३४

आराधनं परो धर्मो मुरारेरमितौजसः ॥ कर्म०, पू०, अ० २२।३५

सदा उस वैष्णवी शक्ति को धारण किये होते हैं। इसलिए विष्णु की आराधना करना ही उनका परम धर्म है।”

यह सुन उन चार भाइयों में से कृष्ण ने कहा—“जयध्वज ! क्या हमारे पिता अर्जुन धर्म करते थे, यह तुम मानते हो ?”^१

जब विवाद यों व्यक्तिगत रूप धारण कर बढ़ने लगा, तब शूर ने कहा—“अरे भाई ! हम आपस में बहुत झगड़ लिये हैं, विवाद समाप्त करो। इस विषय में हम लोग प्रमाण थोड़े माने जायेंगे, जो व्यर्थ मगजपच्ची करके वैर मोल ले रहे हो। इस विषय में तो शास्त्र का रहस्य जानने वाले ऋषि ही प्रमाण माने जाते हैं। वे जो कहें, वही ठीक है।”^२

तब वे सब भाई वहाँ से चल सप्तर्षि-आश्रम^३ पर आकर ब्रह्म-वादियों से पूछने लगे—“मनुष्य को शिव का पूजन करना चाहिए या विष्णु का ?”

उन की यह बात सुन वशिष्ठादि^४ महर्षियों ने कहा—“तुम सब व्यर्थ झगड़ा कर परस्पर वैर का बीज क्यों बो रहे हो ? ध्यान से सब सुनो, यथार्थ बात तो यह है कि जिसकी जिस पर श्रद्धा हो, वही उसके लिए देवता है,^५ उसी की उसे पूजा करनी चाहिए। इसलिए यह जयध्वज विष्णु की आराधना कर सकता है।” और तुम अपनी श्रद्धा के अनुसार शिवजी की उपासना करते रहो। किन्तु यह सदा

१ तमब्रवीद्राजपुत्रः कृष्णो मतिमतां वरः ।

यदर्जुनोऽस्मज्जनकः स धर्मं कृतवानिति ॥ ३६

२ एवं विवादे वितते शूरसेनोऽब्रवीद्वचः ।

प्रमाणमृषयो ह्यत्र ब्रूयुस्ते यत्तथैव तत् ॥ ३७

३ ततस्ते राजशालाः पप्रच्छुर्ब्रह्मवादिनः ।

गत्वा सर्वे सुसंरब्धाः सप्तर्षीणां तदाश्रमम् ॥ ३८

तानब्रूवन्ते मुनयो वसिष्ठाद्या यथार्थतः ।

४ या यस्याभिमता पुंसः सा हि तस्यैव देवता ॥ ३९

५ तस्माज्जयध्वजो नूनं विष्ण्वाराधनमर्हति ॥ कूर्म० पु०, पू०, अ० २२।४७

स्मरण रखना चाहिए कि विष्णु तथा शिव एक ही हैं ।^१ एक में द्वेष-बुद्धि कर दूसरे की पूजा करने वाले को न विष्णु फल देते हैं और न शिव ही । अतः एक-दूसरे को अपनी रुचि के अनुसार पूजा करने दो, पूजा के लिए परस्पर मत लड़ो !”

[कूर्मपुराण, पूर्वभाग, अध्याय २२]

१ किन्तु रुद्रेण तादात्म्यं बुद्ध्या पूज्यो हरिर्नरैः ॥ कू० पु०, पू०, अ० २२।४८

मत्तान्ध मरे

शाल्व देश के राजा ब्रह्मदत्त के दो पुत्र थे। एक का नाम हंस तथा दूसरे का डिम्भक था। यद्यपि दोनों सौतेले भाई थे, पर दोनों में सगे भाइयों से भी अधिक प्रेम था। इन दोनों ने तपस्या, उपासना तथा मन्त्र-अनुष्ठान से अनेक सिद्धियाँ प्राप्त की थीं। अतः इनकी कर्मकाण्ड पर बहुत श्रद्धा थी और साथ ही ये अज्ञानवश यह भी समझते थे कि कर्मकाण्ड के सिवाय परलोक-सुधार के दूसरे सब साधन वृथा हैं।

हंस तथा डिम्भक का एक मित्र जनार्दन था। उसकी भी कर्मकाण्ड तथा उपासना में बड़ी आस्था थी, पर वह हंस और डिम्भक जैसा कट्टर न था। उसके हृदय में दूसरे मतों तथा विश्वासों के लिए पूरी उदारता थी।

एक दिन हंस और डिम्भक शिकार खेलने चले तो उसे भी साथ खींच ले गए। वन में जाकर इन्होंने अनेक मृगादि पशु मारे। इनके सैनिकों ने पक्षियों को मार-मार कर एक ऊँचा ढेर लगा दिया। शिकार खेलते-खेलते ये सब थक गए। उधर दोपहर हो जाने से तेज़ लू चलने लगी, तो गर्मी से तंग आकर इन्होंने शिकार खेलना बन्द किया और सरोवर के पास छाया में बैठ ये सब विश्राम करने लगे। उस समय उन्हें दूर से आती वेद की ध्वनि सुनायी दी। सैनिकों को वहीं छोड़ जनार्दन के साथ हंस और डिम्भक उस ध्वनि का अनुसरण कर एक कुटिया के पास पहुँचे। वहाँ उन्होंने वेद-पाठ सुना। उन्हें पता चला कि यहाँ पास ही कश्यप मुनि का आश्रम है, वहाँ इस समय यज्ञ हो रहा है। कर्मकाण्ड पर तो उनकी श्रद्धा थी ही, उन्हें यह जानकर

कि निकट ही यज्ञ हो रहा है, बड़ी प्रसन्नता हुई और वे वहाँ से पैदल ही कश्यप मुनि की यज्ञशाला में पहुँचे । वहाँ यज्ञ होता देख उन्होंने कर्मकाण्डी मुनियों को बड़ी श्रद्धा तथा विनय से प्रणाम किया और यज्ञ देखने बैठ गए । उन्हें वहाँ आया देख कश्यप मुनि ने उन अतिथियों का सत्कार किया ।

वहाँ कुछ देर बैठ, लौटते समय हंस ने मुनियों से कहा—“हमारे पिता यज्ञ करना चाहते हैं, आप उस यज्ञ में अवश्य पधारने की कृपा कीजिये ।” मुनियों ने पूछा—“वह यज्ञ कब आरम्भ होगा ?” इसके उत्तर में मनोमोदक खाने का अभ्यस्त हंस बोला—“बस, हम अब दिग्विजय कर राजसूय यज्ञ करने ही को हैं ।” यह सुन वहाँ बैठे सभी मुनिजन मन ही मन उन विकत्थनों के इस आत्म-प्रशंसा ढंग को देख-कर मुस्कराये कि ये कितने अविवेकी तथा उतावले हैं ! अभी दिग्विजय आरम्भ नहीं हुई और उस विजय के बाद होने वाले यज्ञ का निमन्त्रण अभी से दे रहे हैं ! ये, यह भी नहीं जानते कि युद्ध में जय-पराजय दोनों हो सकते हैं । कौन जीतेगा, यह कौन कह सकता है ? —पर फिर भी कुछ कहने से इन्हें बुरा लगेगा, यह सोच मुनि बोले—“यदि आप उस समय बुलायेंगे तो हम अवश्य आयेंगे । अभी हमारा यहीं रहना ठीक है ।”

मुनियों का उत्तर सुन उन्हें प्रणाम कर वे तीनों वहाँ से उठकर पुष्कर के उत्तर तीर पर दुर्वासा के आश्रम में चले गए ।^१

उस आश्रम में बहुत से संन्यासी आरण्यक ग्रंथों का स्वाध्याय कर रहे थे । कोई ब्रह्म-सूत्रों की संगति लगा रहा था तो कुछ ब्रह्म-चिन्तन में लगे थे ।^२ उनमें अहंता-ममता का नाम न था । उनके गुरु दुर्वासा केवल

१ पिता हि नौ मुनिश्रेष्ठा यष्टुमैच्छत साधनम् ॥४॥

गंतव्यं तत्र युष्माभिः सत्रे नो मुनिसत्तमाः ॥५॥

२ राजसूयेन यज्ञेन कृत्वा दिग्विजयं वयम् ।

याजयिष्यामहे विप्राः पितरं धार्मिकं नृपम् ॥६॥

३ पुष्करस्योत्तरे तीरे दुर्वासा यत्र तिष्ठति ॥११॥

४ ब्रह्मसूत्रपदं शास्त्रं दर्शनालोकतत्पराः ॥ हरिवंश० १०७।१२

लाल कौपीन पहने थे ।^१ वे वेदान्त के एकमात्र तत्त्व ब्रह्म में तन्मय हो रहे थे । उनका अन्तःकरण राग-द्वेष तथा क्रोध से सर्वथा शून्य हो चुका था । बड़े-बड़े परमहंस संन्यासी शिष्य-रूप में उनके पास बैठे थे । वहाँ जाते ही हंस और डिम्भक ने संन्यास धर्म का पालन करने वाले दुर्वासा को देखा, जो ध्यान में मग्न बैठे थे । यह वही दुर्वासा था, जो अपने क्रोध तथा शाप की भयंकरता के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध था । उन्हें यदि क्रोध आ जाए तो वे त्रिलोकी को भस्म करने की शक्ति रखते थे ।^२ कुपित दुर्वासा से, मनुष्यों की तो बात ही क्या, देवता भी डरते थे । पर आज उनमें वह बात न थी । संन्यास लेते ही मानों क्रोध उनसे संन्यास ले गया था । अब वह बड़े सौम्य तथा शान्त-मूर्ति हो गए थे । दुर्वासा को देख हंस और डिम्भक सोचने लगे—
‘अरे ! गेरुआ वस्त्र धारण करने वाला यह कौन है !’ गृहस्थ-आश्रम के अतिरिक्त यह कौन-सा आश्रम है, जिसे इन्होंने ग्रहण कर रखा है !^३ क्योंकि केवल गृहस्थ ही धर्मात्मा हो सकता है ।^४ गृहस्थ ही धर्म के मर्म को समझता है । गृहस्थ को धर्म की मूर्ति कहते हैं और गृहस्थ ही एकमात्र आश्रम है । उसके अतिरिक्त जो दूसरे आश्रम का पालन करता है, वह बड़ा बेसमझ है ।^५ यह कुरूप दुर्वासा पागल या मूर्ख जान पड़ता है ।^६ निरन्तर ध्यान लगाये हुए की तरह बैठ यह दूसरों को निश्चय ही ठग रहा है ।^७ साधारण ज्ञान रखने वाले ये प्राणी कौन-

१ रक्तकौपीनवसनो हंसः परम एव च ॥१६

२ क्रुद्धो यदि स दुर्वासा दग्धुं लोकानिमान् क्षमः ॥ २०

३ को नामाऽसौ महाभूतः काषायी वर्णवित्तमः ॥२०

४ कश्चायमाश्रमो नाम विहाय च गृहाश्रमम् ॥२१

५ गृहस्थ एव धर्मात्मा गृहस्थो धर्मवित्तमः ।

६ तं विनाऽन्येन रूपेण वर्तते मूर्ख एव सः ॥२२

७ उन्मत्तोऽयं विरूपोऽयमथवा मूर्ख एव च ॥२३

८ ध्यायन्ति च सदा चायमास्ते वञ्चयिताऽपि वा ॥ हरिवंश० १०७।२४

सा ध्यान कर सकते हैं।^१ दुराग्रहपूर्वक ये दूसरे आश्रम की कल्पना कर रहे हैं। इन ब्राह्मणों की बुद्धि अत्यन्त मलिन है। वे मिथ्या ज्ञान के विचार में ही तत्पर रहते हैं।^२ इन सभी को बलपूर्वक हम गृहस्थाश्रम में लावेंगे।^३ अज्ञान-रूपी ग्रह ने इनके सद्विवेक को ग्रस लिया है। इसीलिए ये ऐसे हो रहे हैं। इन्हें किसी ब्राह्मण ने समझाया नहीं।^४ अच्छा, अब हम इनको नियन्त्रण में रखते हैं। इन्हें धर्म के मार्ग पर लगाकर ही हम अब यहाँ से लौटेंगे।^५

हंस और डिम्भक दोनों ही बड़े अज्ञानी थे। इसीलिए वे समझते थे कि जो वे समझते हैं, वही ठीक है; और जो वे करते हैं, वही सबको करना चाहिए। उनके सिर पर भावी का विधान मौत का भूत सवार हो रहा था।

ये दोनों दुर्वासा के पास जाकर उनसे कहने लगे—“ओ अज्ञानी ब्राह्मण ! तूने यह क्या ढोंग करना शुरू किया है ?” यह कौन-सा आश्रम है, जिसे तूने ग्रहण किया है ?” यह तो बता कि तूने गृहस्थाश्रम का परित्याग कर अपना कौन-सा सुधार कर लिया है ?” यह तो साफ तेरा पाखण्ड ही जान पड़ता है।^६ इसमें शंका की कोई बात ही नहीं दिखायी देती। अरे मूढ़ ! क्या तू संसार को समाप्त^७ कर देना चाहता है ? मूर्ख ! आप तो तू नष्ट हुआ ही था, पर अब तू दूसरों का भी

१ किमेते प्राकृताज्ञानाद् ध्यायन्त इति किंचन ।

२ वयमेतान् दुरारोहनाश्रमान्तरकल्पकान् ॥२५

३ स्थापयिष्यामहे सर्वान् मन्दबुद्धीनिमान् गृहे ।

बलादेव द्विजानेतान् मूढ विज्ञानतत्परान् ॥ २६

४ एषां शास्ता न को मूढो न विप्रो वयमत्र ह ॥ हरिवंश १०७।२७

५ धर्मवर्त्मनि संस्थाप्य पुनर्यास्याम निवृत्तौ ।

६ ज्ञानलेशाद्विहीनात्मन् ! किं ते व्यवसितं द्विज ॥१०७

७ कश्चायमाश्रमो विप्र ! भवता यः समाश्रितः ॥१०८

८ गृहमेधं परित्यज्य किं त्वया साधितं वद ।

९ दम्भ एव भवान् व्यक्तं शंके नास्त्यत्र कारणम् ॥२

१० लोकाँश्चेमान् सदा मूढ ! नाशयिष्यसि निवृत्तः ॥

नाश करेगा ।^१ हो न हो, तुझ जैसे ब्राह्मण का कोई शासन करने वाला नहीं है, अन्यथा ऐसा न होता ।^२ अथवा कोई होगा तो निश्चय ही उसकी बुद्धि^३ खोटी रही होगी । ब्राह्मण ! तू इस आश्रम को छोड़कर संयमशील गृहस्थ बन जा ।^४ सदा पञ्च यज्ञ करने का प्रयत्न कर,^५ तुझे उत्तम स्वर्ग मिलेगा ! इस संसार में कल्याण का यही एक सुन्दर मार्ग है ।”^५

हंस और डिम्भक जब दुर्वासा जी के सामने इस तरह अनाप-शनाप प्रलाप कर रहे थे, तब जनार्दन ने उन्हें समझाया—“ऐसा मत कहो ! तुम जो समझते हो, एक हमारा मार्ग ठीक है और दूसरों के सभी मत गलत हैं—यह तुम्हारी बड़ी भूल है । हरेक का अपनी श्रद्धा और रुचि के अनुसार भगवान् का चिन्तन करने दो ! भगवान् स्वयं सर्वज्ञ हैं । वह सब जानते हैं कि कौन, किस लिए, क्या कर रहा है । तुम इन्हें अपनी तरह उपासना करने को बाध्य क्यों करते हो ? इसीलिए न, कि तुम्हें विश्वास है कि जैसे तुम उपासना करते हो उससे तुम्हें जो लाभ हुआ है, जो सुख मिला है, उसे वे भी प्राप्त करें, उससे वे वंचित न रहें । इस सुख की सद्भावना से प्रेरित हो किये काम में लड़ाई-भगड़ा, मार-काट क्यों करना चाहते हो ? अपनी ओर से तुमने समझा लिया, वे अपना मार्ग अलग समझ उसे छोड़ना नहीं चाहते, सारी बुद्धि का तुम्हीं ने ठेका ले रखा है ? यह क्यों नहीं समझते कि उनकी बात भी ठीक हो सकती है । तुम उनकी उपासना को उपासना नहीं समझते तो न सही । अरे ! भगवान् को तो तुम सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी समझते हो ! जब ये अपनी ओर से अपने ढंग से सच्चे दिल से उपासना कर रहे हैं, तो तुम्हारा वह सर्वज्ञ परमेश्वर तो

१ स्वयं नष्टः परान् मूर्खं नाशयिष्यसि यत्नतः ॥ हरि० भ० १०८४

२ अहो शास्ता कथं नास्ति तव मन्दमते द्विज ॥४

३ सर्वथा त्वद्विनेता च पापो नास्त्यत्र संशयः ।

४ त्यक्त्वेनमाश्रमं विप्र गृही भव यतात्मवान् ॥५

५ पञ्चयज्ञान् सदा विप्रः कुरु यत्नपरो भव ॥ हरि० १०७६

जानता है कि ये उपासना कर रहे हैं। या यह समझते हो कि वह भी नहीं जानता? रहने दो उन्हें, अपनी रीति से उपासना करने दो! तुम वास्तव में अज्ञानी होकर ज्ञानी होने का दम भरते हो? तुम नहीं जानते कि शास्त्र के अनुसार आश्रम एक नहीं चार होते हैं। इनमें जिसका ये महात्मा अनुष्ठान कर रहे हैं, यह चौथा संन्यास-आश्रम शास्त्र में सबसे श्रेष्ठ माना गया है। इस आश्रम में रहने वाले महान् पुण्यात्मा कहलाते हैं। तुम अज्ञानी हो जो यह कहते हो कि यह कौन-सा आश्रम है। तुम्हें पता ही नहीं; यह है संन्यास-आश्रम और इसका शास्त्र में बड़ा महत्त्व है।”

यह सुन हंस और डिम्भक चिढ़कर बोले—“तू चुप रह! बड़ा आया समझाने वाला! जिसे हम नहीं जानते, उसे यह जानता है! बन्द कर अपना यह उपदेश, किसी और को दे! हमने बहुत सुन लिया। और ओ बूढ़े बाबा! हमने जो तुम्हें कहा, उसका तुम पर कुछ असर हुआ या दूसरी तरह समझायें?”

हंस और डिम्भक को यों कहते देख दुर्वासा को अपना पुराना क्रोध एक बार फिर याद आ गया। वे क्रोध से उन दोनों की ओर देखने लगे। दुर्वासा देर बाद आज फिर अपने उस असली रूप में आ गए। चंचल मन ने उन्हें फिर वही क्रोधी दुर्वासा बना देना चाहा, परन्तु उनकी शुद्ध बुद्धि ने उनके क्रोध को भट दबा दिया। सोचा—अब मैं संन्यासी हूँ, मुझे क्रोध नहीं करना चाहिए। अतः केवल इतना बोले—“राजाओ! क्यों काल का ग्रास बनना चाह रहे हो? यहाँ से चले जाओ!” पर हंस-डिम्भक वहाँ से टस से मस नहीं हुए और बार-बार वही कहते रहे। यह देख दुर्वासा बोले—“अच्छा नहीं जाते तो लो, मैं ही यहाँ से चला जाता हूँ।” यों कहकर उठे और जाने लगे^१, तब हंस उनको रोकने का प्रयत्न करने लगा, उसने उनकी भुजा पकड़ ली^२,

१ ततः उत्थाय धर्मात्मा मन्तुमैच्छद्यतीश्वरः ।

२ ततो निपेदुं हंसस्तं यतते स्म यतीश्वरम् ॥८

तस्य बाहु समादाय हंसो नृपवरोत्तमः ।

और कौपीन फाड़ डाली ।^१ तब समस्त साधु-मण्डली घबराकर भागने लगी । कुछ कहते—“हा ! हा !! बड़े कष्ट की बात है ! न उन्हें यह कोई समझाने वाला है और न ही हमें इनसे बचाने वाला ही ।” हंस को ऐसा करते देख जनार्दन ने फिर उन्हें मना किया । “अरे, क्या करते हो ? ऐसा क्यों करते हो ?”

दुर्वासा उनको नष्ट कर सकते थे, पर कहने लगे—“अरे, मुझमें शक्ति तो है, पर अब मैं उसका उपयोग न करूँगा । क्योंकि संन्यास धर्म की मर्यादा मुझे इससे रोक रही है । तुम लोग इस अपने कृत्य को धर्म समझकर, धर्म के विरुद्ध काम कर रहे हो । यह तुम्हें कैसे समझाऊँ !” यह सुन वे दोनों दुष्ट आगबबूला हो गए । फिर हंस और डिम्भक ने उन भागते हुए संन्यासियों के छिक्के, दण्ड, कमण्डलु आदि सभी तोड़-फोड़ डाले^२ और उन्हें चिढ़ाने तथा उनका अपमान करने के लिए उस पवित्र आश्रम की तपोभूमि में शिकारियों को मांस पकाने का आदेश दिया ।^३ यह देख वे सभी संन्यासी और भी दुःखी हुए और उस स्थान को छोड़ दूर भाग गए । इधर मांस पक जाने पर भोजन कर, हंस और डिम्भक तथा उनके अनुचर भी वहाँ से नगर को चल पड़े ।^४ हंस और डिम्भक को इस बात पर हर्ष तथा अभिमान था कि उन्होंने दूसरे के उपासना-स्थान को नष्ट-भ्रष्ट कर बड़े गौरव का काम किया है । यह सब होने पर भी दुर्वासा चुपचाप यह सब सहते रहे । तब उनके साथियों ने उनसे कहा—“आप देखते नहीं, इन दुष्ट राजकुमारों ने शस्त्र तथा सेना के घमण्ड में हमें हमारे धर्म से गिरा, बलपूर्वक अपने धर्म में लाने का यह दुस्साहस किया है । यह उनका कितना निन्द्य, जघन्य तथा कुत्सित कृत्य है ! दूसरों के धर्म

१ चिच्छेद क्रूरः कौपीनं कृतान्त इव चाधमः ॥ हरि० भ० १०८।६

२ शिक्यं कमण्डलुं चैव द्विदलं दारुमेव च ॥ १०९।१

दण्डपात्रान् विशेषञ्च छित्त्वा भित्त्वा च सर्वशः ।

३ तस्मिन् देशे महाराज ! व्याधैर्मान्यादीदहन् ॥ २

४ भक्षयित्वा ततो देशात् स्वपुरी तौ जगाम ह ॥ हरि० भ० १०९।३

पर डाका डालकर धर्म के नाम को बदनाम करने वाले इन दुष्टों को अवश्य दण्ड मिलना चाहिए। हमारा कुछ नहीं, हम मर भी जाते तो भी क्या था ! पर हमारी यह सहिष्णुता इन अत्याचारियों के अत्याचार बढ़ाने में और अधिक सहायक बनेगी। ये अपनी ही मान्यता को सच्चा समझ कर दूसरे धर्मों पर चलने वालों पर अत्याचार करने वाले मानव के विचार-स्वातन्त्र्य के अपहारक और मानवता के शत्रु हैं। प्रभो ! यदि आप इन्हें दण्ड नहीं देते, तो जिस देश में यह अत्याचार हुआ है, उसके राजा से कहें। उसका तो यह कर्तव्य है कि वह इन अत्याचारियों को दण्ड दे।” यह सुन दुर्वासा हँस कर कहने लगे—“किस राजा को कहूँ ? ये ही तो यहाँ के राजा हैं !” यह सुन सब संन्यासियों ने कहा—“ये ही राजा हैं, तो क्या हुआ ! श्रीकृष्ण के पास चलें, जिन्होंने यह कह रखा है कि मेरा जन्म पापी तथा अत्याचारियों से धार्मिकों को बचाने के लिए हुआ है। वह हमारे पर होने वाले इस अन्याय के बर्ताव का इन दुष्टों को दण्ड दें।” इसके अनन्तर दुर्वासा जी को साथ ले वे सभी संन्यासी पुष्कर से यह कहते हुए कि ‘वही कृष्ण धर्म-रक्षा के लिए हमारी रक्षा करें’—द्वारका को चल पड़े। सभी ने अपने टूटे दण्ड-कमण्डल श्रीकृष्ण को दिखाने के लिए अपने साथ ले लिये। उन्हीं टूटे-फूटे दण्ड-कमण्डलों को हाथों में लिये जब वे सब द्वारका में श्रीकृष्णजी की राज-सभा में पहुँचे, तो उन संन्यासियों को देख सभा के सभी सदस्य खड़े हो गए। भगवान् ने सबका स्वागत किया। जब श्रीकृष्णजी ने उन ऋषियों से वहाँ आने का कारण पूछा, तो उन्होंने हंस तथा डिम्भक के अत्याचार की कथा भगवान् श्रीकृष्ण को सुना दी। उसे सुन श्रीकृष्ण बोले—“मैं हंस और डिम्भक को इस अत्याचार का दण्ड देने के लिए शीघ्र ही उन पर चढ़ाई कर उन पापियों का वध करूँगा।”

कहते हैं, जब साँप की मौत आती है तो वह चौराहे पर आ

बैठता है । यही दशा हंस और डिम्भक की हुई । उन्होंने घर पहुँचते ही एक ब्राह्मण से कहा—“हम राजसूय यज्ञ करने के लिए दिग्विजय करना चाहते हैं । सुनते हैं, भीष्म तथा कृष्ण की सम्मति से यह यज्ञ युधिष्ठिर ने भी किया था । भीष्म तो बूढ़ा है उसे रहने दो, तुम इसी समय द्वारका जा हमारी यह आज्ञा कृष्ण को सुनाओ कि इस कार्य में उसका देर करना अक्षम्य अपराध समझा जायगा । वह वहाँ से बहुमूल्य भेंट भी साथ लेता आये । और साथ ही प्रचुर मात्रा में द्वारका के समुद्र से बना लवण भी लाये ।” ब्राह्मण ने जब द्वारका जाकर भगवान् को यह संदेशा दिया तो उन्होंने उत्तर में कहा—“हंस-डिम्भक को कहना हम भेंट नहीं, शस्त्र लेकर आ रहे हैं । वे तैयार रहें !”

युद्ध पुष्कर पर शुरू हुआ । वे बड़ी डींग मारने वाले कुछ देर लड़ने के बाद भाग निकले । भागते हुआ का पीछा कृष्णजी ने किया । कुछ कहते हैं, हंस कृष्ण के शस्त्र-प्रहार से मारा गया और कुछ का कहना है कि उस पापी को अजगर निगल गया । उसे मरा सुन डिम्भक भागा-भागा आया और यह जानकर हंस कृष्ण के शस्त्र-प्रहार से यमुना में गिर गया है, उसने यमुना के अथाह जल में छलाँग लगा दी और उसी अथाह जल में गोते लगाता-खाता मर गया । कहते हैं ये दोनों ही अपने पाप के कारण अपगत मरे । हंस रण से भागकर मरा, तब अपगत गया । उसे साँप ने काटा तो भी उसकी दुर्मृत्यु हुई । और डिम्भक मरा तो वह भी डूब मरने से अपगत गया । इस प्रकार धर्म के नाम पर अत्याचार करने वाले इन दोनों की ही दुर्गति हुई । इस लिए धर्म में सहिष्णुता और उदारता बरतनी चाहिए; संकीर्णता, लड़ाई या मारकाट नहीं करनी चाहिए ।

[हरिवंशपुराण, विष्णुपर्व, अ० १०६]

साम्प्रदायिक विद्वेष में विदेशी हाथ

प्रतर्दन एक बड़ा धार्मिक नरेश था। उसका राज्य दूर-दूर तक फैला हुआ था। वह सभी धर्मों का संरक्षक था। उसके राज्य में सभी अपने-अपने धर्म का पालन करते थे, कोई पर-धर्म से विद्वेष न करता था। प्रतर्दन के राज्य में कोई पाखण्डी न था। एक बार वह अपनी राजधानी से भ्रमणार्थ बाहर गया। नगर से कुछ दूर पर एक व्यक्ति को धर्म-विरुद्ध प्रचार करते देख, वह बड़ा हैरान हुआ। राजा ने उससे पूछा—“तू कौन है ? कहाँ से आया है ? कहाँ जा रहा है ? क्या करना चाहता है और किस जाति का है ?”^१

उस व्यक्ति ने कहा—“राजन्, मैं शान्तिप्रिय, शीलव्रत का पालन करने वाला, साधु के वेष में एक व्यापारी हूँ। मैं अकेला नहीं, मेरे और भी अनुयायी व्यापारी यहाँ हैं।” तब राजा ने पूछा—“तेरा वह कौन-सा धर्म है और उसमें क्या विशेषता है ?”^२ साधु ने उत्तर दिया—“अहिंसा मेरा सबसे बड़ा धर्म है और अपने अन्तःकरण पर नियन्त्रण पाने को ही मैं धर्म का सबसे बड़ा तत्त्व मानता हूँ।”^३ राजा बोला—“तो फिर तुमने चोरी से प्रचार करने का मार्ग क्यों अपनाया है, प्रकट रूप से अपना प्रचार क्यों नहीं करते ?”^४

१ द्रष्टः कस्त्वं कुतो यातः किं कार्यं च तवेप्सितम् ।

कुत्र यास्यसि तत्सर्वं किं जातीयो भवान् वद ॥२१॥

२ राजन् ! वणिगहं शान्तो यतिः शीलव्रते स्थितः ।

मदीयाञ्चलसंलग्नाः सन्त्यत्र वणिजः परे ॥२२॥

३ को धर्मः किनु तत्रत्वं ज्ञायते केन वक्ति कः ।

४ अहिंसा परमो धर्मस्तत्तत्त्वं यत्तनोर्दमः ॥२३॥

५ अयं पन्थः कथं प्राप्तः कस्मान्न प्रकटो भवान् ॥ सौरपु०, अ० ३६।२४

साधु ने कहा—“मैं वेद और ईश्वर को नहीं मानता, न मुझे आत्मा की नित्यता पर ही विश्वास है; परन्तु इस देश में वेदवेदाङ्ग-वेत्ता याज्ञिक, वैष्णव तथा शैवों का बहुत बड़ा प्रभाव है। उन्हीं के भय से मैं प्रकट रूप से उन धर्मों के विरुद्ध कहकर छिपे-छिपे अपना मैदान तैयार कर रहा हूँ।” यह सुन आस्तिक राजा के मन में बड़ी चिन्ता तथा महान् दुःख हुआ। उसने मन में कहा—‘मेरे राजा होने को धिक्कार है। मेरी मूर्खता के कारण मेरे ही नगर में वेद के विरुद्ध प्रचार हो रहा है जो साम्प्रदायिक तनाव उत्पन्न कर देश के ऐक्य को भंग करेगा और अनेक उपद्रवों का कारण होगा। यदि मैं साम्प्रदायिक विद्वेष फैलाने वाले इस पापी को मार दूँ तो इसे नेता मानने-वाली मेरी प्रजा ही यह कहने लगेगी कि मूर्ख राजा ने एक शान्तात्मा को मार डाला।’ पर इसे मार देने से भी अब क्या होगा? इसके प्रचार से इस जैसे विचार के और कई व्यक्ति देश में हो गए होंगे।* और यदि इसे कुछ न कहूँ तो ‘दया’ शब्द की आड़ में यह यहाँ अधर्म प्रचार करेगा। साम्प्रदायिक विद्वेष फैलायेगा, उपद्रव मचा-येगा।* उस समय वेद का विरोध कर धर्म के नाम पर उपद्रव मचाने-वाली उस उच्छृङ्खल प्रजा पर शासन नहीं हो सकेगा।* राजा का प्रधान कर्तव्य प्रजा की रक्षा करना है। जो राजा अपने देश में शान्ति तथा सुरक्षा का प्रबन्ध नहीं कर सकता, मनु के मत से वह पाप का

१ वेदवेदाङ्गवेत्तारो याज्ञिकाः वैष्णवा द्विजाः ।

माहेश्वराः महापूज्या न व्यक्तोऽहं भयान्नृप ॥२४

२ ततो राजा परां चिन्तां प्राप्तो दुःखितमानसः ।

धिग्राज्यं मम दुर्बुद्धेर्वेदबाह्योऽस्ति मत्पुरे ॥२६

३ एतं हन्मि यदा पापं तदेतन्मानिनी प्रजा ।

कथयिष्यति शान्तात्मा हतो राजा कुबुद्धिना ॥२७

४ एतस्मिन्निहते किं स्याद्भवन्ति बहवस्तथा ॥२८

५ दया शब्दं पुरस्कृत्य ह्यधर्मो विचरिष्यति ॥२८

६ वेदबाह्याः प्रजा राजा शासितुं नैव शक्यते ॥ सौर पु० ३८

भागी बनता है। फिर मैं पाप का भागी क्यों बनूँ !^१ यह सोच वह राज्य छोड़ तपस्या करने चला गया।^२ प्रजा में यह बात एकदम फैल गई। उसके इस राज्य-त्याग का प्रजा पर अद्भुत प्रभाव पड़ा। जिन के मनो में राजसी-तामसी भावों के उत्पन्न होने के कारण विवाद, कलह तथा मार-धाड़ की हिंसक वृत्तियाँ जाग्रत हुई थीं, वे एकदम शान्त हो गईं। सब के मन में सात्त्विक भावों का उदय हुआ। प्रजा का मन बदल गया। पौराणिक भाषा में कहें तो—जन-मन के अधिष्ठातृ देव ब्रह्माजी ने राजा से कहा^३—“तुम राज्य छोड़कर क्यों चले आये हो ? मैं तुम्हारे त्याग तथा तपस्या से बड़ा प्रसन्न हूँ। मुझ से कोई वर माँगो !”^४

राजा ने विनय की—“देव ! मुझे और कुछ नहीं चाहिए। मैं केवल यह चाहता हूँ—कि इस समय तक मेरे देश में वैष्णव, शैव तथा अन्यान्य सम्प्रदायों के सभी लोग वेद को मानने वाले हैं। इन्हें वेद पर शंका न हो ! वे धर्म को विवाद का विषय बनाकर परस्पर के द्वेष से देश को कलह का अखाड़ा न बनायें। देश-कण्टक, जो अपने सम्पर्क-मात्र से दूसरों को दुःख देते हैं, वे देश में उत्पन्न न हों। देश में भीतरी तथा बाहरी शत्रु का भय न हो। मेरी प्रजा में सदा सुख तथा शान्ति रहे !”

ब्रह्माजी बोले—“जैसा तुम चाहते हो वही होगा।” इसके बाद उस राज्य में सभी लोग पूर्ववत् अपने-अपने धर्म का पालन करते हुए दूसरों के धर्मों को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते लगे,^५ कोई किसी के धर्म को बुरा न कहता था। देश के सभी सम्प्रदाय प्रसन्न और सुखी थे। ब्रह्मज्ञानी, याज्ञिक, शैवों के अनेक अवान्तर भेद, वैष्णव

१ तदा तत्पापभागी स्यादित्याह भगवान् मनुः ॥२६

२ त्यक्त्वा राज्यं तपस्तेपे ततो राजा प्रतर्दनः ।

३ ततः कतिपयाहोभि ब्रह्मा प्रत्यक्षतां गतः ॥ ३०

४ कथं त्वं खिद्यसे चित्ते राज्यं त्यक्तं कुतस्त्वया ॥ ३०

५ ततः प्रभृति तद्राज्ये सर्वो धर्मो व्यवस्थितः ॥ सौर पु० ३८।३६

आदि सभी सम्प्रदाय परस्पर बड़े प्रेम से रहते थे ।^१ विष्णु-भक्त नित्य नये उत्सव मनाते थे ।^२ शिव-पूजा घर-घर में होती थी । सभी देवों का सभी मान करते थे ।^३ कोई मनुष्य किसी के इष्ट से द्वेष न करता था । सभी तुलसी से हरि की और बिल्व-पत्र से हर की पूजा करते थे ।^४

सभी का यह विश्वास था कि धर्मों के भिन्न-भिन्न पथ होने पर भी सबका प्राप्य एक ही है । जिस रास्ते मैं जा रहा हूँ उससे जो नहीं जा रहे, वे ठीक नहीं, ऐसा कहना ठीक नहीं । इसलिए वहाँ किसी में साम्प्रदायिक द्वेष न रहा ।

इस प्रकार सदाचार तथा ऐक्य से रहने के कारण देश में सुख था, शान्ति थी । इस राज्य के म्लेच्छ, दैत्य, दानव और पापी भी शुभाचरण से स्वर्ग-सुख पाने लगे थे ।^५

भारत की इस सुख-समृद्धि को कुछ विदेशी सहन न कर सके । उन्हें इससे अपनी हानि की आशंका हुई । वे भारत की इस सद्वृत्ति को, जिसके कारण वह स्वर्ग-सुख का उपभोग कर रहा था, मिटाने के मसूबे बाँधने लगे । तब वहाँ की सरकार के सर्वश्रेष्ठ राजनीतिज्ञ बृहस्पति ने उन्हें सलाह दी कि इस समय भारत में शैव अधिक हैं । इसलिए किसी चतुर व्यक्ति को कपट करने के लिए भारत भेजा जाय ।^६ वहाँ वह कपटी वैष्णव का वेष बना उन वैष्णवों की भाँति शरीर पर शंख-चक्र आदि के चिह्न धारण कर, गले में तुलसी की

१ शैवा नानाविधाः पुण्या वैष्णवाः शुभलक्षणाः ॥३७

२ उत्सवा विष्णुभक्तानां शिवपूजा गृहे गृहे ।

३ सर्वे देवान् मानयन्ति न कंचिद् द्वेष्टि मानवः ॥३६

४ सर्वत्र तुलसीवन्दे सर्वत्र हरिपूजनम् ।

विल्वपत्रैस्तु सर्वत्र पूज्यते गिरिजापतिः ॥ ४४

५ एवं बहुतिथे काले गते ये दैत्य-दानवाः ।

पापिष्ठा हीनकर्माणो म्लेच्छास्तेऽपि दिवं गताः ॥४२

६ देवः कश्चिद्यदि भवेत्कपटी वैष्णवः स्वयम् ॥ सौर पु०, अ० ३८

माला पहन, ऊर्ध्व पुण्ड्र लगा बैठते-उठते, चलते-फिरते दिखावे के लिए हरि-नाम का जप किया करे ।' जिससे लोग उसे महात्मा मानने लगें । फिर वह परमेश्वर का भय मन से भुलाकर लोगों में सभी देवों की निन्दा करे और शिव के विषय में वैष्णवों में द्वेष फैलाये ।^१ उसके उकसाने से कुछ लोग शिव की निन्दा करने लगे, तब समझो वहाँ फूट पड़ गई ।^२ इस पाप से वे क्या उनके पितर भी नरक में पड़ जायेंगे । यह उपाय तो ढूँढ़ निकाला गया, पर वहाँ का कोई व्यक्ति ऐसा पाप-कर्म करने के लिए भारत आने को तैयार न हुआ । विवश हो वहाँ के राजा ने अपने अधीन देश से एक बड़े मायावी किन्नर को इस काम के लिए बुलाकर कहा—किन्नर, तू भारतीय लोगों को धोखा देने के लिए, वैष्णव का वेष बनाकर भारत जा ।^३ वहाँ जाकर वहाँ के सभी लोगों को कह, कि शिव कोई बड़ा देवता नहीं, सबसे बड़े तो विष्णु हैं । इनके सिवाय और किसी देव की उपासना नहीं करनी चाहिए ।^४ पहले वहाँ लोगों में गुप्त रूप से प्रचार कर उन्हें इस मार्ग पर लाना; फिर शनैः-शनैः लोग अपने-आप ही इस पर तर्क-वितर्क कर परस्पर भगड़ेंगे । वे सभी वेद पर विश्वास करते हैं, इसलिए तुम सब को यही कहो, कि मैं^५ वेद को ही सबसे बड़ा प्रमाण मानता हूँ और उसमें

१ शङ्खचक्राङ्किततनुः स्तुलसीकाष्ठभूषितः ।

ऊर्ध्वपुण्ड्रं च विभ्राणो हरिनामाक्षरं जपन् ॥

२ देवतामात्रनिन्दी च अकृत्वा मतिमीश्वरे ।

शिवद्वेष्टा महापापप्रेरकः शिवनिन्दकः ॥६१

३ दम्भेन यदि तद्राज्ये शिवनिन्दा कृता भवेत् ॥ ६४

४ याहि किन्नर मायावी भूत्वा त्वं वैष्णवो भुवम् ॥६७

तत्र गत्वा जनान्सर्वान् ब्रूहि कोऽस्ति शिवो महान् ।

एक एव महाविष्णुर्नान्यो ध्येयः कथंचन ॥६८

५ पूर्वं प्रच्छन्नरूपेण स्थित्वा मार्गं प्रदर्शय ।

शनैः शनैर्जना एवं भविष्यन्ति च हेतुकाः ॥६९

६ वेदः प्रमाणमित्येव वदितव्यं त्वया सदा ।

यास्त्वेको महाविष्णु शिवस्तस्य च किकरः ॥ सौरपु० ३८।७०

विष्णु को ही पूज्य माना गया है। इस प्रकार से बलपूर्वक भेजा हुआ वह किंनर जाति का गुप्तचर डरता-डरता शनैः-शनैः भारत पहुँचा।^१ यहाँ आकर उस ढोंगी ने दम्भ कर अपना ऐसा रूप बनाया जिसे देख सभी उसे महात्मा मानने लगे।^२ वह वैष्णवों के सभी चिह्न धारण कर राजा प्रतर्दन के नगर में घूमने लगा।^३ वह पहले लोगों को अपना शिष्य बनाता,^४ फिर बाद में उन्हें यह सिखलाता कि शिव मान्य नहीं, उसे मत मानो। कहीं कहता—शिव का ध्यान न करना चाहिए; कहीं कहता—शिव कोई मुख्य देवता नहीं; कहीं कहता—शिव एक उत्कृष्ट जीव होने से महापुरुष हैं; कहीं कहता—शिव तो विष्णु का सेवक है। इस प्रकार अनेक प्रकार की बातें कह-कहकर उसने लोगों की बुद्धियों में भेद उत्पन्न कर दिया।^५ फिर एक बार वह अपने अनेक शिष्यों^६ से घिरा हुआ राज-मन्दिर में भी जा पहुँचा। वहाँ जा, उसने राजा^७ के मुख्य लोगों को भी अपने वाग्जाल में फँसा अपने कर्तव्य से विमुख कर दिया। अब उस साम्प्रदायिक द्वेष फैलाने वाले के विरुद्ध उस नगर में कोई न रहा। सभी लोग उसे विष्णुभक्त, महाशान्त, वेदवेदाङ्गों का पारदर्शी पण्डित मान, अनेक प्रकार की भेंटें चढ़ाने लगे।^८ तब उसके पास बहुत-से घोड़े, रथ तथा अनेक प्रकार का धन हो गया।

१ प्रेरितोऽसौ बलात्तेन भीतोऽगच्छच्छनैः शनैः ।

२ दाम्भिकं रूपमास्थाय यथा साधु वदेज्जनः ॥७१

३ सर्ववैष्णवचिह्नानि धृत्वा भ्राम्यति तत्पुरे ।

४ शिष्यान् करोति तान् पूर्वं वदेन्मान्यो न शंकरः ॥७२

५ क्वचिद्वदति न ध्येयो न मुख्य इति च क्वचित् ।

क्वचिदुत्कृष्टजीवोऽयं क्वचिच्छ्रीविष्णुर्गिकरः ॥७३

इति नानाविधा बुद्धिर्नराणां भेदिता यदा ।

६ तदा शिष्यैः परिवृतो राजगेहं विशत्यपि ॥७४

७ चालितो राजलोकोऽपि विरुद्धं नैव दृश्यते ।

८ विष्णुभक्तो महान् शान्तो वेदवेदाङ्गपारवान् ॥७५

उसके इस गुप्त पाप को कि यह विदेशी जासूस दो बड़े सम्प्रदायों में फूट डलवाने के लिए यहाँ आया हुआ है, कोई न जानता था ।^१

एक बार एकादशी का व्रत कर बहुत-से लोग प्रातः मन्दिर में विष्णु भगवान् को नमस्कार करने गये ।^२ वहाँ वह वैष्णव-वेषधारी किन्नर भी अपने शिष्यों के साथ बड़ी शान से बैठा था । उसकी वहाँ आज प्रधानता थी । उस विष्णु-मन्दिर में प्राचीन परिपाटी के अनुसार वैष्णव तथा शैव दोनों सम्प्रदाय के लोग विष्णु भगवान् के दर्शन के लिए आ रहे थे । परन्तु आने वाले लोगों में जिन्होंने मस्तक पर भस्म धारण किया होता उन्हें वह बनावटी वैष्णव (वैष्णवाभास) उपेक्षा की दृष्टि से देखता था । इतने में राजा प्रतर्दन भी देव-योग से उस मन्दिर में दैव-दर्शनार्थ आ गया ।^३ उसके साथ बहुत-से अन्य लोग थे । अनेक कर्मकाण्डी, याज्ञिक हाथों में कुशा लिये हुए थे, शैव त्रिपुण्ड्र तथा वैष्णव उर्ध्वपुण्ड्र लगाये हुए थे वहाँ कोई शिवसूक्त पढ़ रहा था तो दूसरा विष्णुसूक्त का पाठ कर रहा था । इस प्रकार अनेक ब्राह्मणों के साथ राजा ने मन्दिर में प्रवेश किया । प्रवेश करते ही उसकी दृष्टि उस वैष्णवाभास पर पड़ी । उसे देख राजा ने कहा—“आप विष्णु-भक्तों के वेश में वेदपाठ करते हुए साक्षात् विष्णुभगवान् के पार्षद यहाँ पधारे हैं । मैं आपका सम्मान करता हूँ ।” यह सुन उस दम्भी ने राजा को यों कहना आरम्भ किया—“राजन् ! वेद ही परम श्रेय का साधन है, वेद

१ उपायनान्यनेकानि ह्याश्चास्यन्दनान् वसु ।

लोकाः सर्वे ददत्येव गुप्तपापं न दृश्यते ॥७६

२ जनाः प्रातश्चक्रपाणि नमस्कर्तुं गताः शुभाः ।

न कंचिन्मन्यते विप्रं यो भस्माङ्कितभालवान् ॥ ७८

३ एतस्मिन्नन्तरे राजा प्राप्तवान् श्रीप्रतर्दनः ।

वृतो बहुविधै विप्रैः कुशहस्तैः शुचिव्रतैः ॥८१

त्रिपुण्ड्रधारिणः केचिदूर्ध्वपुण्ड्रधरास्तथा ।

पठन्तः शिवसूक्तानि विष्णुसूक्तानि चापरे ॥सौर ३८।८२

से बढ़कर कोई प्रमाण नहीं और वेद विष्णु का काव्य है ।^१ परन्तु वेद का अर्थ करने में बहुत-से लोग भूल रहे हैं ।^२ कोई वेद को मानकर भी शिव-पूजा में लगे हुए हैं और कोई अन्य-अन्य देवों की उपासना कर रहे हैं ।^३ परन्तु वेद का सार तो यही है कि मनुष्य केवल एक विष्णु की ही उपासना करे, दूसरे किसी देवता का ध्यान न करे ।^४ फिर और देवों की उपासना से क्या लाभ ?^५ यों कह फिर उसने भरपेट शंकर की निन्दा करते हुए कहा—“राजन् ! तेरे साथ जो ये ऊर्ध्व पुण्ड्र धारण करने वाले मंगलमय ब्राह्मण हैं, इन्हें देख हमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है ।^६ परन्तु ये जो त्रिपुण्ड्र किये रुद्राक्ष पहने शिवसूक्त का पाठ कर रहे हैं, इन्हें देख तो हम पर बिजली-सी गिर गई है ।^७ भला हाथ में कुशा लेने से क्या लाभ ? रुद्राक्ष तथा भस्म धारण का क्या फायदा ?^८ वह रुद्र कौन है ? वेद में कहाँ है ? अरे ! वेद का तो आदेश है कि लोग केवल विष्णु की ही आराधना करें और किसी देव का कभी कोई ध्यान न करे ।”^९

यह सुन राजा ने कहा—“वेद में तो विष्णु से भी अधिक शिव-पूजा का विस्तार से वर्णन है फिर वह शिव पूज्य क्यों नहीं है ?^{१०} शास्त्र

१ वेद एव परं श्रेयो वेदार्थादधिकं नहि ॥८३

प्रमाणं वेद एवैको विष्णु वाक्श्रुतिरेव च ।

२ राजन् ! वेदार्थविज्ञाने बहवो मोहिताः जनाः ॥ ८४

३ शिवपूजारताः सन्तो नाना देवप्रपूजकाः ॥८४

४ एको विष्णुर्न द्वितीयो ध्येयः कित्वितरैः पुरैः ॥८५

५ त्वदीया ब्राह्मणा एते ऊर्ध्वपुण्ड्राङ्किताः शुभाः ।

तान् दृष्ट्वा प्रीतिरत्यर्थं जायते नृपसत्तमः ॥८६

६ एते त्रिपुण्ड्रमाला ये कररुद्राक्षमालिनः ।

पठन्तः शिवसूक्तानि दृष्ट्वा वज्रं पतेद्विवः ॥८७

७ दर्भस्योपग्रहः कोऽयं किं वाम भस्माङ्गधारणम् ।

रुद्राक्षा का च को रुद्रः कानि सूक्तानि तस्य च ॥८८

विष्णोरेकः परो ध्येयो नान्यो देवः कदाचन ॥८९

८ अनादिना प्रमाणेन वेदेन प्रोच्यते शिवः ।

विष्णोरप्यधिको विप्र ! संपूज्यो न कथं भवेत् ॥ सौर पु० ३८।९१

शिव तथा विष्णु को एक ही मानते हैं, इसलिए शिव के विरुद्ध आपने जो कठोर वाक्य कहे हैं, वे मेरे मन पर बिजली की तरह गिरे हैं।” यह सुन उस बनावटी वैष्णव ने जब फिर और शिव-निन्दा की, तब राजा ने क्रोध में आकर कहा—“अरे ! तू तो मुझे कोई वैष्णवा-भास दिखायी देता है। तुझे वेद का अर्थ ही नहीं आता दीखता।”^२

यह कह राजा वहाँ से उठकर घर चला गया। उसने बहुत-से विद्वानों को बुला इस बात का निर्णय करना चाहा^३, परन्तु ब्राह्मणों में तो पापी कलि ने प्रवेश कर लिया था।^४ अतः कुछ पण्डित राजा का पक्ष ले, उसकी बात का समर्थन करने लगे तो दूसरे यह सोचकर कि इन पण्डितों की बात का खण्डन अवश्य करना चाहिए, अन्यथा राजा पर इनके पाण्डित्य का प्रभाव हमसे अधिक हो जायगा—इनका विरोध करने लगे।^५ एक-दूसरे का गौरव सह न सकने के कारण वे एक-दूसरे का खण्डन करने लगे।^६ कुछ सभा में आकर भी कुछ न बोले, चुप बैठे रहे।^७ कइयों ने ठीक-ठीक बात भी कही। कई कहने लगे—अरे भाई ! भगड़ने से क्या लाभ ? जो जैसा अपनी रुचि व श्रद्धा-भक्ति से मानता है, उसके लिए वही ठीक है।^८ इस प्रकार सभा में शोर तो बहुत मचा, पर निर्णय कोई न हो सका। परन्तु जनता पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। एक ही बात को शास्त्रानुसार एक धर्म तथा दूसरा पाप बतलाता है, यह जान अनेक लोगों का शास्त्र तथा

१ कठोरं वाक्यमेतत्ते भाति चेतसि मेऽशनिः ॥६२

२ त्वं वैष्णव इवाभासि वेदार्थं नैव वेत्सि रे ॥६५

३ चिन्तयित्वा ततो राजा विदुषो ब्राह्मणोत्तमान् ।

आहूय निर्णयं चास्य करिष्यामीति तत्त्वतः ॥६६

४ तावदेव कलिः पापो ब्राह्मणेषु विवेश ह ॥२६।१

५ कश्चित् राजानमाश्रित्य ब्रूते तादृशमेव हि ।

६ अन्योन्यामर्षयोगेण खण्डयन्ति परस्परम् ॥ सौरपु० ३६।२

७ मूकीभावाश्रिताः केचित्केचिद्यथार्थवादिनः ॥

८ यो यथावक्ति तत्तादृगित्थं केचिदथोचिरे ॥

उसके बतलाये ईश्वर पर से विश्वास जाता रहा ।^१ कुछ विष्णु से, कई शिव से द्वेष करने लगे । उस वैष्णवाभास (बनावटी वैष्णव) की फैलायी इस फूट का बहुत बुरा परिणाम हुआ । राजा^२ उस साधु को बेसमझ, हठी, तो समझने लगा, पर यह मायावी जासूस है, इसका उसे पता न चला । और लोगों में जो साम्प्रदायिक द्वेष को पुण्य मानने की भ्रान्ति फैल गई थी, इससे राजा को बड़ी चिन्ता होने लगी ।^३ इससे उस कलह के मूल कारण को राजा ने मरवा देने की सोची । पर फिर खयाल आया कि इसे मार देने से इसके पक्षपाती मुझे (राजा को) ब्रह्मघ्न कहेंगे ।

पर उस ढोंगी ने शैवों तथा वैष्णवों में परस्पर जो द्वेष फैला दिया था, उससे राज्य में अनेक स्थलों पर लड़ाई-भगड़े और मार-काट हुई । इन साम्प्रदायिक भगड़ों से जो रक्तपात हुआ, पौराणिक ढंग से उसे वहाँ इस प्रकार बतलाया गया है कि वैकुण्ठ में सोये कमलापति खून से लथपथ होकर चिल्ला उठे ।^४ वे बड़े दुःखी हुए कि मेरे भक्तों ने मेरे नाम पर लोगों से लड़कर बहुत अनर्थ किया है ।

भगड़ों के बाद जब उन धार्मिक दंगों की जाँच की गई, तो उनका कारण धर्म पर श्रद्धा न होकर किसी जाति का स्वार्थ निकला; और वह बड़ा वैष्णव कहलाने वाला विदेशी भेदिया सिद्ध हुआ । जिसके लिए एक विदेशी सरकार को अपने उस कृत्य के लिए महादेव से क्षमा माँगनी पड़ी ।^५ और उस कपटी किन्नर भेदिये को जिसके कारण अनेक

१ जाते लोके नास्तिकतां बहवः प्रतिपेदिरे ।

२ राजा वेत्ति महामूर्खं न तु मायाविनं द्विजम् ।

३ लोके च भ्रान्तिमापन्ने राजा चिन्तापरोऽभवत् ।

४ सुप्त आक्रन्दमकरोच्छोणितौघपरिप्लुतः ॥३६॥१०

५ तत्क्षमस्व महादेव ! किन्नरोऽयं प्रवर्तितः ।

कल्पितो वैष्णवोऽस्माभिस्तव निन्दापरायणः ॥

लोग दंगों में मारे गए थे, राजा^१ प्रतर्दन ने जासूसी के अपराध में मार डाला। तब प्रजा की भी समझ में आया कि हम में साम्प्रदायिक आग भड़काने वाला वैष्णव नहीं, वरन् एक किन्नर भेदिया था।^२

[सौरपुराण, अ० ३८]

Ramakrishna Mission Library
Muniganj, Allahabad.

Class No. 20

Book No. २-८१ Vol.

Accession No. 13612

१ एतस्मिन्नेव काले तु राजा वृत्तान्तमेयिवान्।

तीव्रखड्गं समादाय हतवान् किन्नरं क्रुधा ॥ सौरपु०, अ० ३६।३१

२ किन्नर=कुत्सित नर।

धर्म की देन

(१) संगिर नाम का एक ब्राह्मण तर्कशास्त्र का बड़ा भारी विद्वान् था, परन्तु पूर्व-जन्म के पापों के कारण उसे वेद-शास्त्र पर कोई श्रद्धा न थी।^१ वह अतीन्द्रिय ब्रह्म तथा धर्माधर्म को बिना परिश्रम किये केवल तर्क से जानना चाहता था।^२ जब तर्क से उसे उनका ज्ञान न हो सका, तो उसने ईश्वर और वेद दोनों को मानना छोड़ दिया; और स्वार्थ में पड़ मोहवश एक पाखण्डी सम्प्रदाय में सम्मिलित हो गया।^३ पर तर्क तो टिकाऊ होता नहीं, अब उसे एक नयी बात सूझी और वह इस सम्प्रदाय को छोड़कर उससे भी अधिक घोर मत का प्रचार करने लगा। अब वह सभी लोक-मर्यादाओं को तोड़ मनमानी करता और कहता, संसार में पाप कोई वस्तु नहीं।^४ माता वा बहिन से विवाह का निषेध किसी युक्ति से सिद्ध नहीं किया जा सकता।^५ इस प्रकार शिष्टाचार के विरुद्ध ऊटपटांग सिद्धान्तों को

- १ पूर्वजन्मकृतात्पापाद्वेदश्रद्धाविवर्जितः ॥११
- २ तर्कशास्त्ररतो वै स ब्रह्मातीन्द्रियमव्ययम् ।
धर्माधर्मौ च तर्केण केवलेन मुनीश्वरः ॥१२
अक्लेशेन परिज्ञातुमकरोद्यत्नमुत्तमम् ।
- ३ तेन मोहावृतः सद्य संगिरो मुनिपुङ्गवः ॥१३
चकार दीक्षां पाखण्डमार्गे श्रद्धापुरःसरम् ॥१४
- ४ पुनस्तर्कप्रतिष्ठानात्संगिरोऽतीव मोहितः ॥१५
चकार दीक्षां पाखण्डविशेषेषु यथारुचिः ॥
त्यक्त्वा पाखण्डमार्गं च चचार स यथारुचिः ॥१६
- ५ पुनर्मोहावृतः साक्षात्स्वसारं मातरं तथा ।
गत्वा ममार कालेन संगिरः साहसी द्विजः ॥ अ० १८
जात्या शूद्रो महाक्रुद्धो महासाहसिकोत्तमः ॥२
अभूत्तेन महामोहाद् ब्राह्मणानां शतं हतम् ।
गवां शतं हतं तेन दग्धं गेहशतं तथा ॥ सूतसंहिता ३

स्वीकार कर वह आप तो डूबा ही, साथ ही उसने अपने साथियों को भी भ्रान्त कर डुबो दिया।

(२) इधर इसी प्रान्त में दुर्घट नामक एक महाक्रोधी और बड़ा ही साहसी डाकू रहता था। यह शूद्र था। दुर्घट ने सैकड़ों ब्रह्महत्याएँ, अपहरण तथा गोवध किये थे और सैकड़ों ही घर जला कर लोगों को आश्रयहीन कर दिया था। इस क्रूर के मन में न तनिक दया थी और न ही ईश्वर का कोई भय था। दुर्घट राजा से डरता तो था, पर वह इतना चालाक और साहसी था कि पकड़ने वाली पुलिस की आँखों में धूल भोंक उससे बच निकलना उसके लिए सामान्य बात हो गई थी। उसे अपने प्राणों की ज़रा भी परवाह न थी, किसी कारण पुलिस से मुकाबला होने पर साहसपूर्वक अपनी जान पर खेल एक-आध को मार कर भाग जाया करता था। अतः पुलिस भी उससे डरती थी। देश में सर्वत्र उसकी चर्चा थी। सभी जगह उसका आतंक था, पर अपने देश के एक विगड़े मानव को प्रयत्न करने पर भी राजा न सुधार सका। एक दिन दुर्घट डाकू ने अपने प्रान्त के महाधनी संगिर ब्राह्मण के घर डाका डाला और संगिर को खम्भे से बाँध उसके सभी स्वर्ण-रत्नादि गठरी में बाँधने लगा। आयु-भर की कमाई यों पल में जाती देख, संगिर उसे धर्म की दुहाई देकर कहने लगा—भद्र, किसी का कुछ छीनना पाप है। वेदभगवान् कहते हैं—मा गृधः कस्यस्विद्धनम् (किसी की कोई वस्तु मत छीनो)। मेरे लिए कुछ तो रहने दो। पर डाकू कब सुनने वाला था, वह सब लेकर चम्पत हुआ।

जंगल में जाते उसने मार्ग में एक साधु को धूनी रमाये देखा। उसके पास जा दुर्घट ने उसके हाथ पर एक स्वर्णमुद्रा रखते हुए कहा, ले आज का दिन मौज से तू भी गुज़ार ले! साधु शिवयोगी बड़े तपस्वी थे, उन्होंने उससे हँसकर कहा—तू ऐसा कौन दानी है, जो बिना माँगे मुझे एक मोहर दे रहा है? डाकू ने बड़े दर्प में भरकर कहा—अरे, यह तो मुफ्त का माल है, इसमें मेरा लगा ही क्या है? मुझे तू नहीं पहचानता, फिर भी दुर्घट नाम तो तूने सुना ही होगा—मैं वही

प्रसिद्ध डाकू हूँ। शिवयोगी ने मुद्रा दूर फेंकते हुए कहा—ले जा अपनी मुद्रा; मुझे पाप की कमाई नहीं चाहिए। हट्टे-कट्टे आदमी ! रावण की तरह प्रसिद्धि पाने से क्या लाभ ? प्रसिद्धि पानी थी तो श्रीराम की तरह पाने का प्रयत्न करता ! भगवान् ने तुझे शक्ति, साहस, स्फूर्ति और चातुर्य इसलिए नहीं दिया था पापी कि तू अपनी शक्ति द्वारा मानव-रक्त से अपने हाथ रंगे और संसार से अपना मुँह काला करा कर यमलोक में जाय। जालिम, तेरी मृत्यु पर संसार सुख की साँस लेगा। तू यम के पास रोयेगा और यमदूत तेरी मूर्खता पर अट्टहास करेंगे।

दुर्घट बड़ा क्रोधी था। मनुष्य को मार देना उसके लिए जैसे नित्य की बात थी। पर पता नहीं, शिवयोगी के दर्शन कर उनके हाथ पर मुद्रा रखते ही उसकी बुद्धि एकदम कैसे बदल गई। वह शिवयोगी से धर्म की बातें शान्तिपूर्वक सुनता रहा और उनकी बात समाप्त होते ही उसे अपने डाकू-जीवन से महाघृणा हो गई और वह रो-रो कर अपने उद्धार का उपाय पूछने लगा। शिवयोगी बोले—तू ने शिव की प्रजा (संतान) का नाश कर मेरे शिव की हानि की है। अतः उसे प्रसन्न करने के लिए तू उसकी भक्ति कर। इसी से तेरा कल्याण होगा। और यह पाप की गठरी जो तेरे सिर पर बँधी है, जिसकी है उसे सौंपकर सभी धन गरीबों में बाँट तू व्याघ्रपुर में जाकर शिव की भक्ति कर। मेरे मत, तेरा अवश्य कल्याण होगा। दुर्घट ने कहा—यह धन जिसका है उसे मैं अभी लौटा दूँगा और शेष धन भी आपके आदेश के अनुसार गरीब पात्रों में बाँट दूँगा, पर शिवजी की भक्ति कैसे की जाती है—यह मैं बिल्कुल नहीं जानता। उसका आप मुझे उपदेश करने की कृपा करें। शिवयोगी ने कहा—आतुर मनुष्यों की रक्षा करना तथा जो लोग उनकी रक्षा करते हैं उन्हें सहायता देना

१ शिवयोगिकरे तेन सुवर्णनिष्कमुत्तमम्।

दत्तं तेन मतिस्तस्य जाता कालेन शोभना ॥४०

और अत्याचारी के भय से लोगों को बचाना—यही शिव की भक्ति है ।^१ सभी जीवों के दुःखों को दूर करने की मन में लगन होना, सबसे मीठा बोलना, सबकी भलाई करने का मन में दृढ़ विचार होना—यही शिव की साक्षात् भक्ति है ।^२ किसी के दोषों को न देखना, सभी के गुणों को देखना, सबसे मित्रता का व्यवहार करना—यही शास्त्र में शिव की भक्ति कही गई है ।^३ यह सुन शिवयोगी को प्रणाम कर दुर्घट संगिर का धन लौटाने उसके घर गया, वहाँ संगिर को उसका धन लौटा तथा लौटाने का कारण बताकर दुर्घट व्याघ्रपुर में अपना शेष धन लेकर चला गया । वहाँ उसने शिव-भक्ति करते हुए वह सभी धन परोपकार तथा सेवा के कार्यों में लगाया और स्वयं तन-मन-धन से सबकी सेवा करने लगा । इस प्रकार धर्म के उपदेश से उसकी काया-पलट देख सभी उसकी प्रशंसा करने लगे । दूर-दूर तक उसकी ख्याति फैल गई ।

इधर संगिर सोचने लगा—जो बात दुर्घट को राजा का भय न मनवा सका, उसे शिवयोगी ने धर्म का रहस्य समझा कर उसके मन पर ऐसा बिठा दिया कि जो स्त्रियों का अपहरण, चोरी तथा हत्या करने में ही बड़ी बहादुरी समझता था, वही अब पर-स्त्री को माता, परद्रव्य को मिट्टी का ढेला और सभी को अपना स्वरूप समझ कर सभी की भलाई तन-मन-धन से कर रहा है । कितनी शक्ति है धर्म में ! एकान्त में भी व्यक्ति को धर्म पाप से बचाता और परोपकार में लगाता है—यही मानव को धर्म की देन है ।

[सूतसंहिता, यक्षवैभव खण्ड, अ० १८, अ० २४]

१ आतुराणां नृणां रक्षा रक्षकाणां च रक्षणम् ।

भीतस्याभयदानं च शिवभक्तिः प्रकीर्तिता ॥२७॥३३

२ सर्वभूतेषु कारुण्यं प्रियभाषणमेव च ।

३ सर्वभूतहिते श्रद्धा साक्षाद्भक्ति शिवस्य तु ॥३४

सर्वभूतेषु दोषस्यादर्शनं गुणदर्शनम् ।

सर्वभूतेषु मैत्री च शिवभक्तिरुदीरिता ॥ सू० सं०, य० व०, २७॥३५

धर्म की भावना

आबू पर्वत के वन में आहुक नाम का एक भील रहता था । उसकी पत्नी को कोई आहुकी और कई आहुका कहते थे ।^१ पति-पत्नी दोनों शैव थे । नित्य शिवपूजन किया करते थे । कार्यवश एक दिन ये दोनों साथ के गाँव में गये । वहाँ कथा होती देख उसे सुनने बैठ गए । 'शिव की आराधना क्या है', इस प्रसङ्ग में कथावाचक व्यास कह रहे थे—“शिवभक्तों के सुनने की बात है, कृपया सभी ध्यान देकर शिव सिद्धान्त को सुनें ! लिखा है—जैसे किसी के पुत्रों व पौत्रों को, प्यार देकर खुश करने पर, उनका पिता वा दादा उस प्यार करने वाले पर प्रसन्न होता है, ठीक उसी प्रकार संसार के सभी लोगों से प्रेम करने वाले पर जगत्पिता महादेव बहुत प्रसन्न होते हैं ।^२ और जो कोई किसी से विरोध करता, उसे सताता, अकारण दवाता, किसी की आजीविका वा सुख में रोड़ा अटकाता है, उसे यह निश्चय समझ लेना चाहिए कि यह अनिष्ट उसने उस व्यक्ति का नहीं, साक्षात् शंकर का किया है ।^३ इसलिए लोगों को खतरों से बचाना, दूसरों के दुःख दूर कर उन्हें सुख पहुँचाना और सभी की भलाई करना—यही शिव की आराधना है ।”^४ कथा समाप्त होने पर अपना काम कर आहुक-आहुकी अपने घर लौट

१ (क) शि० ज्ञा० ६२।२६ तथा (ख) शि० श० द्र० २=१२ देखें ।

२ यथेह पुत्रपौत्रादेः प्रीत्या प्रीतो भवेत् पिता ।

तथा विश्वस्य संप्रीत्या प्रीतो भवति शंकरः ॥१५

३ क्रियते यस्य कस्याऽपि देहिनो यदि निग्रहः ।

अष्टमूर्तेरनिष्टं तत् कृतमेव न संशयः ॥ शिवपु०, शतरुद्रसं०, ३।१६

४ सर्वाभय - प्रदानं च सर्वानुग्रहणं तथा ।

सर्वोपकारकरणं शिवस्य आराधनं विदुः ॥ शिवपु०, उपमासं०, ४।३०

आए। जिस वन में वे रहते थे, वह बहुत भयंकर था और इनकी भोंपड़ी भी बहुत ही छोटी थी। फिर भी ये दोनों बहुत सुखी थे। आनन्द से खाते-पीते और मौज से रहते थे।

एक दिन आहुक आहार जुटाने के लिए वन में गया। आज उसे मनचाहे कन्द-मूल ढूँढ़ने में देरी हो गई। आहुका भोंपड़ी में बैठी उसकी प्रतीक्षा ही कर रही थी, कि इतने में स्वयं शंकर उस दम्पती की धर्म-परीक्षा करने भोंपड़ी के बाहर आ खड़े हुए। उन्होंने आहुका से कहा—“इस समय रात होने को है, अभी से सभी ओर हिंस्र जन्तु बोल रहे हैं, मैं मार्ग से भी अपरिचित हूँ और गाँव भी कोई समीप नहीं, इसलिए मुझे रात काटने को जगह मिल जाये तो प्रातः यहाँ से, जहाँ जाना है, चला जाऊँगा।”

आहुका स्त्री थी और अकेली भी। ज़रा भिन्नकी, फिर उसके मन में आया—‘मैं व्यर्थ सन्देह में पड़ इनके प्राणों को संकट में क्यों डालूँ!’ बोली—“पिताजी, आइये, बैठिये।”

इतने में ही आहुक घर आया। उसने साधु को देख उसका सम्मान-स्वागत किया। अतिथि का पूजन कर उसने पूछा—“महाराज ! कोई मेरे योग्य सेवा हो तो कहिये।” साधु ने डरे हुए की भाँति दीन स्वर से कहा—“भील ! तुम्हारा भला हो ! आज रात रहने के लिए थोड़ी जगह दे दो ! प्रातःकाल होते ही यहाँ से चला जाऊँगा।”

आहुक ने कहा—“आप यह सत्य कहते हैं कि रात हो चली है; पर मेरे पास जगह बहुत कम है, इसमें आपको कैसे ठहरा लूँ ?” यह सुन साधु ने उठकर चलने की तैयारी की। यह देख आहुका

१ एतस्मिन्नन्तरे तत्र गेहे भिल्लस्य शंकरः।

भूत्वा यतिवपुः सायं परीक्षार्थं समाययौ ॥शि०, श० ६० २८।५

२ तयाऽपि च पिता त्वं च ह्य कतश्च स्थिरतां गता ॥३१

३ पूजनं तस्य कृत्वा च ब्रूहि कार्यं प्रभो इति ॥शि०, ज्ञा० ६२।३२

४ अतिस्वल्पं स्थलं मे हि स्यान्निवासः कथं तव ॥६

५ इत्युक्तः स यतिस्तेन गमनाय मतिं दधे ॥१०

ने आहुक से कहा—“स्वामी ! साधु को रहने के लिए स्थान दीजिये, अतिथि को निराश मत कीजिये ?” घर में आये की रक्षा करना गृहस्थ का धर्म है । इसके चले जाने से हमारा धर्म भी चला जायगा । इस समय इसे यहाँ से निकालकर हम इसका बड़ा भारी अनिष्ट करेंगे ; पर वह अनिष्ट इसका नहीं, मेरे महादेव का होगा । और मैं शिव की भक्त हूँ ; अपने इष्ट का अनिष्ट कैसे करूँ ! पता नहीं, आप वह कैसे भूल गए । उस दिन कथा में व्यास ने कहा था—सबको अभयदान देना, दूसरों को दुःखों से बचाना, प्राणिमात्र का उपकार करना, यही शिव की पूजा है । मैं आज अपने शिव का पूजन करूँगी । आप दोनों कुटिया के अन्दर आराम से रहें । मैं शस्त्र लेकर कुटिया के बाहर बैठूँगी ।”^१ अपनी पत्नी से धर्म की बात सुनकर भील ने सोचा, ‘मैं पुरुष होकर डर से घर में छुपा हूँ और वह स्त्री होकर बाहर पंहरा दे, यह कैसे हो सकता है ! मैं पति हूँ । पत्नी की रक्षा करना मेरा कर्तव्य है... मैं गृहस्थ हूँ... अपने घर में आये शरणार्थी को रात के समय घर से निकाल मैं अधर्म कैसे करूँ ! इसलिए उचित यही है कि मेरी पत्नी और साधु दोनों कुटिया के अन्दर रहें और मैं कुटिया से बाहर रहूँ ।’ अपनी यह बात आहुक ने अपनी पत्नी को आग्रह करके बड़ी कठिनता से मनवायी । फिर आहुकी और साधु कुटिया के अन्दर रहे और आहुक धनुष-कटार आदि लेकर कुटिया के बाहर बैठ गया । रात में शंकर की माया से आहुकी तो अन्दर सो गई और बाहर आहुक को बहुत से हिंस्र जन्तुओं ने आ घेरा । उसने भरसक बचने का प्रयत्न किया, पर वह बच न सका, मारा गया । दिन निकलते ही साधु ने कुटिया से निकल कर देखा कि भील की हड्डियाँ बिखरी पड़ी हैं । आहुक मारा गया है । उसने आहुकी को दुःख-भरी आवाज से कहा—“हाय, बेचारा बचाने के लिए मारा गया ।”

१ स्वामिन् ! देहि यतेः स्थानं विमुखं कुरु माऽतिथिम् ॥११

२ स्थीयन्तां ते गृहाभ्यन्तः सुखिना यतिना सह ।

अहं बहिःस्थितिं कुर्व्यामायुधानि बहृत्यपि ॥शिवपु०, श० ६०, २८।१२

साधु को दुःखी देख आहुकी ने बड़े धैर्य से अपने दुःख को रोक कर कहा—“यतिवर ! आप इसका शोक क्यों करते हैं ? यह तो बहुत अच्छा हुआ । इसका यह जन्म सफल हो गया । यह धन्य है जो दूसरों को बचाने के लिए मरा है ।”^१

साधु ने कहा—“देवी ! इसे तो अब कोई दुःख नहीं ; पर तुम पर तो वज्रपात हो गया, जो दुःख भेलने के लिए अकेली रह गई हो ।” आहुकी बोली—“मेरी आप जरा भी चिन्ता न कीजिये । मैं अकेली नहीं रहूँगी, आग में जलकर अभी उनके साथ जा मिलूँगी । यही धर्म है ।”

साधु ने फिर कहा—“देवी ! भील ने मेरे लिए प्राण दिये, क्या मैं आपका कोई उपकार न कर सकूँगा ?” आहुकी ने उत्तर दिया—“यतिवर ! उन्होंने प्राण आपके लिए नहीं, धर्म के लिए दिये हैं । धर्म निष्काम भाव से किया जाता है ; वह किसी से अपने उपकार का बदला नहीं चाहता । हम गरीब किसी की क्या सेवा कर सकते हैं ! आपने हमें सेवा का सौभाग्य प्रदान किया यही आपका कोई कम उपकार नहीं । जिस शिव परमात्मा की सन्तान की रक्षा के लिए उन्होंने प्राण दिये हैं, वह शिव निश्चय ही आहुक पर प्रसन्न हुए हैं, यह उसके लिए कोई कम पुरस्कार नहीं ।”

यह सुनते ही यति शिव के रूप में प्रत्यक्ष होकर बोले—“मैं तुम दोनों पर बहुत ही प्रसन्न हूँ । तुम गरीब क्यों हो, तुम अगले जन्म में निषध देश के राजा-रानी बनोगे । तुम्हारा नाम नल और दमयन्ती होगा ।”^४

[शिवपुराण, शतरुद्रसंहिता, अ० (३७) ख]

१ धैर्यात् स्वदुःखं संहृत्य वचनं चेदमब्रवीत् ।

किमर्थं क्रियते दुःखं भद्र जातं यतेऽधुना ।

धन्योऽयं कृतकृत्यश्च यज्जातो मृत्युरीदृशः ॥२१

२ अहं चैनं गमिष्यामि भस्मीभूत्वाऽनले यते ॥२२

३ एतस्मिन्नन्तरे साक्षात् पुरः प्रादुर्भूच्छिवः ॥शिवपु०, श० ६०, २८।२४

४ शिवपुराण दो प्रकार के छपे हैं । यह कथा (क) शिवपुराण, ज्ञानसंहिता, अ० ६२ में भी है ।

तीनों ही एक हैं

कुरुक्षेत्र की दृपद्वती नदी के तट पर कई मास तक यज्ञ चलता रहा । इस यज्ञ में दूर-दूर से विद्वान् बुलाये गए थे ।^१ अकेले नैमिषारण्य क्षेत्र से ही ८८,००० ऋषि आये थे । विद्वानों और दर्शकों की खूब भीड़ थी । यज्ञ क्या था, खासा मेला था । इस महान् यज्ञ में पुराण शास्त्र के पारंगत लोमहर्षण नामक सूत भी पधारे थे । यह व्यासजी के प्रसिद्ध शिष्य थे । व्यासजी ने सबसे पहले इन्हें ही उपदेश कर पुराणों का मर्म समझाया था । कहते हैं कि इन महापण्डित की वाणी में बड़ा रस था । कथा कहने की अपूर्व शक्ति थी । इनके प्रवचन सुन, मारे हर्ष के श्रोताओं के रोएँ खड़े हो जाते थे । इसलिए जनता में यह लोमहर्षण नाम से प्रसिद्ध हो गए थे ।^२

इन दिनों कुछ लोग आग्रहवश ब्रह्मा को, कुछ विष्णु को और बहुत से शिवजी को सबसे बड़ा तथा पूज्य बताकर दूसरे दो देवताओं की पूजा का निषेध करते थे ।

यह भ्रान्ति, यह विद्वेष और अधिक न फैल जाय, इसलिए ऋषियों ने पुराणों के प्रामाणिक पारंगत विद्वान् सूत से यह प्रश्न किया—
“सूतजी ! ‘ब्रह्मा, विष्णु, शिव’ इन तीनों में परस्पर क्या अन्तर^३ है ?

१ धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे दीर्घसत्रं तु ईजिरे ।

नद्यास्तीरे दृपद्वत्याः पुण्यायाः शुचि रोधसः ॥१५

२ लोमाणि हर्षयांचक्रे श्रोतॄणां यत्सुभाषितैः ।

कर्मणा प्रथितस्तेन लोकेऽस्मिंल्लोमहर्षणः ॥ वायुपु०, अ० ६६।१६

३ प्रजापतेश्च विष्णोश्च भवस्य च महात्मनः ।

अन्तरं ज्ञातुमिच्छामो यश्च यस्माद्विशिष्यते ॥८३

यश्च यस्मात्प्रभवति यश्च यस्मिन् प्रतिष्ठितः ।

ज्यायान् यो मध्यमश्चैव कनीयान्यश्च तेषु वै ॥८४

हम यह जानना चाहते हैं कि इनमें कौन, किस कारण, दूसरे दोनों से विशिष्ट है ? कौन किससे उत्पन्न हुआ है और कौन किसके आश्रित है ? बड़ा कौन है, मँझला कौन है और सबसे छोटा कौन है ? कौन सबसे प्रधान तथा कौन गौण है ? अपने कर्म, योग्यता और प्रभाव से इन तीनों में से कौन महान् है ? आप इस भेद को भली प्रकार जानते हैं । इसलिए यह सब हमें भी बतलाने की कृपा करें !”

सूतजी बोले—“ब्रह्मा,^१ विष्णु तथा रुद्र में परस्पर जो अन्तर माना गया है, उसे मैं वर्णन करता हूँ । आप उसे ध्यान से सुनिये—जब सर्वाप्त-काम परब्रह्म अपनी लीला के लिए एक से अनेक होने की कामना करते हैं, तब उनकी इस सृष्टि उत्पन्न करने की रजोगुणमयी कामना को ‘ब्रह्मा’ कहते हैं; तथा जब वे अनेक से एक होने की इच्छा करते हैं, तो उनकी प्रलय करने की इस तमोगुणमयी इच्छा का नाम ‘शिव’ होता है; और जब वे सृष्टि-रक्षा के लिए उसके पालन की सत्त्वगुणमयी भावना करते हैं, तब उन्हें ‘विष्णु’ कहा जाता है । इस प्रकार एक ही स्वयंभू परमेश्वर की राजसी, तामसी तथा सात्त्विकी ये मूर्तियाँ कही गई हैं ।^२ उस एक के ही तीन रूप होने से ये परस्पर भिन्न हैं, यह नहीं कहा जा सकता ।^३ और एक होने के कारण इनमें से कौन बड़ा-छोटा या प्रधान-गौण है, यह प्रश्न ही नहीं उठता । हाँ, कार्य में भेद अवश्य है; उन तीन गुणों में से एक के बढ़ने और दो के दबने से ही सृष्टि वा प्रलय हुआ करती है ।^४ उसे मैं यथाशक्ति वर्णन

१ प्रधानभूतो यस्तेषां गुणभूतश्च तेषु च ।

कर्मभिश्चाभिजात्या च प्रभावेण च यो महान् ।

अत्र वो वर्णयिष्वेऽहमन्तरं तेषु यत्स्मृतम् ।

यद् ब्रह्मविष्णुरुद्राणां शृणुध्वं मे विवक्षतः ॥ वायु० ३।६६।८६

२ राजसी तामसी चैव सात्त्विकी चैव ता स्मृताः ।

तन्वः स्वयंभुवः प्रोक्तः काले काले भवन्ति याः ॥ ८७

३ एतासामन्तरं वक्तुं नैव शक्यं द्विजोत्तमाः ।

४ गुणवृद्धि - निबद्धत्वाद्विधानुग्रह - बन्धतः ॥ ८८

करता हूँ । मैंने पहले कहा है कि राजसी को ब्राह्मी, तामसी को रौद्री और सात्त्विकी को वैष्णवी कहते हैं । अब मैं उनके कार्य बतलाता हूँ उन्हें सुनो—राजसी वह है जो समस्त सृष्टि को उत्पन्न करती है, सात्त्विकी से विश्व का पालन होता है और तामसी जगत् का संहार करती है ।'

“उस एक ही सर्वव्यापक परमेश्वर के सृष्टि-उत्पत्ति, पालन तथा संहार के कारण क्रम से रूप, नाम तथा कर्म बदलते रहते हैं । उनमें भेद केवल इतना ही है कि जिस समय सृष्टि उत्पन्न करते हैं, उस समय वह विभु ब्रह्मा ही कहलाते हैं, उन्हें विष्णु वा शिव नहीं कहा जाता; और जब सृष्टि का पालन करते हैं, तब वह विष्णु कहे जाते हैं, उन्हें ब्रह्मा वा शिव नहीं कहते; एवं जब वह संहार करते हैं तब वही शिव कहलाते हैं, उन्हें ब्रह्मा वा विष्णु कोई नहीं कहता ।’

“जैसे बिल्लौर के एक स्वच्छ गोले के सामने जो रंग आता है, वह उसी रंग का दीखने लगता है, अथवा आकाश में स्थित एक ही मेघ भिन्न कारणों से रूप-रंग में पृथक्-पृथक् प्रतीत होता है, ठीक उसी तरह रज, सत्त्व, तम इन गुणों के कारण वह एक परमेश्वर सृष्टि, पालन और संहार—इन तीन कार्यों के भेद से, एक-दो नहीं, ब्रह्मा,

१ एका तु कुरुते तासां राजसी सर्वतः प्रजाः ।

एका चैवार्णवस्था तु साऽनुगृह्णाति सात्त्विकी ।

एका साक्षियते काले तामसी ग्रसते प्रजाः ॥ वायुपु०, अ० ६६।६१

२ क्रमात्तस्य निवर्तन्ते रूप नाम च कर्म च ।

त्रैलोक्ये वर्तमानस्य सर्गानुग्रहनिग्रहैः ॥६४

यदा भवति ब्रह्मा च तदा चान्तरमुच्यते ।

यदा च पुरुषो ब्रह्मा न चैवं पुरुषस्तु सः ॥६६

३ मणिर्विभजते वर्णान् विचित्रान् स्फटिके यथा ।

एकत्वे च पृथक्त्वे च प्रोक्तमेतन्निदर्शनम् ।

एको भूत्वा यथा मेघः पृथक्त्वे नावतिष्ठते ।

रूपतो वर्णतश्चैव तथा गुणवशात्तु सः ॥ वायुपु०, अ० ६६।१००

विष्णु और शिव इन तीन रूपों में प्रकट होता है ।^१ वेद में ब्रह्मा, विष्णु और शिव को एक रूप ही माना गया है । पुराने सभी धर्म-शास्त्र उस त्रिमूर्ति को एक कहते हैं ।^२ सांख्य-योग के तत्त्ववेत्ता ऋषि उसकी इस पृथक्ता में भी एकता को देखते हैं ।^३ परन्तु भेददर्शी लोग इस एकता में भिन्नता की भावना करके, 'यह बड़ा है, यह नहीं' यों कह, कोई ब्रह्मा को, कोई शिव को तथा कोई विष्णु को सबसे बड़ा परमेश्वर मानते हैं; परन्तु उनकी इस अवैज्ञानिक कल्पना का मूल उनका अपना ही राग-द्वेष है ।^४ शास्त्र ऐसा ही कहता है, इसलिए उन (ब्रह्मा, विष्णु, शिव) में से जो एक की निन्दा करता है, वह सभी की निन्दा करता है ।^५ और इन तीनों को जो एक-रूप मानता है, वास्तव में वही तत्त्व को समझता है ।^६

“अतः बुद्धिमान् को इन देवों में से किसी पर भी कभी द्वेष-बुद्धि” नहीं करनी चाहिए, क्योंकि परमेश्वर के समस्त ऐश्वर्य को कोई मनुष्य समझ ले, यह हो नहीं सकता ।^७

१ भवत्येको द्विधा चैव त्रिधा मूर्तिविनाशनात् ।

एको ब्रह्माऽन्तकृच्चैव पुरुषश्चेति ये त्रयः ॥१०१॥

एकस्यैताः स्मृतास्तिष्ठस्तनवस्तु स्वयंभुवः ।

ब्राह्मी च पौरुषी चैव अन्तकारी च ते त्रयः ॥१०२॥

२ एका तनुः स्मृता वेदे धर्मशास्त्रे पुरातने ।

३ सांख्ययोगपरैर्वीरैः पृथक्त्वैकत्वदर्शिभिः ॥११०॥

४ इदं परमिदं नेति ब्रुवन्तो भिन्नदर्शनाः ।

ब्रह्माणं कारणं केचित् केचित् प्राहुः प्रजापतिम् ॥१११॥

केचिच्छिवं परत्वेन प्राहुर्विष्णुं तथापरे ।

अविज्ञानेन संसक्तासक्ता रत्यादिचेतसा ॥ वायु० ६६॥११२॥

५ एकं निन्दति यस्तेषां सर्वानिव स निन्दति ।

६ एकं यो वेत्ति पुरुषं तमाहुः ब्रह्मवादिनः ॥११५॥

७ अद्वेषस्तु सदा कार्यो देवता सुविजानता ।

८ न शक्यमीश्वरं ज्ञातुमैश्वर्येण व्यवस्थितम् ॥११६॥

“वास्तव में वह एक आत्मा ही अपनी माया से मनुष्यों को एक होते हुए भी तीन दीखता है। यही उन तीनों में अन्तर है।^१ उनके एकत्व तथा बहुत्व के भेद को शास्त्र के बिना कैसे जाना जा सकता है और जब शास्त्र उन तीनों को एक कहता है तो फिर उनके एक होने में संदेह क्यों किया जाय ?

“अपनी माया से उन तीन गुणों के स्वरूपों में वह आप ही रम रहा है। इनमें से जो एक की पूजा करता है, उसे समझ लेना चाहिए कि उसने वे तीनों पूज लिये^२; क्योंकि ऋषियों ने कहा है कि वे तीनों ही नाम, रूप तथा कार्य-भेद से एक ही परात्परपरमेश्वर के रूप हैं।”
[वायुपुराण, अनुषङ्गवाद, अ० ६६]

१ एकात्मा स त्रिधा भूत्वा संमोहयति यः प्रजाः ।

एतेषां च त्रयाणां च विचारन्त्यन्तरं जनाः ॥११७

गुणमात्रात्मिकाभिस्तु तनुभिर्मोहयन् प्रजाः ।

२ तेष्वेकं यजते यस्तु स तदा यजते त्रयम् ॥१२०

एकत्वं वा बहुत्वं वा तेषु को ज्ञातुमर्हति ॥ वायु अ० नु० म० ६६।१२१

भगवान् एक ही हैं

एक बार बहुत से देवताओं की यह प्रबल कामना हुई कि वे भगवान् का दर्शन करें। इसके लिए उन सबने इकट्ठे होकर, हाथ जोड़ कर प्रार्थना की।^१ उनकी यह प्रार्थना स्वीकार हुई। उनके सामने अकस्मात् अनन्त सूर्यो का-सा प्रकाश प्रकट हुआ। उस प्रकाश की चकाचौंध के सामने सबकी आँखें चूंधिया कर बंद हो गईं। वे उस तेजोपुञ्ज को न देख सके। उन्होंने फिर विनय की—“देवाधिदेव ! आपके इस तेजोमय रूप को देखने में हम सर्वथा असमर्थ हैं।^२ प्रभो ! हमें उस रूप में दर्शन दीजिये, जिसे हम देख सकें।” उनकी स्तुति से संतुष्ट हो, भगवान् ने आकाश में क्षण-भर के लिए जैसे बिजली चमक जाती है, ठीक वैसे ही निमेष-मात्र के लिए उन निर्निमेष (देवों) को राधा-कृष्ण के रूप में दर्शन दिये।

यह देख न केवल निराकारवादी ही, अपितु वे सब नराकारवादी भी, जो परमेश्वर को एक और अद्वितीय मानते थे, परमेश्वर के ये दो रूप देखकर दंग रह गए। उन सभी को अपने-अपने पंथ से प्राप्त ज्ञान तथा अपने मनन से अतोखे ये दो रूप देख, बड़ा आश्चर्य तथा भारी भ्रम हुआ।^३ उनकी यह दशा देख, उनके सामने वाग्देवी सुन्दर अक्षरों में प्रकट हुई। उसने कहा—“सब देवता जिस परात्पर तत्त्व को क्षण-मात्र के लिए क्षण-प्रभा की भाँति देख चुके हैं, वे उसी रूप को एक बार फिर सामने बनी मणिघों की चमकीली दीवार में देखें।^४ इससे सबका आश्चर्य तथा भ्रम तुरंत दूर हो जायगा। वह

१ तुष्टुवुर्दीनमनसः प्रबद्धाञ्जलयः समम् ॥६०

२ न शक्नुमस्त्वां सहसा द्रष्टुं विहतचक्षुषः ॥७७

३ स्वात्मानुसन्धानपथादपतन् मोहिताशयाः ॥ श्रीपुराण, अ० २०।८६

४ प्रष्टव्यं यदि वा किञ्चित् सा सर्वं कथयिष्यति ॥६१

आपको सभी कुछ स्वयं बतला देगी ।” यह सुन वे सभी उस मणिमय दीवार की ओर देखने लगे । वहाँ उन सब ने उसी पहले देखी युगल आकृति को प्रतिबिम्बित देखा । उसे देख ब्रह्माजी ने कहा—“नाथ ! इस अद्भुत रूप को देखकर हम सब आनन्द के सागर में हिलोरें ले रहे हैं । परन्तु हम तो अपने-अपने वादों को लेकर आये थे । अद्वैत, उसके भेदों वा द्वैत, इनमें से कौन ठीक है ? क्योंकि हम सबका इस बात पर एकमत था कि आप एक हैं । पर यहाँ तो हम आपके स्पष्ट राधा तथा कृष्ण के दो रूप देख रहे हैं । आपकी यह जोड़ी कैसी है, इसे हम नहीं समझ सके ।”

इतने में दीवार पर प्रतिबिम्बित प्रतिकृति ने उत्तर दिया—“सभी ब्रह्मादि मेरी बात पर ध्यान दें ! आपने जो परमानन्द-स्वरूप देखा है, वह एक ही परमतत्त्व दो रूपों में भासमान हो रहा है ।^१ आप अद्वैत तथा द्वैत की जो बात पूछ रहे हैं, वह परात्पर तत्त्व एक होने पर भी दो की तरह दीख रहा है ।^२ और दो दीखने पर भी वह एक है, अतः इसमें अद्वैत होने पर भी वहाँ द्वैत प्रतीत होता है और द्वैत दीखने पर भी वस्तुतः वह अद्वैत ही है ।^३ क्योंकि उनमें कोई भी तात्त्विक भेद नहीं । दोनों तत्त्वतः एक हैं । इस स्वच्छ दीवार पर जैसे यह प्रतिबिम्ब उस राधा-कृष्ण की युगल जोड़ी से भिन्न न होते हुए भी भिन्न दिखायी दे रहा है^४, वैसे ही श्री राधाजी, कृष्ण से भिन्न नहीं, वह उन्हीं का प्रतिबिम्ब वा उनकी शक्ति^५ हैं और वह कृष्ण हैं शक्तिमान् ! शक्ति और शक्तिमान् दोनों एक ही होते हैं ; इसे द्वैत कहो

१ दृष्टं भवद्विर्यद्रूपं परमानन्दविग्रहम् ॥६७

२ एकमेव परं वस्तु द्विधा व्यक्तितया स्थितम् ॥ श्रीपु० २०।६८

३ अद्वैतमपि तद्वैतं द्वैतमद्वैतमेव तत् ॥६८

४ निर्मले भित्तिफलके यथाऽहं प्रतिबिम्बभाक् ।

५ पूर्णानन्दस्य कृष्णस्य प्रतिबिम्बोऽस्म्यहं तथा ॥ श्रीपुराण, अ० २०।१००

या अद्वैत समझो, दोनों ठीक हैं। अतः ये सभी भेद की मानव की रुचि-
भेद के लिए हैं, कलह के लिए नहीं।”

यह समाधान सुन सभी देवता परम सन्तुष्ट हो अपने-अपने स्थान
को चले गए।

[श्रीपुराण, अ० २०]



यह मुझे सर्वव्यापक समझता है

वेंकटाचल में 'वसु' नाम का एक निषाद (हरिजन) रहता था। वह वहाँ अपने-आप उगे साँवाक धान्य के एक भू-भाग की रखवाली कर अपना निर्वाह किया करता था। इसी वन के समीप स्वामी-पुष्करिणी नाम का प्रसिद्ध तीर्थ था। उसके तट पर श्री लक्ष्मी तथा भूदेवी के साथ भगवान् विष्णु की भव्य मूर्ति विराजमान थी। वसु निषाद विष्णु का बड़ा भक्त था। वह प्रतिदिन साँवाक के चावलों का भात बनाकर उनमें शहद मिला स्वामी-पुष्करिणी पर ले जाकर विष्णु को भोग लगाया करता था। एक दिन उसकी पत्नी चित्रवती ने उससे पूछा—
“नाथ, नित्यप्रति आप यह भात कहाँ ले जाया करते हैं?” वह बोला—
“प्रिये, हमारे इस वन से बाहर स्वामी-पुष्करिणी नामक सर के तट पर तुमने विष्णु की एक दिव्य प्रतिमा देखी होगी। मैंने सुना है, यही संसार की पालना करने वाले परमेश्वर हैं। यह अपने भक्तों की सभी मनोकामना पूर्ण करते हैं। मैं उन्हीं के भोग के लिए भात ले जाया करता हूँ।” यह सुन पास बैठे उसके 'वीर' नामक पुत्र ने पूछा—
“पिताजी! हम यहाँ, वह वहाँ। फिर वहाँ बैठे सबके मन की जाने बिना वह वहीं से कैसे सभी की अभिलाषा पूरी कर देते हैं?” वसु ने कहा—
“बावले बेटे! वह केवल वहीं हैं, यह बात नहीं; वह तो सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् हैं। वही तो सभी संसार के पालक हैं, उन पर ऐसा अविश्वास कभी मत करना! वह सभी जगह होने से सबकी सुनते हैं; अपनी घृणा के लिए उनसे क्षमा माँगो, उन्हें प्रणाम करो!” यह सुन वीर ने उस सर्वव्यापक भगवान् को प्रणाम किया। वसु भात लेकर भोग लगाने चला गया।

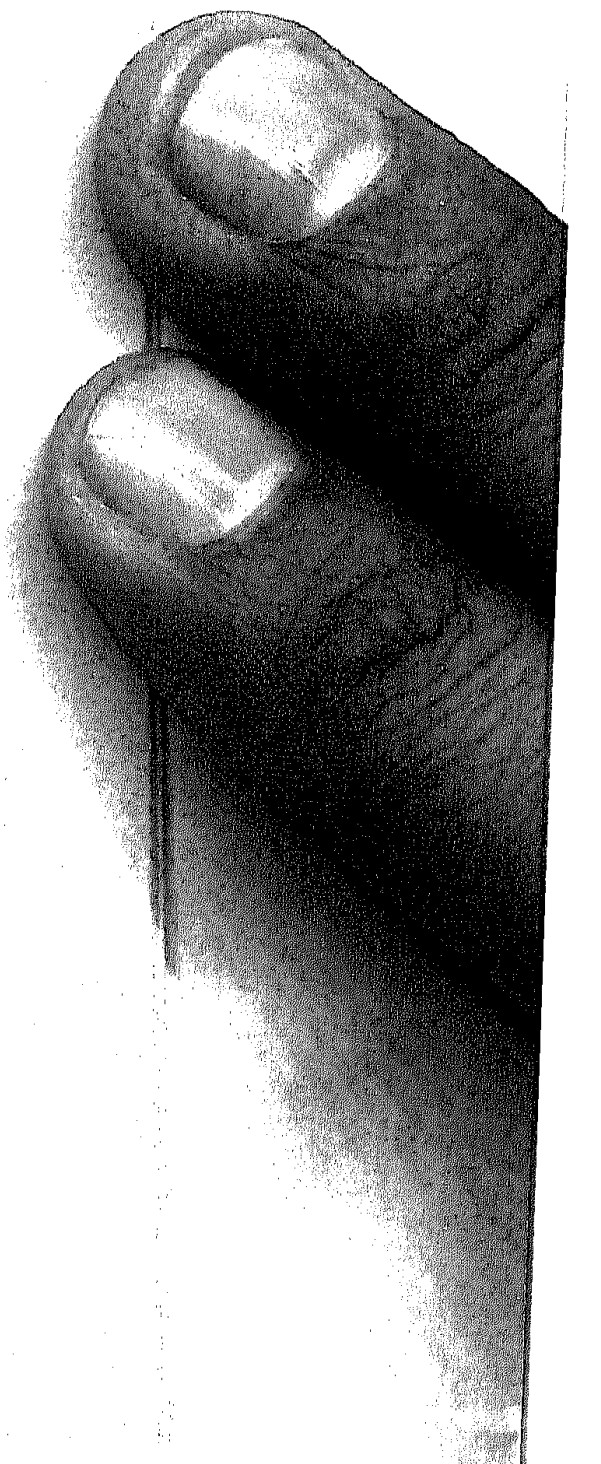
इस प्रकार वसु भोजन से पहले नित्य स्वामी-पुष्करिणी में जाया

करता था। एक दिन उसका शहद समाप्त हो गया। वह अपनी पत्नी चित्रवती को साथ ले वन में मधु खोजने चला और जाती बार अपने पुत्र वीर को कहता गया—‘हम दोनों शहद लेने जा रहे हैं, तुम साँवाक के वन की रखवाली ध्यान से करना।’ ‘बहुत अच्छा’ कहकर वीर साँवाक की रखवाली करने लगा। वसु-दम्पती मधु की खोज करते-करते वन में दूर चले गए। काफी दिन चढ़ गया। भोजन का समय बीत चला, पर वे नहीं आये। वीर को भूख लगी। उसने अपनी भूख से अनुमान किया कि उसी की तरह भगवान् को भी भूख लग रही होगी। ‘भगवान् भूखे हैं’—यह मन में आते ही वीर से नहीं रहा गया। उसने साँवाक के चावल निकालकर भात^१ बनाया। उसकी माँ भात बन जाने पर कुछ थोड़ा-सा चूल्हे में डाला करती थी, इसलिए उसने भी इसका मतलब बिना जाने कुछ भात आग में गिराया, फिर भगवान् के भोग के लिए थाली परोसकर स्वामी-पुष्करिणी की ओर चला। अभी अपने आँगन से निकलकर एक वृक्ष के पास पहुँचा ही था कि उसे खयाल आया—‘पिताजी वन की रखवाली करने को कह गए थे। मैं स्वामी-पुष्करिणी पर जा रहा हूँ। पीछे यदि वन-पशु साँवाक चर गए तो पिताजी से मार पड़ेगी। पर मेरी तरह वहाँ भगवान् भी तो भूखे होंगे, उन्हें भोजन देना भी तो जरूरी है। पिताजी कहेंगे—हम एक ही दिन बाहर गये और उसी दिन तुमने भगवान् को भूखा रक्खा।’ इस उधेड़-बुन में सहसा उसे ध्यान आया कि भगवान् तो सर्वव्यापक हैं। वह वहाँ हैं तो यहाँ भी हैं, फिर इसी वृक्ष के नीचे बैठकर ही भोग क्यों न लगा दूँ—यह सोचकर वीर वहीं बैठ गया और उसने उस वृक्ष की जड़ में कुछ भात डाल बड़ी श्रद्धा तथा हर्ष के साथ भगवान् को भोग लगाया।^२ इसके बाद उसने घर आकर स्वयं भर-पेट भोजन किया।

१ बालाः श्यामाकपक्वानि गृहीत्वानौ निधाय च ॥ स्क० पु० ६।८

२ पिष्टा निवेदयामास वृक्षमूलश्रियः पतेः।

नैवेद्यं भक्षयित्वैव वीरस्त्वासुखेन वै ॥ स्क० पु०, अ० ६।९



इतने में उसके माता-पिता वन से मधु लेकर लौट आये । वहाँ चावल पड़े देख वसु के मन में आया—‘वीर ने भगवान् को बिना खिलाये पहले आप खा लिया है । कैसा बुरा बालक है !’ यह सोच वसु आपे से बाहर हो गया । उसने अपने पुत्र का बहुत तिरस्कार किया । वीर के यह बतलाने पर कि मैंने पहले भोजन नहीं किया है, भगवान् को भोग लगाकर मैं खाने बैठा था, वसु और भी क्रुद्ध होकर बोला—“तुम साँवाक वन को छोड़कर स्वामी-पुष्करिणी पर कैसे चले गए ?”

जब वीर ने यह कहा कि वह स्वामी-पुष्करिणी पर नहीं गया, तब पिता यह कहकर गुस्सा होने लगा कि गया नहीं तो तुमने यह भूठ क्यों कहा कि मैंने भोग लगा दिया है । वीर ने फिर कहा—“मैं भूठ नहीं कहता । मैंने भगवान् को भोग लगा दिया है । आप देख लें ।” यह कहकर वह अपने पिता को उस वृक्ष के पास ले गया । वृक्ष की जड़ में चावल पड़े देख वसु के क्रोध का पारावार न रहा । बोला—“दुष्ट ! मुझी से उपहास ! मेरे भगवान् का इतना अपमान ! तेरी यह हिम्मत कि तू एक जड़ पर भात डालकर कहे, कि भगवान् को भोग लगा दिया है !”—यह कहते-कहते क्रोध में ज्यों ही वह अपनी तलवार वीर के सिर पर मारने लगा कि पीछे से किसी ने उसकी तलवार पकड़ ली ।^१ उसने मुँह घुमाया तो देखा कि वृक्ष के अन्दर से आधे निकले हुए चतुर्भुज भगवान् ने उसकी तलवार पकड़ी हुई है ।

वसु तलवार छोड़ भट भूमि पर दण्डवत् प्रणाम करता हुआ बोला—“विभो ! क्षमा करना ! मेरी असावधानी से मेरे उद्विग्न पुत्र ने आपका अपमान किया, इसका मुझे बड़ा दुःख है ।”

भगवान् बोले—“वसु, तुम गलत समझे । तुम्हारा यह पुत्र मुझे तुमसे अधिक प्यारा है । तुम मुझे सर्वव्यापक कहते हुए भी केवल स्वामी-पुष्करिणी के तट पर ही स्थित समझते हो ; परन्तु इसकी दृष्टि

१ खड्गमादाय तं हन्तुं त्वरया हस्तमुद्धौ ॥११

तद्वृक्षस्थस्तदा विष्णुः खड्गं जग्राह पाणिना ॥१२

मैं मैं सर्वत्र विद्यमान हूँ। तुम केवल कहते हो, विश्वास नहीं करते;
परन्तु यह मुझे मन से सर्वव्यापक मानता है, इसीलिए मैंने उसे प्रत्यक्ष
दर्शन दिये हैं।'

[स्कन्दपुराण, वैष्णव सं०, वि० सा०, अ० ६]

वसो ! शृणु वचो मे त्वं पुत्रस्ते भक्तिमान् मयि ।
त्वत्तोऽपि मे प्रियतमस्तस्मात् प्रत्यक्षमागतः ।
अस्य सर्वत्र तिष्ठामि तव स्वामिसरस्तटे ॥

स्क० वै० भू० वा० ख० अ० ६।१६

भगवान् धन नहीं, मन माँगते हैं

काञ्चीपुरी में 'चोल' नाम का एक बड़ा प्रतापी राजा रहता था। उस राजा के नाम से ही उसके आधीन समस्त प्रान्त का नाम 'चोल' पड़ गया था। चोल नरेश चक्रवर्ती कहलाता था। उसने अनेक यज्ञ कर ताम्रपर्णी नदी के दोनों किनारों को यज्ञ-यूपों से भर दिया था। नदी के आर-पार दोनों ओर दूर तक चले गए ये यज्ञयूप बड़े सुहावने प्रतीत होते थे और राजा के कीर्तिस्तम्भ-से जान पड़ते थे। एक बार चोल नरेश 'अन्नतशयन' तीर्थ पर गया। वहाँ मन्दिर में जा उसने रमारमण^१ विष्णु के विग्रह की बड़े विधि-विधान से पूजा की। मणि-मोती तथा स्वर्ण-पुष्पों से भगवत्-मूर्ति का शृंगार किया।^२ राजा को दिखावा बहुत पसन्द था। उसकी प्रबल कामना थी कि उसकी इस बहुमूल्य भेंट को बहुत-से लोग देखकर उसकी वाहवाही करें और ताम्रपर्णी-तट पर गड़े यूपों की भाँति यह शृंगार भी सदा स्थिर रहकर उसकी कीर्ति का कारण बन जाय। परन्तु वैसा न हो सका; चोल नरेश भगवान् की प्रतिमा को दण्डवत् प्रणाम कर ज्यों ही उठा, उसने^३ अपने ही नगर के विष्णुदास नामक ब्राह्मण को पूजा के लिए हाथ में तुलसीदल तथा जल लिये खड़ा देखा।

ब्राह्मण ने विष्णु का विष्णु-सूक्त से पूजन किया। उन्हें स्नान कराया। फिर तुलसी की मञ्जरी तथा दल (पत्रों) से, रत्नों से की

१ तत्र श्रीरमणं देवं संपूज्य विधिवन्नृपः ।

२ मणिमुक्ताफलैर्दिव्यैः स्वर्णपुष्पैश्च शोभितैः ॥६

३ देवार्चनार्थमायान्तु तुलस्युदकपाणिकम् ।

स्वपुरीवासिनं तत्र विष्णुदासाह्वयं द्विजम् ॥पद्म०, उ० खं०, अ० १०८।११

गई राजा की सभी पूजा को ढाँप दिया ।^१

राजा चोल के मन में भक्ति से वाहवाही पाने की लालसा अधिक थी । जब उसने देखा कि उसकी पूजा को किसी ने नहीं देखा, वह यों ही दबा दी गई है, तो उसके क्रोध का पारावार न रहा । उसने क्रोध से कहा—“विष्णुदास ! मैंने मणियों तथा स्वर्ण-फूलों से भगवान् की पूजा की थी । वह कितनी मनोहर दीख रही थी । तू ने उसे पत्तों से कैसे ढाँप दिया ?”^२ विष्णुदास ने नम्रता से उत्तर दिया—“महाराज ! मैं भी भगवान् का भक्त हूँ, मुझे भगवान् की पूजा करनी थी ।”

यह सुन राजा ने कहा—“अरे ! चुप भी रह ! पूजा-सेवा में श्रृंगार के लिए धन की आवश्यकता होती है । वह तुझे जैसे कंगाल के पास कहाँ है ? यह मैं जानता हूँ कि तू भक्ति को नहीं जानता । फिर भी तेरा यह साहस कि तूने इतनी सुहावनी पूजा ढाँप दी । इसका मुझे बड़ा आश्चर्य है !”^३

यह सुन विष्णुदास बोला—“महाराज भगवान् धन को नहीं, मन को अधिक मानते हैं, और वह धनियों की तरह निर्धनों के पास भी होता है; फिर आपने यह कैसे पहचाना कि मैं भक्त नहीं हूँ । भक्त की पहचान उत्तम वस्त्रों से नहीं होती, श्रेष्ठ मन से की जाती है; और श्रेष्ठ अन्तःकरण वही है जिसमें मान न हो ।”

यह सुन राजा बोला—“आया है, हमें भक्ति का तत्त्व बतलाने-वाला ! इसका प्रपंच तो देखो ! हम पर इसकी पूजा का प्रभाव नहीं जमा, तो भक्ति के ज्ञान की डींग मारने लगा है । चुप रह, यह

१ तुलसीपूजया तस्य रत्नपूजां तथाकृताम् ।

आच्छादितां समालोक्य राजा क्रुद्धोऽब्रवीद्वचः ॥१३

२ माणिक्यस्वर्णपूजाऽत्र शोभाद्या या मया कृता ।

विष्णुदास ! कथं सेयमाच्छन्ना तुलसीदलैः ॥१३

३ विष्णुभक्तिं न जानासि वराकोऽसि मतो मम ।

यस्त्विमामतिशोभाद्यां पजामाच्छादयस्यहो ॥पद्म०, उ० ख०, १८।१५

हम तुमसे अधिक जानते हैं ।”

तब अपमान से क्रोध में भरे ब्राह्मण ने राजा के गौरव का तिरस्कार कर कहा^१—“राजन् ! तू भक्ति नहीं जानता । तुझे राज्य और अपने धन का घमण्ड हो रहा है । ज़रा बता तो सही, तूने कितने विष्णु-व्रतों का अनुष्ठान किया है ?”^२

ब्राह्मण की यह बात सुन राजा बड़े अभिमान से उपेक्षा दिखा हँसते हुए बोला—“अगर यही बात है तो तू ही बता कंगाल ! तेरी विष्णुभक्ति कितनी है ?^३ निर्धन होने के कारण तूने विष्णु को प्रसन्न करने के लिए न कोई यज्ञ किया है, न दान दिया है और न ही कोई मन्दिर ही बनवाया है । फिर भी तुझे अपनी भक्ति का इतना घमण्ड कैसे हो रहा है ? यहाँ जो लोग जमा हो गए हैं, वे सुनें और देखें कि भक्ति से भगवान् का साक्षात्कार (दर्शन) पहले हम करते हैं या यह करता है । फिर अपने-आप ही यह निर्णय हो जायगा कि किस में कितनी भक्ति है ।”^४ यों कह राजा अपने राजभवन में चला गया और जाते ही उसने मुद्गल को आचार्य

१ राज्ञो गौरवमुल्लङ्घ्य जगाद वचनं तदा ॥१६

२ राजन् भक्तिं न जानासि गर्वितोऽसि नृपश्रिया ।

किंस्विद्विष्णुव्रतं पूर्वं त्वया चीर्णं वदस्व तत् ॥१७

३ भक्तिस्ते कियती विष्णो दरिद्रस्याधनस्य च ॥ पद्म०, उ० ख०, १०८।१६

४ इत्थं ब्रवीषि चेद्विप्र ! विष्णुभक्त्याऽतिगर्वितः ।

भक्तिस्ते कियती विष्णो दरिद्रस्याऽधनस्य च ॥१६

यज्ञदानादिकं नैव विष्णुतुष्टिकरं कृतम् ।

नाऽपि देवालयं पूर्वं त्वया विप्र ! क्वचित् कृतम् ॥२०

ईदृशस्यापि ते गर्वं एष तिष्ठति भक्तितः ।

तच्छृण्वन्तु वचो मेऽद्य सर्वेऽप्येते द्विजोत्तमाः ॥२१

साक्षात्कारमहं विष्णोरेष वादौ गमिष्यति ।

यथा तु सर्वेऽपि ततो भक्तिं ज्ञास्यथ चावयोः ॥२२

बना, एक बड़ा भारी विष्णुयज्ञ आरम्भ किया। इस यज्ञ में बहुत-सा ऋषि-समुदाय एकत्र हुआ। उन्हें बहुत बड़ी-बड़ी दक्षिणाएँ दी गई। यह वही यज्ञ था, जिसे पहले कभी ब्रह्माजी ने गया-क्षेत्र में प्रभूत धन से किया था।^१ चोल नरेश के पास भी धन की कमी न थी, अतः उसने अपने धन के जोर से भगवान् को प्रसन्न करने की तैयारी शुरू कर दी।

उधर गरीब विष्णुदास के पास धन तो न था, पर उसका मन भगवान् में लगा था। वह उसी मन्दिर में बैठ गया।^२ वहाँ उसने भगवान् को प्रसन्न करने वाले पाँचों नियमों का पालन करना आरम्भ कर दिया। वह नित्यप्रति षोडशोपचार से भगवान् का पूजन करता। अपने भगवान् के सामने भक्ति में विभोर होकर गाता, नाचता। हर समय द्वादशाक्षर मन्त्र का जाप करता। अब वह ध्यान में इतना मग्न रहने लगा कि उठते-बैठते, चलते-फिरते और खाते-पीते ही नहीं, सोते हुए भी उसे सदा भगवान् की याद बनी रहती।^३ उसने प्रत्येक एकादशी का व्रत किया। माघ तथा कार्तिक के समस्त व्रत-नियम पालन किये। इससे वह समदर्शी हो गया और सभी प्राणियों में भगवान् को देखने लगा।^४

इस प्रकार करते उसे जब पूरे दस महीने हो गए, ग्यारहवाँ

१ आरेभे वैष्णवं सत्रं कृत्वाऽऽचार्यं तु मुद्गलम् ॥२३

ऋषिसङ्घसमाजुष्टं बभूव बहुदक्षिणम् ।

यद्वद् ब्रह्मकृतं पूर्वं गयाक्षेत्रे समृद्धिमत् ॥ उ०ख० १०८।२४

२ विष्णुदासोऽपि तत्रैव तस्थौ देवालयव्रती ।

पञ्चैतान् नियमान् कृत्वा विष्णुतुष्टिकरान्सदा ॥२५

३ नित्यं संस्मरणं विष्णोर्गच्छन् भुञ्जन् स्वपन्नपि ।

४ सर्वभूतस्थितं विष्णुमपश्यत् समदर्शनः ॥१०८।२८

तमदृष्ट्वाप्यसौ पाकं पुनर्नैवाकरोत्तदा ।

सायंकालार्चनस्यासौ व्रतभङ्गभयाद् द्विजः ॥ पद्य०, उ० ख०, अ० १०९।२

आरम्भ हुआ, तो रोज की तरह विष्णुदास अपना नित्य कर्म कर, भोजन बना, भगवान् को भोग लगाने लगा। भोग लगाकर लौटा तो उसने अपनी रसोई में जाकर देखा, कि उसका भोजन वहाँ न था। यह सोचकर कि दुबारा भोजन बनाने पर सायंकाल की पूजा के लिए कम समय मिलेगा, पूजा में विघ्न पड़ेगा—उसने उस दिन दुबारा भोजन न बनाया।

दूसरे दिन फिर भोजन के समय भोजन बनाकर भोग लगाने गया। वहाँ से लौट कर उसने देखा कि उसका खाना आज फिर कोई उठा ले गया है। भोजन वहाँ आज फिर नहीं है। परन्तु पूजा-समय में कमी के भय से विष्णुदास ने भोजन नहीं बनाया और इस प्रकार भूखे रहते उसे सात दिन हो गए।^१ वह भोजन बना भोग लगाने जाता; आता तो देखता, उसका भोजन कोई चुरा ले गया है। सात दिन का भूखा ब्राह्मण बड़े असमञ्जस में पड़ सोचने लगा—‘मैंने व्रत-समाप्ति तक इसी जगह पर रहने का प्रण किया हुआ है, इसलिए यहाँ से और कहीं जा नहीं सकता।’^२ यहाँ मेरा भोजन सात दिनों से चुराया जा रहा है। मुझे बिना भोजन किये आज पूरे सात दिन हो गए। अब शक्ति बहुत क्षीण हो चली है। इस प्रकार भूखा रहकर इस व्रत की समाप्ति तक कैसे जीवित रह सकूँगा।^३ दुबारा भोजन बनाता हूँ तो रात की पूजा में विघ्न होता है।^४ कुछ और थोड़ा-सा सत्तू आदि क्षुधा-निवृत्ति के लिए बना लूँ; परन्तु खाने की कोई वस्तु बनाने के बाद तो भगवान् को उसका भोग लगाना^५ जरूरी हो

१ एवं सप्तदिनं तस्य पाकं कोऽप्यहरद् द्विज !

२ क्षेत्रसंन्यासिनास्थानमत्याज्यं सर्वथा मया ॥५॥

३ उपोषितोऽहं च कथं तिष्ठाम्यत्र व्रतस्थितः ॥६॥

४ पुनः पाकं विधायात्र भुज्यते यदि चेन्मया ।

सायंकालार्चनं चैतत्परित्याज्यं कथं मया ॥६॥

५ किञ्चित्पाकं विधायैतद्भोक्तव्यं तु मया नहि ।

जाता है। और घर में उत्तम अन्न के होते हुए भगवान् को मोटे अन्न का भोग कैसे लगाऊँ और बिना भोग लगाये उसे खाऊँ कैसे ! — इसलिए आज अपने भोजन की रक्षा के लिए यहीं बैठकर रोटी-चोर का पता लगाऊँगा’—यह सोचकर वहीं छिपकर बैठ गया।^१ इतने में एक चाण्डाल आया, मारे भूख से उसका सारा शरीर दुबला हो रहा था। उसकी आँखें अन्दर को धँसी थीं और हड्डियाँ बाहर दीख रही थीं। पेट पीठ से सटा हुआ था। हाड़ और चाम के सिवाय उसके शरीर में कुछ न था।^२ रुधिर और वसा दोनों सूख चुके थे। उसे देख विष्णुदास को बड़ी दया आयी। वह सोचने लगा—‘सात दिन रोटी खाने के बाद भी इसकी यह दशा है। इतना मरणोन्मुख है, तो आज से सात दिन पहले इसकी क्या हालत रही होगी !’ यह सोचते ही विष्णुदास को अपनी भूख की व्यथा और राजा से स्पर्द्धा—ये दोनों बातें एकदम विस्मृत हो गईं। वह सोचने लगा—‘भूख बुरी बला है। सात ही दिनों में मेरी यह दशा हो गई है। पता नहीं, यह विचारा कितने दिनों का भूखा था। बहुत सम्भव है, पहले यह बहुत ही अच्छा हो और उस भूख ने ही इसे चोरी करने को बाध्य कर दिया हो। पर अच्छा हुआ, यह रोटी ले जाता रहा। बेचारे के प्राण तो बचे। परन्तु बहुत दुबला है, इसे रूखी रोटी नहीं, साथ में रखा घी भी उठा ले जाना चाहिए था।’

ब्राह्मण मन में सोच ही रहा था कि चाण्डाल ने जाकर रोज की तरह रोटी उठा ली। उसे रोटी उठाते देख विष्णुदास ने कहा—“अरे भैया ! ज़रा ठहर, रूखी रोटी ही क्यों ले जा रहा है ? यह

१ अनिवेद्य हरौ सर्व वैष्णवैर्नैव भुज्यते ॥ पद्म०, उ० ख०, अ० १०।१७

२ इति पाकं विधायाऽसौ तत्रैवाऽलक्षितः स्थितः ।

तावद्दर्श चाण्डालं पाकान्नहरणे स्थितम् ॥१६

३ क्षुत्क्षामं दीनवदनमस्थिचर्माविशेषितम् ।

तमालोक्य द्विजाग्र्योऽभूत्कृपया खिन्नमानसः ॥ पद्म०, उ० ख०, १०।१०

धी है, यह भी लेता जा !”^१

ब्राह्मण को यों कहते, अपनी ओर आते देख, वह चाण्डाल भय से त्रस्त होकर बहुत तेज भागा । पर दुर्बल होने के कारण, भागने की शक्ति न होने से, मारे डर के पृथ्वी पर गिर पड़ा और गिरते ही बेहोश हो गया ।

मूर्च्छित पड़े उस डरे हुए चाण्डाल को दूर से देख विष्णुदास का मन दया, करुणा और सहानुभूति से आर्द्र हो गया । वह बड़ी तेजी से दौड़कर उसके पास गया और उसे होश में लाने के लिए अपने वस्त्र के आँचल से पंखा करने लगा । होश आने पर जब वह उठा तो विष्णुदास ने देखा, वहाँ कोई चाण्डाल नहीं, स्वयं विष्णु भगवान् खड़े हैं । अपने प्रभु को प्रत्यक्ष सामने खड़ा देख, वह उनकी शास्त्र की पद्धति से स्तुति तो क्या करता, मारे खुशी के उन्हें प्रणाम करना भी भूल गया ।^२—भगवान् ने उसे गले से लगाकर अपनी सायुज्य मुक्ति प्रदान की ।^३

विष्णुदास को विमान में बैठ वैकुण्ठ जाते देख, यज्ञ में दीक्षित राजा चोल ने अपने गुरु मुद्गल को बुलाकर यों कहा—“जिसके साथ स्पर्धा होने के कारण मैंने यह यज्ञ-दान आदि सब किये और आपने कराये हैं,^४ वह विष्णुदास तो भगवान् का साक्षात् रूप बनकर

१ विलोक्यान्नहरं विप्रस्तिष्ठ तिष्ठेत्यभाषत ।

कथमस्ति भवान् रूक्षं घृतमेतद् ग्रहाण भोः ॥१२

२ इत्थं ब्रुवन्तं विप्राग्रयमायान्तं च विलोक्य सः ।

वेगाद्धावत्तद्भीत्या मूर्च्छितश्च पपात ह ॥१२

भीतं च मूर्च्छितं दृष्ट्वा चाण्डालं स द्विजोत्तमः ।

वेगादभ्येत्य कृपया स्ववस्त्रान्तैरवीजयत् ॥१३

अथोत्थितं तमेवाऽसौ विष्णुदासो व्यलोकयत् ।

साक्षान्नारायणं देवं शङ्खचक्रगदाधरम् ॥ पद्म०, उ० ख०, अ० १०६।१४

३ स्तोतुं चापि नमस्कर्तुं तदा नालं बभूव सः ॥

४ ततो विष्णुः समालिङ्ग्य स्वभक्तं सात्त्विकं तथा ।

सायुज्यमात्मनो दत्त्वाऽनयद्वैकुण्ठमन्दिरम् ॥१६

५ यत्स्पर्धया मया चैतद्यज्ञदानादिकं कृतम् ।

विमान में वैकुण्ठ चला गया ।^१—मैंने वैष्णव यज्ञ में दीक्षित हो, दान-दक्षिणा पर पानी की तरह पैसा बहाया, तो भी मुझ पर भगवान् अभी तक प्रसन्न नहीं हुए,^२ और उस ब्राह्मण को केवल भक्ति से हो भगवान् का साक्षात्कार हो गया । इसलिए मैं समझता हूँ कि भगवान् दान वा यज्ञ से नहीं, केवल भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं ।”^३

मुद्गल ने कहा—“राजन् ! तुम केवल धन के जोर से भगवान् को बुलाना चाहते थे; पर वह धन नहीं, मन चाहते हैं ।”^४

[पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, अ० १०८]

१ स विष्णुरूपधृद्विप्रो याति वैकुण्ठमन्दिरम् ॥२२

२ नैवाद्यापि स मे देवः प्रसन्नो जायते ध्रुवम् ॥२४

३ तस्माद्दानैश्च यज्ञैश्च नैव विष्णुः प्रसीदति ।

४ भक्तिरेव परं तस्य निदानं दर्शने विभोः ॥ पद्म०, उ० ख०, १०६।२५

(यह कथा स्कन्दपुराण, वैष्णवखण्ड, अ० २६ में भी है।)

गणेश-पूजा

माहिष्मती नगरी में भिक्षा-वृत्ति से निर्वाह करता एक ब्राह्मण रहता था। उसने अपने पुत्र का नाम तो विनायकदत्त रखा था, पर सभी उस गरीब के बेटे को 'विन्नू' कहकर पुकारते थे। निर्धन होने के कारण बालक विन्नू अपने वचपन में ही ग्वालों का नौकर बनकर वन में बछड़े चराने जाया करता था।

उसी वन में मुद्गल नाम के विद्वान् मुनि रहते थे। बालक पर उनकी कृपा-दृष्टि हुई। उन्होंने उसे पढ़ाना आरम्भ कर दिया। कुछ ही दिनों में विन्नू काफी पढ़-लिख गया।

विन्नू की माता गणेशजी की बड़ी भक्त थी। विन्नू भी माता के साथ गणेश-मन्दिर में जाता और देर तक पूजा किया करता था। मुहल्ले के लोग अब उसे गणपति का भक्त जान, विन्नू भगत कहने लगे। शिक्षा की वृद्धि के साथ भक्त विन्नू की आकांक्षा भी बढ़ने लगी। अब वह ऋद्धि-सिद्धि के दाता गणेशजी से अपनी आजीविका के लिए उच्च राजपद के साथ समृद्धि प्राप्त करने लगा। एक दिन वह अपने गुरुजी के साथ माहिष्मती के राजा नीलध्वज के दरबार में गया। राजा को उसकी बातचीत से प्रसन्नता हुई और उसने उसे एक उच्च पद पर नियुक्त कर दिया। विन्नू के दिन पलट गए। अब वह विन्नू श्री विनायकदत्त कहलाने लगा।

माँ इस उन्नति का कारण गणेश भगवान् की कृपा मानती और विनायकदत्त इसे अपनी योग्यता का फल समझने लगा। अब पूजा भी उसे व्यर्थ का झंझट जान पड़ने लगी। और उसने समय न मिलने का बहाना बना वह पूजा-अर्चा सब छोड़ दी। मन्दिर जाना बन्द कर दिया। कभी पर्व या उत्सव पर मन्दिर के महन्त की अनुनय-

विनय पर जाता । वह मन्दिर में आता तो मन्दिर के अधिकारियों की ओर से उसके आगमन को बड़ा महत्त्व दिया जाता । ज्यों-ज्यों उसका ऐश्वर्य बढ़ता गया, त्यों-ही-त्यों उसकी धार्मिक श्रद्धा कम होती गई ।

एक दिन वह आया जब वह ऐश्वर्य-मद से मस्त हो भगवान् को बिल्कुल ही भूल गया । अब उसे अपनी माता की गणेश-पूजा भी एक व्यर्थ का वहम दीखने लगी । उसे पसन्द न था कि उसके घर में कभी कोई पूजा कर उसके विनोद में बाधा डाले, उसकी स्वच्छन्दता पर धर्म के नाम पर कोई रुकावट पड़े । पर क्या करता, माँ मानती ही न थी । कहती थी—जिस पूजा के प्रताप ने मुझे यह दिन दिखाया है, उसे मैं कैसे छोड़ दूँ ? एक दिन पूजा में बैठी माँ को विनायक ने कहा—“माँ, मुझे बहुत भूख लगी है, कुछ खाने को ला दो ।” माता बोली—“लाल, मैं पूजा कर रही हूँ, किसी सेवक को कहकर मँगवा लो ।” माँ के इस उत्तर को बेटे ने अपना अपमान समझा । वह आपे से बाहर होकर बोला—“जब देखो, पूजा—पूजा के सिवाय इनको कोई काम नहीं रहा । पूजा न जाने तुम्हें कौन-से हाथी-घोड़े देगी ।” माँ बोली—“देगी क्यों नहीं ; आगे जो है वह भी तो उस पूजा का ही प्रताप है । नहीं तो हम पापी किस योग्य थे !” यह सुन विनायक ने क्रोध में गणेशजी की मूर्ति को लात^१ मारकर तोड़, बाहर फेंकते हुए कहा—“लो, मैं इसे फेंकता हूँ ; देखूँ, गणेश मेरा क्या करता है ! सावधान ! फिर कभी मेरे घर में मूर्ति आयी या पूजा हुई । यह घर मेरा है, तेरा नहीं ; मेरे घर में यह पूजा का ढोंग अब नहीं चल सकेगा ।”

यह देख माता पुत्र के भावी अनिष्ट की आशंका से स्तब्ध हो मन ही मन प्रार्थना करती कहने लगी—गणेशभगवान् ! आप अखण्ड हैं ।

१ जघान लतया दुष्टः चार्चा विघ्नेश्वरस्य सः ।

क्षिपन् तां प्रांगणे प्राह मा पूजां मदगृहे कुरु ॥ गणेशपुराण, अ० १०।८

आप किसीके तोड़ने से टूट नहीं सकते और न ही सर्वव्यापक होने के कारण कहीं से फैंके या हटाये जा सकते हैं। आप सर्वज्ञ होने से यह भी जानते हैं कि फैंकनेवाला भी फैंकते समय मूर्ति में ईश्वरबुद्धि न रख उसे मृत पाषाणादि समझकर ही तोड़ता-फैंकता है, भगवान् को कोई नहीं फैंकता। मूर्ति तोड़ने वाले का भी भगवान् को अपमानित करने का विचार नहीं होता। वह वैसा कर अपमान करता है उसके निर्वल भक्त का, जो मूर्ति को अपना भगवान् मानते हुए भी उस तोड़-फोड़ को देख विवश हो कुछ कर नहीं सकता।

“अतः विन्नू ने आपका नहीं, अपनी माँ का अपमान किया है। फिर भी वह अज्ञ आपकी दया का पात्र है। उसके अनिष्ट से मुझे दुःख होगा, विभो ! आप विन्नू के काम पर नहीं, मेरी प्रार्थना पर ध्यान दें !” इस प्रकार माता चुपचाप पुत्र के किये का पश्चात्ताप कर रही थी कि बेटा बड़बड़ाता घर से बाहर निकलकर राजसभा में चला गया। माँ ने प्रार्थना के बाद आँख खोली तो बेटा वहाँ न था। वह उसकी अनिष्ट-शंका से घबरा कर फिर प्रार्थना करने लगी—
“गणनायक भगवान् ! मेरे अपराधी बेटे को क्षमा करो ! वह सकुशल घर लौट आये। जब तक मैं उसे सामने सकुशल न देख लूँगी तब तक यहीं बिना कुछ खाये-पिये उसके कुकृत्य के लिए क्षमा-याचना करती रहूँगी।” यों कह वह वहीं धरना देकर बैठ गई।

इधर विनायकदत्त घर से राजसभा में गया तो वहाँ राजा न थे। वे महारानी के साथ अन्तःपुर में चले गए थे। इसे उनसे जरूरी काम था। उसने इधर-उधर भाँककर देखा। दरवार लगने पर जिस कक्ष में महारानी पर्दे के अन्दर बैठती थीं, उसके द्वार पर एक परदे से ढका रथ खड़ा था और उसका सारथी कंचुकी रथ में ही अपनी सीट पर सोया हुआ था। विनायक ने सोचा—अन्तःपुर में पहुँचने का साधन मिल गया है। वह दबे-पाँव चुपके से रथ के अन्दर जाकर बैठ गया। इतने में नायक ने कंचुकी से कहा—“अरे भाई, महारानी तो महाराज के साथ रथ में बैठकर गयीं, तुम व्यर्थ में अब यहाँ किसकी

प्रतीक्षा में खड़े हो ? अन्तःपुर में रथ ले जाओ, वहाँ इसकी जरूरत होगी ।” यह सुन सारथी रथ को अन्तःपुर में ले जाकर ज्यों ही यह कहने गया कि मैं आ गया हूँ, त्यों ही विनायक महाराज के कमरे में जा घुसा ।

गलीचे के पास जूते पड़े देख उसने भी अपने जूते उतार दिए । गलीचे को लाँघकर वह आगे बढ़ा तो उसकी दृष्टि सोये हुए महाराज पर पड़ी । उन्हें जगाने की तो उसकी हिम्मत न हुई, पर पास बैठते ही उसे अपनी बेसमझी का ध्यान आया । उसने सोचा—‘अन्तःपुर में तो रानियाँ रहती हैं जिनके लिए ‘असूर्यपश्या राजदाराः’ की कहावत प्रसिद्ध है । फिर मैं यहाँ क्यों चला आया ! माना, महाराज का मैं बड़ा मुँहलगा हूँ, पर हैं तो वह राजा ही । यदि मेरे यहाँ आने से वह बिगड़ गए तो केवल नौकरी ही नहीं, जान भी जा सकती है ।’ इसी विचार ने बेचारे को परेशान कर दिया । वह घबराकर वहाँ से भागा, तो घबराहट में अपने जूते छोड़ दूसरे राजा के जूते पहन आया ।^१ परन्तु वह इतने पहरेदारों की नज़र से कैसे बच सकता था ? ड्यौढ़ी तक पहुँचने के पहले ही उसे इस अपराध में पकड़ लिया गया कि जहाँ पुरुषों का जाना सर्वथा मना है उस अन्तःपुर में वह कैसे घुस गया । सिपाही उसे पकड़ कर अपने नायक के पास ले आये । उधर राजा की आँख खुली तो उसने रानी से पूछा—“नया जड़ाऊ जूता पहनने का ज्योतिषी से मुहूर्त पूछा था, उसने क्या कहा ?” रानी बोली—“वह जूता है कहाँ, मैं भी तो ज़रा उसे देखूँ ।” इशारा पाते ही दासी जूता लेने गयी, पर उसे वहाँ वह न मिला । उसे इधर-उधर भाँकते देख, राजा भुँभला कर उठे—“हर काम में देर करती है, कोई समझ ही नहीं; अब जूता ही नहीं दीखता, जैसे उसे चोर ले गया है । हटो—हम स्वयं लाते हैं ।” दासी पर क्रोध कर महाराज जब दासी के पास पहुँचे, तो उन्हें अपने जूतों के स्थान पर किसी दूसरे के जूते नज़र आये । क्रोध तो

१ धावने त्वरमानेन स्वोपानद्विभ्रमेण हि ।

राज्ञ पादपरित्राणं धृतं बन्धनहेतुकम् ॥ हेरम्बमाहात्म्य ५।५६

चढ़ा ही था, भट रानी को डाँटकर बोले—“अन्तःपुर में, जहाँ पक्षी भी नहीं फड़कने पाता, वहाँ पुरुष कैसे आ गया ?” सहमी हुई रानी ने कहा—“देव ! इसका उत्तर मैं क्या दूँ ? अपने पहरेदारों को पूछिये ।” उसी समय अन्तःपुराध्यक्ष को बुलाकर डाटा जाने लगा । इतने में एक कंचुकी ने निवेदन किया कि चोर पकड़ लिया गया है । राजा क्रोध में ही थे, उन्होंने उसे वहीं ले आने की आज्ञा दी । जब सिपाही विनायक को राजा के सामने लाये, तो महाराज का पारा और भी चढ़ गया । बोले—“भिखमंगे के बच्चे ! इस कृतघ्न चरवाहे की नीचता देखो, इस नीच पर दया कर हमने इसे इतना उच्च पद प्रदान किया, समृद्धि दी, सम्मान दिया, उन सब उपकारों के बदले में यह राजकुल को कलंकित करने पर उतारू हो गया । दुराचारी, शास्त्र पढ़कर भी भूल गया कि राजपत्नी, गुरुपत्नी या माता मानी जाती है । यह जूता चुराने के लिए थोड़े ही अपनी जान को जोखम में डालने यहाँ आया होगा । इस नराधम का कोई और ही कुत्सित उद्देश्य जान पड़ता है । धन-मद ने इसे अन्धा बना दिया है । अपने वैभव को यह पचा न सका । इसलिए इस कामी की सभी सम्पत्ति हम जब्त करते हैं, जिससे इसके परिजन भूखों मरें और इसका सर्वस्व हरण कर इसे प्राण-दण्ड देते हैं जिससे यह पापी नरक में पड़ वहाँ की असह्य यातना सहन करे । अब इसका मुँह काला कर जूते लगाते ‘जूताचोर-जूताचोर’ कहते इसे समस्त नगर में घुमाओ, जिससे इसकी सारी प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल जाय । और नागरिकों से कहो—जो अपने महाराज से प्यार करते हैं, वे सभी इस दुराचारी को लातों और घूँसों से पीटकर इसका अपमान करें ।”

सिपाही उसे बाँधकर ‘जूताचोर-जूताचोर’ कहते नगर में घुमाने लगे और नागरिक राजभक्ति सूचित करने के लिए लात-घूँसे मार-मार कर उसका कचूमर निकालने लगे । विनायक मार खाते-खाते तंग आ गया । इस विपत्ति के समय उसके परिचित, मित्र कुछ तो राजा को रिझाने के लिए और बहुत-से इस भय से कि कहीं हम इसके

मित्र समझे जाकर राजकोप के भाजन न बन जायँ, उसे बराबर मार रहे थे ।

विनायक सोचने लगा—‘ऐश्वर्य इतना क्षणभंगुर है जो एक क्षण में मिट गया ! मैं तो उसके वर्श में पड़ा उसे अमर मान बैठा था । उसी के मद से मत्त हो मैं परमेश्वर को भूल बैठा था । मैंने जो एक लात^१ गणेशजी को मारी थी, उसी पाप के कारण क्या मुझे ये अनेक लातें खानी पड़ रही हैं ! हाय ! इस समय मेरी रक्षा करने वाला कोई नहीं । गणेश भगवान् ! मैं तो आपका बचपन से ही भक्त था । उस समय न जाने मेरी बुद्धि कैसे भ्रष्ट हो गई । मेरे अपराध को एक बार क्षमा करो, फिर कभी ऐसा न करूँगा । सर्वशक्तिमान् भगवान्, मैं आपकी शरण में हूँ, मुझे क्षमा कर मेरी रक्षा करो !’ यों प्रार्थना करते और मार खाते, जब वह राज-ज्योतिषी के घर तक पहुँचा, तो हल्ला सुन ज्योतिषीजी ने बाहर निकलकर पूछा—“अरे भाई ! क्या बात है ? कुछ हम भी तो सुनें !” कोतवाल ने नम्रता से कहा—“ज्योतिषी जी, महाराज ने नये जूते बनवाये थे, अभी वह पहनने का आपसे मुहूर्त भी न पूछ पाये कि इस दुष्ट ने चुरा लिये । उसी का यह दण्ड भोग कर मरने जा रहा है ।”

जूते के मुहूर्त की बात सुनते ही उन्हें प्रातःकाल की बात याद आई—राजा ने मुहूर्त शीघ्र बतलाने को कहा था, मैंने भाँग बहुत अधिक पी ली थी । नशे में सो गया, और अब रात होने को है । राजा स्वभाव के बड़े क्रोधी हैं, क्रोध में आकर न जाने क्या अनाप-शनाप बकें, अपमान करें, कोई बड़ी बात नहीं, दण्ड ही दे दें । उन्हें पूछने वाला कौन है ! विघ्नेश्वर भगवान्, अब तुम्हीं कोई रक्षा का उपाय सुझाओ ! यों सोचते ही उन्हें एक बात सूझी, विचार आया, बहाना अच्छा बन गया है । भगवान् ने कृपाकर यह अपराधी मेरे ही बचाव के लिए तो भेजा है । फिर झूठी क्रोध-मुद्रा बना कोतवाल से बोले—

१ लत्ता या चमया दत्ता प्रमत्तेन विनायके ।

लत्ताभिस्ताड्यमानः किं तेन गच्छामि रौरवे ॥ गणेशपु० १०।८६

“राजा के कल्याण के लिए वह जूता उठा लाने हमीं ने इसे भेजा था । उसका राजा ने यह फल दिया कि अपने ही उपकारी को पिटवाना आरम्भ कर दिया । पीछे जो अज्ञानवश हुआ, हो गया; अब यदि कोई इसे मारेगा, तो वह स्वयं मारा जायेगा । इसे हमारे पास लाओ ! हम राजा के पास स्वयं इसे ले चलते हैं ।”

अब जाकर विनायक को लात-घुँसों से त्राण मिला । उसने सोचा, ‘ज्योतिषी के रूप में गणेश भगवान् मेरी प्रार्थना से द्रवित होकर रक्षा के लिए स्वयं आये हैं; अब मुझे कोई भय नहीं, वह बड़े दयालु हैं, उन्होंने मुझे बचा लिया ।’ इस प्रकार विचार करते जब राजा के पास पहुँचे, तो राजा ने ज्योतिषी को देखते ही कहा—“आपको मुहूर्त्त बतलाने की फुरसत मिल गई ? बड़े काम रहते हैं न, अब आपकी रुचि काम करने को कम दीखती है ।”

ज्योतिषी बोले—“अन्नदाता, मुहूर्त्त उसी समय देख लिया था । मैं उसे बतलाने भी आना चाहता था, किन्तु मैंने अपनी विद्या से जान लिया कि श्रीमान् सोये पड़े हैं । मैं बड़ी मुश्किल में पड़ गया । आज वह मणिमय जड़ाऊ जूता पहनना बहुत ही खराब था । मुझे पूर्ण विश्वास था कि जो भी आज इस जूते को पहनेगा, उसका बहुत अपमान होगा । सर्वस्व छिन जायेगा । प्राण तक चले जाने का भय था । यदि यह न भी हो तो भी जूते, लात और घुँसों से उसके पिटने का योग अवश्य ही था । यह देख, कहीं आप यह जूता अपनी इच्छा से न पहन लें, मैंने आपके कृपा-पात्र श्री विनायकदत्त के मन में मन्त्र-बल से प्रेरणा की कि अपने आने की निशानी अपने जूते वहाँ छोड़कर उन मनहूस जूतों को उठा लावें । ऐसा करने से उसकी यह दया हुई; पर इसमें किसी का क्या दोष है, इसने वे जूते जो पहन लिये । उठा लाता तो कुछ न होता; पर जो होनी होती है वह होकर ही रहनी है । जूता पहनने वाले को मेरे हिसाब से यही होना था ।”

यह सुन राजा मन ही मन बहुत प्रसन्न हुआ कि उसकी बला उससे टलकर दूसरे पर जा पड़ी । इस खुशी में उसने ज्योतिषी को

बहुत धन दिया । हँसते हुए बोला—“अरे विनायक, तुम्हें मुफ्त में मार पड़ गई, पर कोई चिन्ता मत करो ! तुम्हारा कुछ नहीं बिगड़ा । तुम अपने पद पर पूर्ववत् प्रतिष्ठित किये जाते हो और सर्वस्व तथा प्राण-हरण की आज्ञाएँ, तुम पर कृपा कर, हमने रद्द कर दी हैं । अब तुम जा सकते हो ।”

यह सुन विनायक महाराज को प्रणाम कर घर गया तो उसने अपनी माँ को उसी स्थान पर, जहाँ प्रातः मूर्ति को लात मार उसे फेंकते समय उसने बैठी देखा था, प्रार्थना की मुद्रा में बैठे पाया । आते ही माँ के चरणों पर गिरकर बोला—“माँ, तेरा अपराधी बेटा मौत के मुँह से लौटकर आ गया है ।”

माता को विनायक के साथ आज-बीती का कोई ज्ञान न था । अपने विश्वास की उमंग में बोल उठी—“मैं पूजा जो कर रही थी फिर तेरा बालबाँका कैसे हो सकता था ! पर बेटा, फिर ऐसा न करना ; मेरे लाल ! भगवान् पर्वत को राई और राई को पर्वत बना सकते हैं । वही हमारे सर्वस्व हैं । उन्हें ऐसे फेंक तूने बहुत बुरा किया । तू पूजा नहीं करता तो मत करे, मुझे क्यों रोकता है !”

विनायक बोला—“माँ, अब तू जितना चाहे पूजन कर, मैं तुझे कभी न रोकूँगा ।” यह कह उसने आज की सभी घटना सुना दी ।

माँ बोली—“देखा, अपनी अवज्ञा का दण्ड और मेरी पूजा का फल ! मैं कहती थी न, बड़ा हो गया है तो क्या हुआ, उस बड़ा बनाने वाले से तो बड़ा नहीं । उसकी भक्ति किया कर !” विनायक ने कहा—“माँ, अब मैं भी तेरे साथ पहले की तरह ही पूजा किया करूँगा ।”

(गणेशपुराण, अ० १०; हेरम्बमाहात्म्य, अ० ५)

कामधेनु की वेडी

एक दिन हैहयवंशीय कार्तवीर्य अर्जुन अपने मित्रों तथा मन्त्रियों के साथ बहुत-सी सेना लेकर विन्ध्याचल के वन में शिकार खेलने गया। वहाँ इन लोगों ने शेर-चीते तथा बहुत मृगों का शिकार किया। दोपहर हुई, गर्मी बढ़ी, लू चली, पसीना चुआ, सैनिक थककर चूर हो गए; तब कहीं अर्जुन ने उन्हें मृगया बन्द कर बैठने की आज्ञा दी। राजा स्वयं एक सुन्दर बट-वृक्ष के तले अपनी मित्र-मण्डली के साथ विश्राम करने लगा और अन्य सभी सिपाही भी दूसरे वृक्षों के नीचे बैठ आराम करने लगे।

विश्राम के बाद राज-मण्डली ने नर्मदा में स्नान किया। जब दिन ढलने को हुआ तो राजा सेना-सहित अपने नगर को चला। मार्ग में नर्मदा-तट पर ही उन्हें एक बड़ा मनोहर आश्रम दिखायी दिया। वह आश्रम जमदग्नि मुनि का था। राजा सेना को आश्रम से कुछ दूर ही रुक जाने की आज्ञा देकर स्वयं अपने पुरोहित को साथ ले, आश्रम में ऋषि के दर्शन करने गया। वहाँ जा उसने जमदग्नि को प्रणाम किया। मुनि ने आशीर्वाद दे पास पड़े आसन पर बैठा राजा को विधिपूर्वक अर्घ्य दिया। फिर कुशल-क्षेम पूछ दोनों परस्पर बात-चीत करने लगे। थोड़ी ही देर बाद राजा ने मुनि से घर जाने की आज्ञा माँगी।

मुनि ने कहा—“आज यहीं ठहरकर आतिथ्य स्वीकार करें तो अच्छा हो।”

राजा व्यङ्ग-मिश्रित विनय से बोला—“ठहरने को तो कुछ नहीं, ठहर भी जाता, पर मेरे साथ बहुत-सी सेना है। वन में इतना सामान होने से आप हमारा आतिथ्य कर न पायेंगे। हाँ, यदि

आप अपने तप की शक्ति से आतिथ्य जुटा सकें, तो रह जाता हूँ। पर जाने दीजिये, सेना के सिवाय आज मेरे साथ कुछ ऐसे मित्र भी हैं जो बहुत ही आरामपसन्द हैं। रात में उन्हें ज़रा किसी बात की कमी हुई तो मुझे उम्र-भर कोसते रहेंगे। वैसे भी हमारे रहने से आप लोगों को व्यर्थ की परेशानी उठानी पड़ेगी।”

मुनि ताड़ गए कि राजा तपोबल को ढोंग समझकर व्यंग से यह सब कह रहा है। बोले—“नहीं, परेशानी बिल्कुल न होगी। आपके रहने से आनन्द बढ़ेगा। आज आप यहाँ अवश्य ही ठहरिये। मैं आपका तथा आपकी समस्त सेना का यथोचित अतिथि-सत्कार करूँगा। आपको कोई उलाहना नहीं आने दूँगा; निश्चित रहिये!” यों कहकर मुनि ने तपोबल के फल-स्वरूपा कामधेनु को बुलाकर कहा—“मेरे अतिथियों का यथायोग्य सत्कार करो!”

मुनि की आज्ञा पा उस कामधेनु ने वहीं वन में स्वर्गपुरी के महलों के समान अनेक भवन बना दिये, जिनमें विविध प्रकार के मनोहर चित्र लगे थे। कमरों में स्वर्ण-सिंहासन और पीठ थे। प्रत्येक प्रासाद में अनेकों भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य तथा पेय पदार्थ पड़े थे। और सेवा के लिए हर महल में मनोहर वेष-भूषा से सुसज्जित विनम्र मधुरभाषी सेवक तथा सेविकाएँ भी थीं। सभी घरों में राग-रंग हो रहा था। ऐसे एक-दो महल नहीं, उनका एक पूरा नगर था। इस नगर में साफ-सुथरी सड़कें थीं, चौराहे थे। जगह-जगह पर उद्यान थे जिनमें सुन्दर तालाब थे। चंपक, मंदार, कुन्द, करवीर, यूथिका जाति आदि के फूल तथा प्रत्येक ऋतु के फलों वाले वृक्ष थे। इस पर विशेषता यह थी कि हर ऋतु के फल-फूल उन बागों में एक-साथ महक रहे थे। उन पुष्पों की इतनी सुगन्ध थी कि सारा नगर सुगन्ध से महक रहा था। शीतल, मन्द, सुगन्धित वायु चल रही थी। एक विशाल मैदान में शामियाने तथा कनातें लगाकर कई विशाल मण्डप बनाये गए थे। ये मण्डप भी सब प्रकार से सुसज्जित थे। सब में वृक्ष-दीप लगे थे। यह सब बनाकर कामधेनु ने ऋषि से निवेदन

किया—“भगवन्, राजोचित आतिथ्य के लिए सभी सामान तैयार हो गया है।”

यह सुन ऋषि ने अपने एक शिष्य को आज्ञा दी कि वह राजा को सम्मानपूर्वक बुला लाये। आज्ञा पाते ही उसने जाकर राजा से कहा, “महाराज ! गुरुजी की आज्ञा है कि अतिथि अब पधारें, जिससे हम लोग उनका अतिथि-सत्कार का सौभाग्य प्राप्त कर सकें।”

मुनि की आज्ञा पा, राजा दल-बल सहित चला, और जब वह अपने स्वागत के लिए बनी उस पुरी के पास पहुँचा तो अकल्पित ठाठ-बाठ देख वह दंग रह गया। वह मन-ही-मन बहुत प्रसन्न और आश्चर्य-चकित हुआ। यह सत्य है, स्वप्न है वा माया है, या क्या है—वह कुछ न जान सका। उसने सोचा, क्या यह ऋषि का योग है या किसी का जादू तो नहीं !

राजा यों सोच ही रहा था कि वहाँ के असंख्य नागरिकों ने आगे बढ़कर राजा का जय-ध्वनि से स्वागत-सत्कार किया और राजमार्ग के दोनों ओर के ऊँचे-ऊँचे प्रासादों पर से स्त्रियों ने चल रहे राजा पर पुष्प तथा लाजाओं की वर्षा की। राजा को आज पहली बार बल तथा तपोबल से संचित सम्पत्तियों के भेद का ज्ञान हुआ। वह चुप न रह सका, मुक्त कण्ठ से तपःशक्ति की प्रशंसा करता हुआ उस स्थान पर पहुँचा जो उसके आतिथ्य के लिए निश्चित था। वहाँ उसके पहुँचते ही असंख्य कण्ठों से निकलते हुए जन-समुदाय के जय-घोष से आकाश गूँज उठा। तिमंजले महल में राजा को विश्राम दिया गया। वह प्रासाद प्रकाश-दीपों से जगमगा रहा था। उसमें स्वर्ण के पलंगों पर रेशमी बिछौने बिछे थे। सब ओर बाजे बज रहे थे। सुगन्ध की महक आ रही थी। राजा के बैठते ही नाच-गान शुरू होने लगा। तदनन्तर सभी ने विविध प्रकार के स्वादिष्ट भोजन, मिठाइयाँ तथा अनेक तरह के फल भर-पेट खाये। फिर संगीत शुरू हुआ। वहाँ के उस संगीत ने राजा तथा उसके साथियों को मुग्ध कर दिया। इसी राग-रंग में राजा की आधी रात बीत गई। इस बीच राजा ने अनेक

बार अपनी आँखें मल-मलकर सोचा कि यह कहीं स्वप्न तो नहीं, पर उसे यह सब सत्य ही प्रतीत हुआ। तब आधी रात को चकितचित्त राजा उस सभा को विसर्जित कर शयन के कमरे में जाकर स्वर्ण के पलंग पर सो गया। सभी मंत्री तथा सेना भी ऐसे अपूर्व सुख से आह्लादित हो परस्पर कहने लगे—“हमें अपने घरों वा धनों से क्या लेना है ! अब हम तो सब यहीं रहेंगे।”

प्रातः होते ही सूत, मागध तथा बन्दियों ने अपने सुरीले स्वर से स्तुति कर राजा को जगाया। राजा के जागने पर फिर बाजे बजने लगे और गायकों का गाना शुरू हुआ। राजा के जग जाने पर उसके मन्त्रियों ने उसका अभिवादन किया। तदनन्तर ये सब जमदग्नि ऋषि के पास गये। आज राजा की भावना कल जैसी कलुषित न थी, उसमें सच्ची विनय थी, श्रद्धा थी तथा आश्चर्य था। वहाँ जाकर सबने ऋषि को दण्डवत् किया। सबके बैठ जाने पर ऋषि ने पूछा—“राजन् ! आपकी रात सुख से तो कटी है न ?” राजेन्द्र, हम वन में जंगली वस्तुओं से जीवन बिताने वाले, पशुओं के समान जो मिले, उसी से निर्वाह कर लेते हैं।” परन्तु शहरियों के लिए वन में रहना, बड़ा ही मुश्किल होता है। क्योंकि जिस चर्या का अभ्यास न हो, निश्चय ही वह सभी के लिए दुष्कर हुआ करती है। आपने साथियों समेत एक बार वन में रहने का जो कष्ट सहा, यह सचमुच आपका बड़प्पन है।” यह सुन मारे शर्म के पसीना-पसीना हुए राजा ने कहा—“अब अधिक लज्जित न कीजिये। आपकी अद्भुत शक्ति

१ एवं तदा नरपते रनुयायिनस्ते

नानाविधोचित सुखानुभव प्रतीताः ॥

अन्योन्य मूचुरिति गेहधनादिभिर्वा

किं साध्यते वयमिहैव वसाम सर्वे ॥ ब्रह्माण्ड, उपो, अ० २७।४६

२ उवाच रजनी व्युष्टा सुखेन तव किं नृप ॥ १५

३ अस्माकमेव राजेन्द्र ! वने वन्येन जीवताम् ।

शक्यं मृगसधर्माणां येन केनापि वर्तितम् ॥ १६

को रात हम सबने अपनी आँखों देख लिया है । इसके सामने हमारे सभी ऐश्वर्य तुच्छ प्रतीत होते हैं । आपके प्रभाव से उत्पन्न वैभव को पाकर मेरे सभी सैनिक भी दंग रह गए हैं । कोई यहाँ से अब जाना ही नहीं चाहता । मैं समझता हूँ, आप जैसे महापुरुषों के प्रताप से यह संसार चल रहा है । यह मेरा अहोभाग्य है कि आप जैसे शक्तिशाली मेरे राज्य में विराजमान हैं । कृपया मुझे अब आज्ञा दें, तो मैं यहाँ से चलूँ ।”

इस प्रकार मुनि से आज्ञा ले सेना-सहित वह अपने नगर की ओर चल पड़ा और मार्ग में तपस्या के प्रभाव तथा उस धेनु के अद्भुत कार्यों का स्मरण कर अपने सभी साथियों को कहने लगा—“हम सबने जो देखा है, सुना है, क्या वह स्वप्न था या सत्य था ! स्वप्न तो उसे नहीं कह सकते—एक स्वप्न किसी एक को होता है, किन्तु एक-सा ही स्वप्न सभी देखें, यह तो असम्भव बात ही है । परन्तु एक ही क्षण में वह सभी कुछ अपने-आप ही बन गया, इसे भी सत्य कैसे मान लें ! एक दम जंगल में मंगल हो गया, यह कोई इन्द्रजाल का तमाशा तो हमने नहीं देखा ? कहीं उस तपस्वी ने योगशक्ति से हम सब के मनों पर प्रभाव डाल हम सब की मनो-बाञ्छित तथा मनश्चिन्तित वस्तुएँ माया से तो नहीं दिखा दीं ? पर जो भी हो, वह और उसकी यह योगशक्ति अद्भुत है”—यों कहता हुआ वह अपने नगर में पहुँच गया ।

[ब्रह्माण्डपुराण, उपोद्घातपाद, अ० २८]

३ अरण्ये नागराणां तु स्थितिरत्यन्तदुःसहा ।

अनभ्यस्तं हि राजेन्द्र ! ननु सर्वं हि दुष्करम् ॥१७

४ वनवासपरिक्लेशं सानुरोगो सकृद् भवान् ।

आप्तस्तु भवतो नूनं सा गौरवसमुन्नतिः ॥ ब्रह्माण्ड०, उपो० २८।१८

मैंने उसे देखा

अनन्त ने कहा—मेरे माता-पिता पुरी नामक नगर में रहते थे । वे बड़े धनी थे । मैं उनके बुढ़ापे की सन्तान था, अतः वे मुझे बहुत प्यार करते थे । अभी मैं जवान हो पाया था कि उन्होंने मेरा विवाह कर दिया । थोड़े ही दिनों में मैं स्त्री के वश हो सभी काम-काज छोड़ हर समय घर में रहने लगा । इससे सभी काम ठप्प होने लगे । अकस्मात् माता-पिता दोनों की मृत्यु हो गई । इससे मुझे बड़ा धक्का लगा । उससे मेरी वासना-आसक्ति भी कुछ कम हुई । अब मैं उस धन-जन के दुःख-शोक को भुलाने के लिए विष्णु की आराधना करने लगा । मेरे जप-पूजा आदि कर्मों से भगवान् संतुष्ट हुए ।^१ उन्होंने मुझे स्वप्न में दर्शन देकर सान्त्वना देते हुए कहा—‘इस संसार में स्नेह-मोह आदि ये सब मेरी माया हैं । यह मेरा धन है, यह पिता-माता, यह पुत्र-कलत्र आदि-आदि—ऐसी ममता से जिनका मन आकुलित होता है, वे मेरी माया के द्वारा शोक, दुःख, भय-उद्वेग, जरा-मृत्यु आदि क्लेशों का अनुभव करते हैं ।’

मैं विष्णु का वाक्य सुन जैसे ही इनका प्रतिवाद करने को उद्यत हुआ कि वह अन्तर्हित हो गए और मेरी नींद टूट गई । मुझे इससे बड़ी हैरानी और बेचैनी हुई । उसी दिन पुरी को छोड़ मैं और मेरी पत्नी दोनों नीलाचल में आ गए । वहाँ पुरुषोत्तम (नीलाचल) में आश्रम बना मैं अपनी पत्नी तथा अनुचरों के साथ बस गया और नित्य

१ तुष्टो हरिर्मे भगवान् जपपूजादिकर्मभिः ।

स्वप्ने मामाह मायेयं स्नेह-मोहविनिमिता ॥२६

२ श्रुत्वेति वचनं विष्णोः प्रतिवादार्थमुद्यतम् ।

माया लक्ष्मन्तर्हितः स विनिद्रोऽहं ततोऽभवम् ॥ कल्किपुराण, अ० ४।२।२८

नारायण की सेवा करने लगा । मैं विष्णु के वास-स्थान में इसलिए आकर रहा कि मैं उसकी माया को देख सकूँ । अपनी बढ़ती हुई इस इच्छा से मैंने नृत्य-गान तथा हरि-भजन खूब मन लगाकर किया । वहाँ इस प्रकार करते मुझे १२ वर्ष व्यतीत हो गए । एक बार द्वादशा के दिन पारणा से पहले मैं बन्धु-जनों के साथ स्नान के लिए समुद्र के किनारे गया । वहाँ ज्यों ही मैंने समुद्र में गोता लगाया कि मैं भयंकर तरंगमाला के थपेड़ों में फँस गया और उनसे निकलने का सामर्थ्य मुझमें न रहा । तब मत्स्यादि जलचरों ने मुझे खूब सताया । मैं विवश होकर कभी उछलने तथा कभी डूबने लगा और जल के हिलोरों से अचेत हो गया । फिर वायु के वेग से दूर कहीं समुद्र के दक्षिण तट पर एक जगह जा लगा । इतने में वृद्धशर्मा नामक एक ब्राह्मण उस दशा में मुझे देख दया कर उठा लाया । कुछ देर उसके उपचार करने से मुझे जब होश आया, तो वह मुझे अपने घर ले गया । उस दयालु ने मेरी चिकित्सा कराकर मुझे नीरोग किया । मैं कहाँ आ गया हूँ, इसका मुझे ज़रा भी ज्ञान न रहा । अतः मैं वहीं रहने लगा । उसने मेरा अपने पुत्र के समान लालन-पालन किया ।

यद्यपि घर छूटने का मुझे दुःख था, अपनी पत्नी की याद भी सताती थी, पर अब घर पहुँचना असम्भव मान कर उस ब्राह्मण-दम्पती को ही मैं अपने माता-पिता मानने लगा ।

उस ब्राह्मण ने भी मुझे वेद-पाठी ब्राह्मण जान, मेरे गुणों पर मुग्ध हो, अपनी चारुमती कन्या का विवाह मुझसे कर दिया । मैं वैसी सुन्दरी सुशीला पत्नी को पा पहला सभी-कुछ भूल-सा गया ।

अब मैं वहाँ बड़ी प्रसन्नता से रहने लगा । मेरे घर बुध, जय, विजय, कमल और विमल नाम के पाँच पुत्र हुए । मैंने वहाँ खूब धन कमाया और ख्याति प्राप्त की । मेरा बड़ा पुत्र बुध जवान हो गया । मैंने उसकी सगाई वहीं के धर्मसार नामक प्रसिद्ध ब्राह्मण की कन्या से की । कुछ ही दिनों के अनन्तर बुध के विवाह का मुहूर्त निश्चित कर मैं विवाह की तैयारी करने लगा । उस विवाह के उपलक्ष में कई दिन

पहले से ही घर में खूब नाच-गान होने लगा । विवाह से एक दिन पहले नगर-भर के ब्राह्मणों को निमन्त्रण दे पुत्र के अभ्युदय की कामना के लिए नन्दी श्राद्ध कर मैं देव, पितर तथा ऋषियों का तर्पण करने समुद्र पर आया । स्नान के लिए ज्यों ही डुबकी लगाकर उठा कि मैंने देखा—मैं पुरुषोत्तम क्षेत्र में हूँ और मेरे पहले के सभी साथी तथा नौकर-चाकर स्नान और सन्ध्या-वन्दन कर रहे हैं ।

यह देख मैं बहुत उद्विग्न हुआ, मेरे आश्चर्य का कोई ठिकाना न रहा । मैंने देखा—पुरुषोत्तमनिवासी ब्राह्मण अभी द्वादशी के पारण की तैयारी कर रहे हैं । बहुत वर्ष पहले द्वादशी की पारणा के लिए स्नान करते मैं समुद्र में डूबा था, आज सहसा निकला तो मैंने देखा, उस दिन स्नान करते मेरा जैसा रूप था, आयु थी, मैं ठीक अब भी वैसा ही था । वे सभी पुरुषोत्तम-क्षेत्र के निवासी मुझे पूछने लगे—“अनन्त ! तुम इस प्रकार हैरान क्यों हो रहे हो ? विष्णुभक्त ! तुमने क्या जल में या स्थल पर कुछ देखा है ? जो इस प्रकार व्यग्र हो रहे हो । जो देखा हो, वह कहो और पारणा करो ।”

मैं उनसे क्या कहता ! मैंने कहा—“लोगो, मैंने कुछ नहीं देखा ; जो देखा उसे एक स्वप्न समझो । परन्तु मैं अत्यन्त उद्विग्न तथा क्षुब्ध-बुद्धि हूँ जो भक्ति-फल में भगवान् को नहीं, उनकी माया को देखना चाहता था ।”

इस समय उसी हरि की माया से किकर्तव्यविमूढ़ होकर मेरी इन्द्रियाँ व्याकुल हो रही हैं । मैं स्नेह तथा मोह के वश हो, ऐसा हो गया हूँ कि किसी प्रकार भी न चेत सका । मैं नहीं कह सकता कि मैं कहाँ तक अपने-आप को भूल गया हूँ । इस प्रकार जो मोह-ममता में फँस मेरी तरह भगवान् को भूल उसकी माया के पीछे पड़े हैं मैं समझता हूँ चिन्ता-रूपी चुड़ैल उन्हें भी सदा मेरी ही तरह सताती होगी । मैं दुःखी हूँ, तो वे दुःखी क्यों न होंगे ! मैं क्या कहूँ ? मैं कुछ समझ

१ कामात्मा तत्कृपणधी मय्या संदर्शनादृतः ।

तथा हरेमयियाऽहं मूढो व्याकुलितेन्द्रियः ॥ क० पु० ४।२।५१

नहीं सका। क्या मैं यह हूँ, या वह हूँ ! मुझे यह स्वप्न हो रहा है या सत्य है ! किन्तु मुझे तो सभी बातें स्वप्न-सी जान पड़ती हैं।

इतने में मेरी पहली भार्या मुझे इस विह्वल अवस्था में देख रोने लगी—“अरे इन्हें क्या हो गया ? अभी-अभी तो यह नहाने आये थे।”

पुरुषोत्तम-क्षेत्र में मैं अपनी इस पहली स्त्री को देख और अपने उन स्त्री-पुत्रों की याद कर अत्यन्त दुःखी होने लगा। उसी समय वहाँ एक परमहंस आ गए। वे मुझसे बोले—“क्या तुम चारुमती के पति हो ? वे बुध, जय आदि पाँच पुत्र तुम्हारे ही हैं ? अरे ! अपना धन-धान्य से पूर्ण इतना बड़ा मकान छोड़कर तुम यहाँ कब आये हो ? आज तो तुम्हारे पुत्र के विवाह का दिन है न ? मैंने आज भी वहाँ तुम्हें समुद्र के किनारे घूमते देखा था। वहाँ के सभी लोग तुम्हें बड़ा मानते हैं। तुमने अपने पुत्र के विवाह में आज हमें भी निमन्त्रण दिया था। तुम अपने नगर से यहाँ कैसे आ गए और शोक से ग्रसित क्यों हो ? मैंने तुम्हें वहाँ ७० वर्ष का वृद्ध देखा था^१, पर अब यहाँ तुम ३० वर्ष के युवा हो। इसका क्या कारण है ? इससे हमें बड़ा अम-सा हो रहा है।^२ मैं देखता हूँ कि यह नारी तुम्हारी भार्या है, परन्तु इसको मैंने वहाँ पहले कभी नहीं देखा। यह कहाँ से आयी ? मैं भी कहाँ से किस प्रकार कहाँ आया, गया और कौन मुझे यहाँ पर ले आया ? तुम क्या वही अनन्त हो या कोई और हो ? मैं भी क्या वही भिक्षक हूँ या और कोई हूँ ? तुम्हारा हमारा इन सब व्यक्तियों का यहाँ पर मिलाप इन्द्रजाल के समान जान पड़ता है। तुम एक स्वधर्म-निष्ठ गृहस्थ और मैं एक भिक्षुक ब्राह्मण ! हमारा यह कथोपकथन बालक और मतवाले के कथोपकथन के समान असम्बद्ध प्रतीत होता है। ब्राह्मण, जान पड़ता है, यह सभी जगदीश की माया है। इसी से

१ त्वञ्च सप्ततिवर्षीयस्तत्र दृष्टो मया प्रभो !

२ त्रिशद्वर्षीयवत्कस्मादिति मे संभ्रमो महान् ॥

त्रिलोकी के समस्त जीव मोहित हो रहे हैं^१ और यही तू देखना भी चाहता था । पर परमेश्वर की यह माया बड़ी ही बलवती है । ब्रह्मा से लेकर क्षुद्र कृमि तक सभी जीव उसके वश में है । जैसे नकेल से नथे बैल और रस्सी से बँधे पक्षियों को, जिसके हाथ में उनकी रस्सी हों उसी के इशारे पर चलना पड़ता है, ठीक वैसे ही माया के बन्धन में बँधे सभी प्राणियों की दशा है ।^२

“अरे अनन्त ! उस अनन्त भगवान् की माया भी अनन्त है । किन्तु मूर्ख ! तू अपने-आप को अनन्त मान, उसका अन्त लेना चाहता था । ले लिया उसका अन्त ? देखी वह माया ? बता, इससे तुझे कुछ हाथ आया या आगे से भी अधिक बेचैनी हुई ? अनन्त ! अब अपनी इस सनक को छोड़ ; उस अनन्त भगवान् को देखने का प्रयत्न कर, जिनके दीख जाने पर सभी कुछ अपने-आप दिखायी देने लगता है । तू माया को देखने की इच्छा छोड़कर मायापति को देखने का प्रयत्न कर । इसी में सुख और यही सच्चा शान्ति-पथ है ।” यों कहते-कहते वह साधु भी वहीं अदृश्य हो गया । तब मैं भी समुद्र के जल से निकल किसी को कुछ बतलाये बिना सबकी आँख बचाकर अपनी ओर से मोह, माया, ममता का त्याग कर, निर्जन वन में चला आया था । यहाँ मैंने बड़े विधि-विधान से तपस्या आरम्भ की,^३ किन्तु मैं मन और इन्द्रियों को किसी प्रकार भी वश में न कर सका ।^४ वन में बैठकर जब भी पारब्रह्म का ध्यान करता, उसी समय निरन्तर स्त्री, पुत्र, धन वा अन्य बातें मुझे याद आया करतीं ।^५ मेरे अन्तःकरण में स्त्री, पुत्र, ऐश्वर्य आदि

१ तस्मादीशस्य मायेयं त्रिजगन्मोहकारिणी ॥ क० पु० २५।६

२ अहो बलवती माया ब्रह्माद्या यद्वशे स्थिताः ।

गावो यथा नसि प्रोता गुणबद्धाः खगा इव ॥ कल्किपु० ५।१६

३ अतोऽहं वनमासाद्य तपः कृत्वा विधानतः ॥

४ नेन्द्रियाणां न मनसो निग्रहोऽभूत्कदाचन ॥ २५

५ वने ब्रह्म ध्यायतो मे भार्यापुत्रधनादिकम् ।

विषयञ्चान्तरा शाश्वत्संस्मरयति मे मनः ॥ २६

की याद आते ही दुःख, शोक, भय आदि घर बनाने लगे । इससे मेरा अन्तरात्मा अत्यन्त व्याकुल होता, मेरे ध्यान-धारणा में विघ्न हुआ करता ।^१ यह देख मैंने इन्द्रियों को नष्ट करने का संकल्प किया । मैंने विचारा—‘निःसन्देह इन्द्रियों को नष्ट करते ही मन को वश में कर सकूंगा ।’^२ जब मैं इस प्रकार से संकल्प कर इन्द्रियों को नष्ट करने लगा, तब इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता लोग अकस्मात् अपना रूप धारण कर मेरे सामने आ मुझे कहने लगे—“अनन्त ! हम इन्द्रियों के अधिष्ठाता देव हैं और तुम्हारे शरीर में निवास करते हैं, हमें नखों के अग्रभाग की तरह काट कर नष्ट करना तुम्हें उचित नहीं । ऐसा करने से तुम्हें कोई लाभ होगा या इससे मन को तुम वश कर सकोगे, यह बात भी नहीं ।^३ इन्द्रियों को छिन्न-भिन्न करने से मर्मों की व्यथा से तुम्हीं मर जाओगे । जीते भी रहे तो दुःखी रहोगे ।”^४

“हम देखते हैं, अन्धे बहरे और विकल इन्द्रियों वाले मनुष्यों के मन भी विषय-भोग की लालसा से लोलुप हो जाया करते हैं । अरे ! यह शरीर गृहस्वरूप है । आत्मा यहाँ का गृहपति और बुद्धि उसकी गृहिणी तथा मन मुख्य परिचर है और हम बुद्धि के अनुगत किकर । किन्तु तेरी बुद्धि अपने अज्ञान के कारण हमसे स्वयं काम नहीं लेती, इसीलिए हमें मन का कहना करना पड़ता है । तुम अपने मन को सम्हालो । यही तेरे बन्धन तथा मोक्ष का कारण है । पर यह बड़ा बलवान् है । तेरे बस का नहीं । इसे वश में करने के लिए तू किसी

१ तेषां स्मरणमात्रेण दुःखशोकभयादयः ।

प्रतुदन्ति मम प्राणान् धारणाध्याननाशकाः ॥२७

२ ततोऽहं निश्चितमतिरिन्द्रियाणाञ्च घातने ।

मनसो निग्रहस्तेन भविष्यति न संशयः ॥२८

३ इन्द्रियाणां वयं देवास्तव देहे प्रतिष्ठिताः ।

नखाग्रकाण्डसंभिन्नान्नास्मान् कर्तुमिहार्हसि ॥३१

४ न श्रेयो तवानन्त ! मनोनिग्रहकर्मणि ।

छेदने भेदनेऽस्माकं भिन्नमर्मा मरिष्यसि ॥ क० पु० २।४।३२

बलवान् का सहारा ले । इसके लिए तुझे कहीं दूर नहीं जाना पड़ेगा, तेरे अन्दर भगवान् विराजमान हैं उनसे विनय कर । उनकी कृपा होते ही यह अपने-आप तेरे वश में हो जायगा ।”

देवों की बात सुनते ही मैं सभी साधन छोड़ भक्ति में लग गया । मेरी भक्ति से भगवान् विष्णु प्रकट हुए । मैं बोल उठा—“मैंने आज रूपहीन का रूप देखा है । कौन कहता है, उसके पाँव नहीं ? मैंने उन्हें आप छुआ है । अरे लोगो ! तुम कहते हो, उसका मुँह नहीं, पर मैंने उसे बोलते सुना है । तुम उस परमात्मा को नाम-रूपहीन भले ही कहते रहो, किन्तु मैंने भक्ति से ‘विष्णु-विष्णु’ कहकर प्रत्यक्ष पा लिया है ।”

[कल्किपुराण, द्वितीयांश, अध्याय ४]

१ दृष्टं रूपमरूपस्य स्पृष्टस्तत्पादपल्लवः ।

अनास्यस्य श्रुतं वाक्यमवाच्यस्य परात्मनः ॥ कल्किपु० २।६।०

दुःख-निवृत्ति का उपाय

‘रहूगण’ सिन्धु और सौवीर दोनों देशों का राजा था ।^१ बहुत धन, मान तथा ऐश्वर्य पाकर भी उसका मन शान्त न था । वह जानना चाहता था कि इस दुःखमय संसार में क्या कोई ऐसा उपाय है जिससे मनुष्यों के दुःख सदा के लिए दूर हो जायें ।^२ यही जानने के लिए वह पालकी पर सवार हो इक्षुमती नदी के तट पर रहनेवाले कपिलमुनि के आश्रम पर जा रहा था ।^३ दूर का रास्ता था । दैवयोग से राजा की पालकी का एक कहार बीमार हो गया । पालकी उठाने के लिए एक मनुष्य की आवश्यकता पड़ी । यात्रा का प्रबन्धक वन में किसी बेगारी की खोज में निकला । भरत मुनि को मोटा-ताजा देख उसने सोचा, ‘आदमी हट्टा-कट्टा होने से काफी बोझा उठा सकेगा’, ऐसा सोचते ही भरत जी को राजा की पालकी उठाने के लिए बेगार में पकड़ लाया । भरत भी यह समझ कर कि उनके किसी पूर्व-जन्म का यह फल उन्हें मिलने लगा है,^४ चुपचाप पालकी उठा कर चल तो पड़े, पर चलते समय यह देखते चलते थे कि कहीं उनके पाँव-तले आकर कोई कीड़ा-मकोड़ा न दब जाय, और कहार चलते थे बिना देखे । इसलिए मुनि की धीमी और कहारों की तेज चाल आपस में मेल नहीं खा रही थी । इससे जब पालकी टेढ़ी-सीधी होने लगी, तो राजा ने कहा—“अरे कहारो ! यह क्या करते हो, समान गति से चलो !” जब पालकी

१ सिन्धु सौवीरपते रहूगणस्य व्रजतः ॥ भागवत ५।१०।१

२ श्रेयः किमत्र संसारे दुःखप्रायेनृणामिति ।

३ प्रष्टुं तं मोक्षधर्मज्ञं कपिलाख्यं महामुनिम् ॥ विष्णुपु० २।१३।५४

४ स राजा शिविकारूढो गन्तुं कृतमतिर्द्विज ।

५ बभूवेक्षुमतीतीरे कपिलर्षेर्वराश्रमम् ॥ वि० पु० २।१३।५३

६ गृहीतो विष्टिना ज्ञानी उवाहात्मक्षयाय तम् ॥ अग्निपु०, अ० ३८०।४

विषम गति के कारण फिर ऊँची-नीची हुई तो राजा ने फिर कहा—
“सुनते नहीं हो ? एक-सी चाल क्यों नहीं चलते ?” तब वे तीनों
कहार राजदण्ड के भय से भीत होकर बोले—“नरनाथ ! हमारा
दोष नहीं, हम ठीक चल रहे हैं; पर यह जो अभी-अभी पालकी में
लगा है, यह ठीक नहीं चल रहा । इसके साथ पालकी लेकर चलने में
हम सर्वथा असमर्थ हैं ।” यह सुन राजा के मन में आया—‘यह मोटा
आदमी बेगार से इनकार करता जान पड़ता है, पर यदि इसे छोड़ दूँ
तो इसकी देखा-देखी दूसरे भी इनकार करने लगेंगे, क्योंकि संसर्ग से
यह दूषित भावना सभी मिलने-जुलने वालों में छूत की बीमारी की
तरह फैल सकती है ।’ इसलिए इसकी इस भावना को अभी दबा देना
ठीक रहेगा ।’ यह सोच राजा ने भरत को कहा—“अरे, अभी-अभी
तूने मेरी पालकी उठायी है, और इतना थोड़ा मार्ग चलकर ही कैसे
थक गया ?’ मोटा तो तू बहुत है, पर श्रम क्यों नहीं सह सकता ?
क्या तू जीवित ही मृत है जो मेरा निरादर कर राजाज्ञा का उल्लंघन
कर रहा है ? तू कोई प्रमादी दीखता है । पर मैं अभी तेरा इलाज
कर तेरे होश ठिकाने किये देता हूँ ।”

यह सुन भरत ने बड़े शान्त भाव से कहा—“न मैं मोटा हूँ और
न ही मैंने आपकी पालकी उठायी हुई है । मैं थका भी नहीं हूँ, और न
मुझे श्रम को सहने की ही जरूरत है ।” राजा ने कहा—“अरे, प्रत्यक्ष

१ नानेन सह वोढुमु ह वयं पारयाम इति ॥ भा० ५।१०।४

२ सांसर्गिको दोष एव नूनमेकस्यापि सर्वेषां सांसर्गिकाणां भवितुमर्हतीति ॥

भा० ५।१०।४

३ किं श्रान्तोऽस्यल्पमध्वानं त्वयोढा शिविका मम ।

किमायाससहो न त्वं पीवानसि निरीक्ष्यसे ॥ अग्निपु० ३८०।६

४ किमिदमरे त्वं जीवन्मृतोऽसि मां कदर्थीकृत्य भर्तृशासनमतिचरसि ।
प्रमत्तस्य ते करोषि चिकित्सां यथा प्रकृतिं स्वां भजिष्यस इति ॥

भा० ५।१०।७

५ नाहं पीवान् न वै वोढा शिविका भवतो मया ।

न श्रान्तोऽस्मि न वायासो वोढव्योऽसि महीपते ॥ अग्निपु० ३८०।७

दीख रहा है कि तू मोटा है और पालकी अभी भी तूने उठा रखी है ! ”
 भरत बोला—“जो तू प्रत्यक्ष देख रहा है, पहले उसी की बात कर^१,
 बाकी बात फिर सही । तेरा यह कहना कि, ‘मैंने तेरी पालकी उठायी
 है और वह अब भी मुझ पर है’ यह तुझे मिथ्या भ्रम हो रहा है । जरा
 ध्यान से देख—पृथ्वी पर पाँव हैं, उन पर टाँगें, टाँगों पर ऊपर का
 धड़ है, उस पर कन्धे और उन पर पालकी रखी है । इसका मुझ
 (आत्मा) पर बोझ कैसे हुआ ? जिसे तेरा कहा जाता है, वह तेरा
 शरीर इस पालकी में पड़ा है । अतः तुम्हारा यह कहना भी ठीक नहीं
 कि तुम पालकी में बैठे हो और मैं पृथ्वी पर खड़ा हूँ^२; क्योंकि आत्मा
 एक है और वह सब जगह विद्यमान है । आत्मा में कभी वृद्धि वा ह्रास
 नहीं होता, फिर मैं मोटा और तुम पतले कैसे हुए ? राजन् ! मोटापा
 शरीर में होता है, आत्मा में नहीं ।” यह सुनते ही राजा पालकी से
 उतर मुनि के चरणों में गिर पड़ा और क्षमा माँगते हुए उनसे पूछा—
 “आप कौन हैं ? और किस निमित्त से आपका यहाँ आना हुआ है ?”
 भरत बोले—“मैं कौन हूँ, यह तो मैं बतला नहीं सकता; पर यहाँ
 (संसार में) आना-जाना सभी का कर्मानुसार दुःख-सुख भोगने के लिए
 ही होता है ।”

राजा ने कहा—“कर्म से जन्म होता है, आपकी यह बात तो मैं
 समझ गया । परन्तु आपने जो यह कहा कि ‘मैं कौन हूँ, यह बताना नहीं
 सकता’—इस ‘मैं’ की बात को ही मैं सुनना चाहता हूँ और साथ ही
 यह भी जानना चाहता हूँ कि ‘जो (सदा) है वह (आत्मा) मैं
 हूँ ।’—यह क्यों नहीं कहा जा सकता ?”

भरत बोले—“तुम ठीक कहते हो राजन् ! अहं (मैं) शब्द का
 आत्मा के लिए प्रयोग करना कोई दोष की बात नहीं; परन्तु लोग

१ प्रत्यक्षं भवता भूप यद् दृष्टं मम तद्वद ॥ वि० २।१३।६४

२ श्लिविकायां स्थितं चेदं देहं त्वदुपलक्षितम् ।

तत्र त्वमहमप्यत्र प्रोच्यते चैदमन्यथा ॥ अग्निपु० ३८०।१०

३ तच्छ्रुत्वोवाच राजा त्वं गृहीत्वाङ्घ्री क्षमाप्य च ॥ अग्नि ३८०।१६

प्रायः अपने जड़ शरीर की ओर संकेत कर 'अहं' (मैं) शब्द का प्रयोग करते हैं, यही भ्रांति की बात है। तुम ही कहो, तुम सिर हो, या तुम्हारा सिर है ? इसी प्रकार और सभी अङ्गों का भी सोचोगे तो जान लोगे कि सिर, हाथ, पाँव, पेट-पीठ इनमें से कोई तुम (आत्मा) नहीं।^१ ये सब तुमसे (आत्मा से) भिन्न हैं; अतः राजन् ! मैं इस अहं (मैं) का प्रयोग कहाँ करूँ ? दूसरी बात यह भी है कि यदि मुझसे भिन्न कोई और भी आत्मा होता, तो यह कहा जा सकता था कि 'यह मैं हूँ' और 'वह अन्य है'; किन्तु जब सभी शरीरों में एक ही आत्मा विराजमान है तो 'आप कौन हैं', 'वह मैं हूँ' यह कहना भी व्यर्थ की बात है। राजन् ! आत्मा अनुभव की वस्तु है, उसे 'नेति नेति' (वह यह नहीं, यह नहीं) इस प्रकार सब वस्तुओं से पृथक् करके ही बताया जा सकता है। उसे 'अहं' (मैं) शब्दों से कैसे बतला सकता हूँ ? परन्तु तुम ज्ञान की इतनी ऊँची बात जानकर क्या करोगे ! तुम में तो अभी इतना अज्ञान भरा पड़ा है कि 'मैं सिन्धु देश का राजा हूँ'। इस अभिमान से अंधे होकर तुमने इन बेचारे गरीब दुःखी कहारों को बेगार में पकड़ निर्दयता से पालकी में जोत रखा है।^२ अब तुम्हीं बताओ, इस प्रकार के अत्याचार करते हुए भी, वृद्धों (समझदारों) की सभाओं में अपनी प्रशंसा की डींग मारते समय यह कहते तुम्हें शोभा देता है कि मैं लोगों की रक्षा करने वाला हूँ। अरे राजन् ! अभी तू यह भी नहीं जानता कि राजा तो प्रजा का शासन तथा पालन करने के लिए नियुक्त किया हुआ नौकर होता है।"^३

राजा ने कहा—“मैं यह भी समझ गया; अब आप मुझे यह

१ त्वं किमेतच्छिरः किन्तु शिरस्तव तथोदरम् ।

किमु पादादिकं त्वं वै तवैतत् किं महीपते ॥ अग्निपु० ३८०।३७

२ शोच्यानिमाँस्त्वमधिकष्टदीनान् विष्ट्या निगृह्णन्तिरनुग्रहोऽसि ।

३ जनस्य गोप्तास्मि विकथ्यमानो न शोभसे वृद्धसभासु धृष्टः ॥ भा० ५।१२।७

शास्ताभिर्गोप्ता नृपतिः प्रजानां यः किङ्करो वै न पिनष्टि पिष्टम् ॥

बतलाने की कृपा करें कि मेरे लिए क्या श्रेय है ?”

भरत बोले—“तूने फिर श्रेय (कल्याणकारी कर्म) ही पूछा है परमार्थ को नहीं पूछा।^१ परन्तु श्रेय अनेक हैं; जो लोग देवता की आराधना से धन-सम्पत्ति, पुत्र और राज्य की इच्छा करते हैं, उनके लिए वही श्रेय है और स्वर्ग-प्राप्ति के लिए यज्ञ करने को भी कई श्रेय कहते हैं, परन्तु ये सभी चीजें सदा रहने की नहीं, इसीलिए इनसे सदा के लिए दुःख की निवृत्ति भी नहीं हो सकती। सदा के लिए दुःख-निवृत्ति होती है आत्म-ज्ञान से; ‘मैं कौन हूँ’—इसकी पहचान से। इसलिए, ‘मैं कौन हूँ’, इसपर पूरी तरह विचार करने से तुझे आत्म-ज्ञान प्राप्त हो जायेगा।^२ तब न दुःख रहेगा, न शोक रहेगा, न ही मोह रहेगा।”

यह कहकर भरत मुनि ने राजा को आत्म-तत्त्व समझा कर कृत्यकृत्य कर दिया।^३

[अग्निपुराण, अध्याय ३८०]

१ भूयः पृच्छसि किं श्रेयः परमार्थं न पृच्छसि ॥ अग्निपु० ३८०।४०

२ कोऽहमित्यत्र निपुणं भूत्वा चिन्तय पार्थिव ॥ अग्नि, अ० ३८०।३८

३ यह कथा विष्णुपुराण २।१३ तथा भागवत ५।१० में भी किञ्चिद् भेद से आयी है।

सबसे प्रिय कौन ?

याज्ञवल्क्य ने सूर्य से जब वेद-विद्या ग्रहण कर ली, तब ज्ञान हो जाने के कारण उसने विवाह का विचार छोड़ कर ब्रह्मचर्य-आश्रम से सीधे ही संन्यास-आश्रम में जाने का निश्चय किया। अपने शिष्य को संसार से विरक्त देख कर सूर्य भगवान् ने कहा—“याज्ञवल्क्य, तुमने विद्या पढ़ ली, अब मुझे गुरुदक्षिणा दो !”

याज्ञवल्क्य ने हाथ जोड़ कर कहा—“मैं आपकी सेवा में अपना तन, मन, धन, सभी—अर्पण करने को तैयार हूँ। जो आज्ञा हो, वही भेंट दूंगा। आज्ञा कीजिये, क्या भेंट करूँ ?” सूर्य बोले—“मेरी दी हुई यह वेद-विद्या तुम्हीं तक न रह जाय, इसलिए पहले मेरे इस वैदिक सम्प्रदाय का प्रचार करने के लिए द्विजों को वेद पढ़ाओ। दूसरे जिस-जिसका तुम पर ऋण है, उसे उतारो; फिर मुझसे मेरा गृहीत ब्रह्मविद्या का उपदेश गृहस्थ में रहकर वा संन्यास लेकर सफल करो। यही मेरी गुरुदक्षिणा है !”

यह सुन याज्ञवल्क्य ने कहा, “गुरुदेव की आज्ञा शिरोधार्य है। अब मैं इसी के अनुसार सब करूँगा।”

तब गुरु ने याज्ञवल्क्य का समावर्तन-संस्कार किया और याज्ञवल्क्य अपने घर आ गया। योग्य तो वह था ही। उसने मिथिला के महाराज जनक से बहुत-सा धन प्राप्त किया। और अपने पिता याज्ञवल्क्य की आज्ञा से याज्ञवल्क्य ने कात्यायन मुनि की पुत्री कात्यायनी से पहला विवाह किया। जब आठ वर्षों तक कात्यायनी के कोई सन्तान न हुई, तो याज्ञवल्क्य सोचने लगे, ‘पितृ-ऋण से उऋण

१ मनु० ६।३५। मन्वर्थमुक्तावली ६।३५ की टीकन देखें।

२ मनु ६।८१ देखें।

होकर संन्यास लेने को गुरुदेव ने कहा था, ८ वर्षों तक अभी मेरे कोई सन्तान नहीं हुई, तो क्या मुझे इसी तरह गृहस्थ में रहकर ही मरना होगा ? तब उन्होंने विवश हो अपने पहले विवाह से आठ वर्ष बाद, नवम वर्ष में कात्यायनी की अनुमति से मित्रयु की पुत्री मैत्रेयी से दूसरा विवाह किया । इस प्रकार उन्हें सन्तान के लिए दो विवाह करने पड़े । जैसे पढ़ते समय उन्होंने ब्रह्मचर्य से ऋषि-ऋण उतारा था, ठीक वैसे ही गृहस्थ-आश्रम में रहकर उन्होंने बड़ी-बड़ी दक्षिणा वाले अग्निष्टोयादि यज्ञ कर देव-ऋण और अपने समान पुत्र तथा कन्याओं को उत्पन्न करके पितृ-ऋण से उद्धार पाया ।

यद्यपि याज्ञवल्क्य जैसे विरक्त के लिए कोई भी ऋण न था ।^१ तो भी गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने से जो उत्तरदायित्व उन पर आ गया था, उसके लिए वह प्रतिदिन यज्ञ-हवन आदि से वेदों को, नित्य स्वाध्याय से ऋषियों को, पिण्डदानादि से पितरों को, एवं रात को घर में स्थाब्ब देने, दिन-रात अन्न-जल देने और धन-दान आदि से मनुष्यों तथा अन्य जीवों को सदा तृप्त करते रहे ।

उनकी पत्नी कात्यायनी गृहकार्य में बड़ी निपुण थी । वह भोजन बनाती । सास-ससुर तथा पति की सेवा करती और ननद, देवर, ज्येष्ठ, सगे-सम्बन्धी, अतिथि आदि सभी का यथोचित सत्कार करती थी ।^२

परन्तु याज्ञवल्क्य की दूसरी स्त्री मैत्रेयी तो संसार के दुःखों को देखकर सदा प्रमत्त (अनमनी-सी) रहने लगी ।^३ उसके मन में ये प्रश्न सदा उठते थे कि मैं कौन हूँ ? मेरा स्वरूप क्या है ? मैं संसार में

१ ऋणं यद्यपि नैवास्ति विक्रमस्यास्य किञ्चन ।

तथाप्याश्रमसम्बन्धादृण मस्मिन्नुपागतम् ॥४८

२ कात्यायनीति या तस्य भार्याभूत्सा विचक्षणा ।

गृहकर्मणि नारीणां प्रज्ञायां नीतिमास्थिता ॥ आ० पु० ७।७६

३ द्वितीयाप्यस्य भार्याभून्मैत्रेयीति च विश्रुता ।

प्रमत्तसदृशी नित्यमुद्विग्ना दुःखदर्शनात् ॥८३

किस लिए आयी हूँ। मेरी स्थिति कहाँ है और मैं मर कर कहाँ जाऊँगी ? यह पति कौन है ? पुत्र तथा कन्याएँ कौन हैं ? दुःख तथा सुख का वास्तविक रूप क्या है ? वह इन प्रश्नों पर सदा सोचती रहती थी। याज्ञवल्क्य भी यह सब जानते थे, तो भी वह गृहस्थाश्रम की सिद्धि के लिए उसे कर्तव्योपदेश देते रहते थे।

बहुत समय बाद एक बार याज्ञवल्क्य ने अपने मन में विचार किया कि अब मुझे सांसारिक भंभटों से किनारा कर लेना चाहिए। मुझे गुरुजी ने सम्प्रदाय-प्रवर्तन तथा सन्तान उत्पन्न करने की आज्ञा दी थी। मेरे पढ़ाये अनेक शिष्य-प्रशिष्य हो जाने से सम्प्रदाय चल गया। सन्तान भी हो गई, पर यह सब कुछ हो जाने पर भी मैंने अभी गृह-बन्धन नहीं तोड़ा।^१ मुझे पहले यह खयाल आता रहा मेरी दो स्त्रियाँ हैं। वे मुझे प्रेम करती हैं, इसलिए उनके सुख के लिए घर में मुझे कुछ देर और ठहरना चाहिए। उसके बाद उनके सन्तान हो गई, फिर मैं सन्तान के पालन-पोषण तथा शिक्षण के लिए रुक गया। उनके शिक्षित हो जाने पर उनके विवाह के लिए रुका। विवाह के बाद मन में आया, पोते हो लें, तब घर छोड़ूँगा। इस प्रकार मेरा मन आगे ही आगे दौड़ता गया। जिन्हें ब्रह्मज्ञान करतल-गत आमलकी तरह भास रहा है, ऐसे मेरे जैसे व्यक्ति को संग के मोहने ऐसी दशा को पहुँचा दिया, तो साधारण पुरुषों की तो बात ही क्या है ! संयमी विद्वान् भी इस संग-दोष से अपना उद्धार करने में कैसे समर्थ नहीं होते, उसका एक उदाहरण मैं स्वयं हूँ। परन्तु अब तो मुझे होश आ गया है। अतः मुझे सांसारिक भंभटों को छोड़ कर संन्यास ले लेना चाहिए।^२ किन्तु इन स्त्रियों का क्या होगा ! पृथ्वी पर किसी के साथ सात पाँव चलने से उससे मित्रता हो जाती है। फिर इन दो स्त्रियों ने तो मेरे साथ आयु का बहुत बड़ा भाग बिता दिया है। इनका कुछ हित-साधन कर सकूँ, तो करता जाऊँ ! क्या इन्हें

१ तेषु जातेवर्णमिया न त्यक्तं गृहबन्धनम्।

२ इति संचिंत्य मे जाये वर्त्तते द्वये चाधुना ॥आ० पु० ७।१४

ब्रह्म-ज्ञान दूँ, जिससे ये शान्त रहें ! परन्तु कात्यायनी तो घर के भंभटों में इतनी फँसी है कि उस पर वैराग्य की बातों का कोई असर ही नहीं होता । इसलिए उसे तो ब्रह्मविद्या के उपदेश का कोई लाभ नहीं, वह उसकी वास्तव में अधिकारिणी नहीं है; 'और मैत्रेयी ऐसी है जो धन लेकर कभी प्रसन्न न होगी ।' वह तो संसार के संताप से संतप्त होने से मोक्ष चाहती है, 'फिर क्या करूँ ! उससे ही क्यों न पूछ लूँ ! यह विचार कर याज्ञवल्क्य ने कात्यायनी तथा मैत्रेयी दोनों के सामने बैठकर मैत्रेयी से कहा—“मैत्रेयी ! मैं अब संन्यास लेकर चतुर्थाश्रम में प्रवेश करना चाहता हूँ । उससे पहले मैं यह चाहता हूँ कि मेरे पास जो धन है, उसका तुम दोनों में बँटवारा कर दूँ । जिससे बाद में तुम्हारा आपस में झगड़ा न हो । तुम दोनों मेरे पीछे सुख से रह सको ।”

यह सुन मैत्रेयी बोली—“भगवन् ! मैं तो आपसे वह धन माँगती हूँ, जिसके पाने से अमर हो जाऊँ ।” मैं वह धन लेकर क्या करूँगी, जिसे पाकर भी मेरे जन्म-मरण के बन्धन न कटें । आप कहते हैं, मैं धन लूँ, पर कृपया यह कहिये कि यदि धनादि से पूर्ण समस्त पृथ्वी^१ भी आप मुझे दे दें, तो फिर क्या मैं अमर हो जाऊँगी ? कभी मरूँगी नहीं ? पहले आप मुझे इसका उत्तर दे दें, फिर मैं आपसे धन ले लूँगी ।”

१ ब्रह्मविद्याधिकारश्च कात्यायन्या न विद्यते ॥ आ० पु० ७।१८५

२ वित्तेन नैव संतोषं मैत्रेयी तु गमिष्यति ॥१७६

३ एषा संसारसंतप्ता मोक्षमेव समिच्छति ॥ आ० पु० ७।७१६

४ हंत ! जाये ततः कुर्वे वित्तभागं तवाधुना ।

कात्यायन्याऽनया सार्द्धं पश्चात् सुखकरं द्वयोः ॥१८२

५ भगवन् वित्तमिच्छामि मरणेन विवर्जितम् ।

त्वया दत्तं न चान्यं तु लोके यन्मरणप्रदम् ॥१८४

६ पृथिवी सकला चेत्स्यात् पूर्णवित्तेन मे मुने !

त्वया दत्तात्र तेनाहममृतास्यां न वेति तत् ।

वद पश्चादहं त्वत्तो वित्तमिच्छामि धार्मिक ॥१८५

यह सुनकर याज्ञवल्क्य^१ ने कहा—“नहीं मैत्रेयी; भला इस नश्वर धन को पाकर कोई व्यक्ति अनश्वर (अमर) कैसे हो सकता है ? इससे तो और भी मौत का भय बढ़ जाता है । जिसके पास धन हो, उसे राजा से, चोरों से और दुर्जनों से सदा भय ही बना रहता है । धन पास होने पर कौन ऐसा है जिसे उसके रक्षण की चिन्ता उत्पन्न न होती हो और इसके साथ ही दैव भी सदा निर्धनों के अनुकूल और धनिकों के प्रायः प्रतिकूल ही रहता है^२; क्योंकि बहुधा देखा गया है कि धनियों को भूख नहीं लगती । वे बिफर रहते हैं । उनकी आयु भी अक्सर कम होती है तथा बहुत धन पास होने पर भी उन्हें तृप्ति नहीं होती ।^३ प्रायः वे अशान्त रहते हैं । कई धनी तो परोक्ष रूप से अपने पुत्रादिकों का भी विरोध करते हैं; और कुछ लोभी तो ऐसे भी हैं जो एक-दूसरे से छीनने के लिए कुत्तों की तरह परस्पर लड़ते हैं ।^४

“मैत्रेयी ! यदि तू धन लेगी, तो जैसे और धनिकों का जीवन व्यतीत होता है वैसे ही तेरा जीवन भी बन जायेगा ।^५ परन्तु धन के लालची चंचल-चित्त लोगों को मोक्ष मिल जायगा, यह आशा कभी न करनी चाहिए ।^६ अमृतत्व धन से नहीं, ज्ञान से प्राप्त होता है ।”

१ इत्युक्ते याज्ञवल्क्यस्तां नेत्याह मुनिसत्तमः ।

शरीरी कोऽत्र वित्तेन नश्वरेण विनश्वरः ।

भवेत्प्रत्युत वित्तेन मरणं प्राप्नुयात् सदा ॥१८६

२ निर्धनानां सदा दैवमनुकूलं हि जायते ।

धनिकानां प्रतिकूलं तत्प्रायशो भुवि दृश्यते ॥१८७

यतो धनिका लोकेऽस्मिन् रोगिणः क्षुद्विवजिताः ।

३ अल्पायुषो ह्यतप्ताश्च धनराशौ महत्यपि ॥१८८

४ विरोधिनश्च सततमन्तः पुत्रादिभिर्जनैः ।

केचिद्वहिश्च दृश्यन्ते श्वभिः श्वानो यथा भुवि ॥१८९

५ धनिनां जीवितं यादृक् तादृगेव तवापि च ।

‘धनलाभाद्धि मैत्रेयि ! भविष्यति न संशयः ॥१९०

६ वित्तासक्तेषु पतिषु चलचित्तेषु सर्वदा ।

अमृतत्वस्य नैवाशा यथा तेऽपि तथैव सा ॥ आ० पु० ७।१९१

यह सुनकर मैत्रेयी बोली—“यदि धन से अमर होने की कोई आशा नहीं, तो मैं ऐसा धन लेकर क्या करूँगी ? यह सभी धन अब कात्यायनी का ही हो जाय । मैं जीवन धारण करने के लिए आपकी तरह ही भिक्षा कर लिया करूँगी । मुनिश्रेष्ठ ! आप संन्यास वेशक ले लें । मेरे जीवन-निर्वाह की चिन्ता न करें । जिस किसी ने गर्भ में दस मास मेरी रक्षा की थी, वही देव अब भी मेरे जीवन-निर्वाह की फिकर करेगा । और यदि मैं आहार न करूँ तो भी क्या है ? क्योंकि आहार न करने पर तो केवल एक भूख ही सताती है । परन्तु आहार कर लेने पर तो काम-क्रोध आदि अनेक शत्रु पुष्ट होकर सताया करते हैं ।”

यह सुन याज्ञवल्क्य ने अपना समस्त धन कात्यायनी को देकर सबके अनुभव में आने वाले तरीके से मैत्रेयी को यों समझाना आरम्भ किया । वे बोले—“अरी मैत्रेयी ! तुझे मैं पति प्यारा हूँ और तू पत्नी भी मुझे बहुत ही प्यारी है । हम दोनों के दो भिन्न-भिन्न शरीर होने पर भी परस्पर बहुत ही प्रीति है ; परन्तु यह प्रेम एक-दूसरे का एक-दूसरे की कामना के लिए नहीं, किन्तु अपनी कामना के लिए है । पति पत्नी को अपने सुख के लिए चाहता है और पत्नी भी उसे अपने सुख के लिए ही प्यार करती है । अपने प्रतिकूल आचरण करने-

१ इत्युक्ता याज्ञवल्क्येन मैत्रेयी तमभापत ।

अमृतत्वस्य नैवाशा यदि वित्तेन विद्यते ।

किमहं तेन वित्तेन कुर्या मरणहेतुना ॥२०५॥

कात्यायन्यैव तद्वित्तं लभेत्ते सर्वं पते ॥२०६॥

भिक्षाहारेण देहं स्वामनिपाताद्यथा भवान् ॥२०७॥

जीवनेऽपि ततो माभून्मम देहस्य चिन्तनम् ।

भवतो मुनिशार्दूल गच्छतो ह्याश्रमान्तरम् ॥२०८॥

दशमासानहं गर्भे रक्षिता येन केनचिन् ।

देवः स एव मे चिन्तामधुनाऽपि करिष्यति ।

क्षुधैका बाधते ब्रह्मन्नाहारग्रहणे सदा ।

ग्रहणे तस्य बाधन्ते कामाद्याः कोटि शत्रवः ॥ आ० पु० ८।११५॥

वाले पति से स्त्री कभी प्रीति नहीं करती । जो अन्य स्त्री से प्रेम करता हो, उससे क्या कोई स्त्री हृदय से प्रेम कर सकती है ? इसी प्रकार पति भी अपने सुख के लिए ही पत्नी को चाहता है, अपने से प्रतिकूल आचरण करने वाली वा परपुरुष-रता व्यभिचारिणी पत्नी से कोई प्यार नहीं करता ।^१ जैसे पति को पत्नी तथा पत्नी को पति अपने लिए ही प्रिय होते हैं, ठीक वैसे ही पुत्र 'पुत्र' है, इसलिए प्रिय नहीं है; वरन् वह अपने को भाता है, सुख देता है, इसलिए प्यारा है । प्रतिकूल पुत्र को कोई प्यार नहीं करता । धन 'धन' है, इसलिए प्रिय नहीं है, अपितु अपने सुख का साधन होने के कारण धन प्रिय होता है । जिस धन से जान जाने का पूरा निश्चय हो, उसे कोई नहीं चाहता । मैत्रेयी ! पति, पत्नी, पुत्र, धन आदि अपने-अपने स्वरूप से प्रिय नहीं, किन्तु ये अपने सुख के हेतु होने से ही प्रिय हैं ।^२ बहुत से क्या, यह सारा संसार ही यदि अपने को सुख देता है, तभी प्रिय होता है, अन्यथा कभी प्रिय नहीं होता । इसलिए तू अपने-आप को पहचान कि वह क्या है । जब तू अपने-आप को पहचान लेगी तो

१ अरे ! भवति मैत्रेयि पतिस्ते हि प्रियः सदा ।

जाया मम तथा त्वं च प्रियस्यातितरां बहु ॥२५०॥

आवयोः प्रीतिरत्यर्थमितरेतरदेहयोः ।

इतरेतरकामाय न कथंचन भाविनि ॥२५१॥

किन्तु स्वस्य प्रियार्थं ते प्रियोऽसि पतिरात्मनः ।

ममापि त्वं तथा जाया प्रियाऽसि स्वात्मना कृते ॥२५२॥

आत्मनः प्रतिकूले तु पत्यौ प्रीतिर्न जायते ।

अन्यनार्यादिसंसक्ते नारीणां कर्हिचित्प्रिये ॥२५४॥

जायायां प्रीतिमांस्तद्वत्पतिर्भवति कामुकः ।

आत्मनः प्रतिकूलाया भवेज्जाया रतादिषु ।

न तस्यां प्रीतिमान् दृष्टः पतिरत्र कथंचन ॥ आ० पु० २२६॥

२ पतिजायादिकं तेन प्रियं स्यात् स्वस्वरूपतः ।

किन्तु स्वस्य प्रियत्वेन सुखदत्वेन हेतुना ॥

तुझे आत्मज्ञान हो जायगा । तब न मोह रहेगा, न शोक रहेगा और न दुःख ही रहेगा । फिर तू अमर ही अमर है ।^१

[आत्मपुराण, अध्याय ७]



१ किं बहूक्तेन मैत्रेयि जगत्सर्वमिदं च यत् ।

आत्मनः सुखदं सर्वं प्रियं स्यान्नेतरे क्वचित् ॥आ० पु० २५२

दुःखं तत्साधनं नैव प्रियं कस्यापि देहिना ।

नोट—यह कथा बृहदारण्यकोपनिषद् अ० १, ब्र० ४, खं० ५ का विस्तार है ।

शब्दानुक्रमणिका

अंशु १३३	अनुज्ञापत्र ६६
अंशुमान ६०	अन्तःपुराध्यक्ष २८०
अकूर ६६	अन्तर्गिरि १२६
अक्ष १३३	अन्धक ६६
अक्षय १३६	अपराध ८०
अखण्ड २७७	अभियानस्वर ५७
अङ्ग ८	अभिषेक ६६, १२६, १४८
अङ्गद १३४	अभिसार ६०, १२६
अगस्त्य २४	अमर ७२, ३०८
अग्निदेव १४१	अमावस्या २१३
अग्निहोत्र ५, १६	अमितध्वज ११६
अग्न्यास्त्र ५२	अमृत ७०
अजगर २३६	अमृतत्व ३०५
अजातशत्रु ८८, १४६	अयोध्या ३७, ५५, ६०, १२६
अतिथि १४१, २५३	अरजा १६५
अत्रि १३०	अराजक ६
अधर्मराजक ६	अर्घ १७३
वद्वैत २६१	अर्घ्य १७४
अधिष्ठात्री ७३	अर्जुन ८५, १४६, २२३, २८४
अध्यात्मज्ञान ११६	अर्द्धनारीश्वर १८१
अध्यात्मविद्या १२०	अर्द्धांगिनी १८२
अध्वर्यु १६०	अवन्ती ४१
अनन्त २८३	अवभृथ १६०
अनन्तशयन २६८	अवहेलना ६५
अनिरुद्ध १६०	अव्यर्थास्त्र ५१
	अशिखी १५२

अशोकवाटिका १३६

अश्वत्थामा १४८

अश्वमेध १४, ३०, ८१, ८५, १४५,
१६०

अश्वशिरा १४५

असुर २५, ६७, १८६, २१२

असूया ८२

अस्त्र २१०

अहंकार ६५, ८३

आ

आक्रमण ५५, ७४

आक्रमणकारी ५१, ५६

आकाशवाणी ८८

आग्नेयास्त्र ७८

आततायी ११८

आत्मा १४३, २६८

आनर्त १००

आन्ध्र ११२

आबू पर्वत २५२

आयस १०४

आरण्यक २२६

आलातचक्र १००

आश्रम ४, ३४, २३१

आहुक २५२

आहुका २५२

आहुकी २५२

इ

इक्षु २६६

इक्ष्वाकु २५, १६५

इन्द्र १, ४३, ६७, ११२, १२४, १३४,
१५८, २०३

इन्द्रजाल २८८

इन्द्रजीत १३४

इन्द्रप्रस्थ ८८, ६७

इन्द्राणी १२४, १६१

इन्द्रासन ४६

इल्लल २५

ई

ईश्वर ५, २७८

ईर्ष्या ४३, ८०, १०७

उ

उग्रसेन ६८, १८६

उञ्छवृत्ति १४१

उत्कल वन १७५

उत्तम १६६

उत्तर ४७, १५४

उत्तानपाद १६६

उद्गाता १६१

उद्धव ६८

उपासक ७३

उलूक १६

ऋ

ऊँट ५८,

ऊर्ध्वपुण्ड्र २४१

ऋ

ऋण ३०१

ऋत्विज १७६, १६०

ऋषि १२, २४, १७३, १५६, २८४

ऋषिऋण ३०२

ऋष्यमूक ६३

ए

एकनारीव्रती १८०

एकपत्नीव्रत ४५

एकादशीव्रत २४३

एकान्त ६३

ऐ

ऐक्य २४

ऐटमवम ५१

ऐश्वर्य ५५, २७७

औ

और्व ८४

औषधभाण्डार ५८

क

कंस १००, १८६

कङ्क २

कंचुकी २७८

कच १६२

कनखल १२६

कपिल १४५, २६६

कपोत १७८

कमण्डलु २३४

कमल २६०

कर्मकाण्ड २८८

कलाकार ५६

कलियुग १६१, २१६

कल्याणगृह ५८

कशेरु ११७

कश्यप ५०, १०६, १२१, १८५, २२८

काक १८५

काञ्चीपुरी २६८

कात्यायन ३०१

कात्यायनी ३०१

कामधेनु २८५

काम्बोज २

कार्तवीर्य २८४

कालविद् ६१

काली ४६

काशीपुरी ४४

काश्मीर ६०, १२१

किन्नर २४१

किरात १

किष्किन्वा ६२, १३३

कुएँ १६८

कुणि ५६

कुमार ५६

कुम्भीपाक १६०

कुरुक्षेत्र ५६, २५६

कुल्लू ५६

कुबेर ६०, २०३

कृतंजय ६०

कृतध्वज ११५

कृतवर्मा ६६

कृपी १५६

कृष्ण ६७, १४८, १८८, २१२, २३५,

२६२

कृष्णभक्त ५०

केकय ५५

केशि १००

केशिध्वज ११५

कैकेयी, ३०, ६५, १२६

कैलास १८०

कौपीन २३४

कौशल्या ३२, ६५, १२६

क्षुप २०३

क्षेमवृद्धि ६६

ख

खड्ग ३१

खड़ाऊँ ६१, ६४, १३०

स्वर १३१

स्वस १२६

खाण्डिक्य ११५

ग

गंगा ५८, १४१, १५८, १८४

गजदुन्दुभि ४२

गणपति २७६

गणित २१५

गणेश २७२

गन्धमादन ४७

गन्धर्व ५५

गन्धर्वनगर ६२

गन्धर्वास्त्र ५१

गया २७१

गरुड १४५

गरुडास्त्र ५१, ७८

गान १४

गान्धार १, १२६

गार्ग्य ६२

गुरुत्वाकर्षण १०५

गुप्तचर १३३

गुरुकुल

गुरुदक्षिणा १२६, ३०१

ग्रह ३३, ६३, १२६

गृहस्थ ८, २३०

गोदावरी १६५

गोपियाँ १६५

गोबी के रेगिस्तान १२३

गोरसेन ५६

गोवाशन ५६

घ

घृताची १५८

घोषणा ४२, ४४, ७६

च

चक्रवर्ती २६८

चतुरङ्गिणी ५६

चतुर्भुज २६६

चतुर्व्यूह १६२

चनाव ६०

चन्द्रग्रहण २१३

चन्द्रवंशीय ४

चरणपादुका ३७, १३०

चण्डिका २१०

चाण्डाल १४२, २७३

चारुमती २६०

चिकित्सालय ५८

चित्र ४

चित्रकूट ६०

चित्रवती २६४

चीन १

चूडामणि १३२

चोल २६८

छ

छत्र ५७

छद्म-युद्ध ६१

छाया २१४

ज

जगदीश्वर ६२

जटायु १३२

जनक ११५, ३०१

जनार्दन २२८

जमदग्नि २८४

जय ५६, २६०

जयध्वज २२३

जयस्थलपुर २०७
जलप्रलय १२१
जलोद्भव १२५
जानकी ४१
जुहुण्डुर १२६
जृम्भणास्त्र ५१
जेलम ६०
जैगीषव्य १४५
ज्ञप्तिरूप ७६
ज्योतिषी २७८

झ

झण्डे ७५
झरोखा ६१
झील ११६

ड

डाकू २४६
डिण्डिभ ६
डिम्भक २२८
डेक ५६
डोंडी ६८

ढ

ढाढस ६६
ढिढोरा ६, ४१
ढोंगी २४२

त

तक्ष ५७
तक्षशिला ६६
तंगण १२६
तमसा नदी १२६
तमोस्त्र ७८
तर्क २४८
तामस २२४

ताम्रपर्णी २६८
तारक १०३
तारकामयसंग्राम १०३
तारकासुर १०५
तारा ६३, १६२
तालजंघ ८२
तिलोत्तमा १५८
तुपार २
तृणविन्दु १२
तैलद्रोणी १३०
तोपें ६८

त्रसदस्यु २५
त्रिगर्त ५६
त्रिपुण्ड्र ६, २४४
त्रिपुर १०३
त्रिपुरासुर ६८
त्रिशूल १२२
त्रेतायुग १२६, २१६
दक्षिण ४७, १६५
दक्षिणा २१
दण्ड ४२, १६५
दण्डकारण्य ३२, १६८
दण्डास्त्र ५१
दधीच १११, २०३
दमन ५५
दमयन्ती २५५
दशरथ ३२, १२६
दानरुचि १४१
दानव ४२, ५२, १०३, १५६
दाशेरक ५६
दिवोदास ४३
दिव्यास्त्र ५१, ८८

दुर्घट २४६
 दुर्योधन १४८
 दुर्वासा १६४, २२६
 दूषण १३२
 दृषद्वती २५६
 देव ५६, ७०, ११०, १५६
 देवकृष्ण ३०२
 देवप्रतिभा २०१
 देवलोक ४४
 देवराज ११२
 देवशर्मा १८४
 देविका ५६
 देश ५, १४, ५०
 दैत्य २४, ६८
 द्राविडनगर ४
 द्रोण १५६
 द्रोणांचल १३४
 द्रौपदी १४६
 द्वापुर २१६
 द्वारका ६७, १६१, २३५
 द्वैत २६२
 द्वैपायन हृद १४८

ध

धनुर्वेद १५६
 धर्म १
 धर्मध्वज ११६
 धर्मराज १६
 धर्मसार २६०
 धृष्ण २२३
 ध्रुव १६६

न

नन्दन १६२

नन्दा १७८
 नन्दिगाँव ६४
 नन्दिग्राम १८४
 नदीश्वर ४६
 नरक ६, २१
 नर्मदा नदी १०६, २८४
 नल २५५
 नहुष १५८
 नागपाश ५१
 नागराज १७८
 नागास्त्र ७८
 नाडायन ६३
 नारद ६८, १११, १६०
 नारायण १४१, १४५, २६०
 नाराचास्त्र ५१
 नास्तिक २०७
 निर्वृत्ति २०३
 निषाद २६४
 नील १२२, १३३
 नीलाचल २८६
 नैमिषारण्य २५६

प

पञ्चवटी ६३, १३०
 पद्मनाग १६०
 परमात्मा ५१, १४६, २५५
 परमेश्वर १४४, २६०, २६३
 पर्युषित १६७
 पर्वतास्त्र ७८
 पश्चिम ४७
 पल्लव ११२
 पाण्डव ६७, १४८
 पाताल १७८

पादुका ३७
 पार्जन्यास्त्र ५१, ७८
 पार्वती १८०
 पार्वतास्त्र ५१, ७८
 पाशुपतास्त्र ५१
 पितामह ४३, ६७, १०४
 पिशाचयोनि ७
 पितृऋण ३०१
 पुत्रेष्टि १२६
 पुराण २१
 पुरी २८६
 पुरुषोत्तम २८६
 पुरोडाशखण्ड ६६
 पुरोहित ६२, २८४
 पुलिक २
 पुष्कर ५७, २३७
 पुष्पक ६०
 पुष्पदन्त ४७
 पुष्पभद्रा ४७
 पुष्पवती ६६
 पुष्य १०५
 पूर्व ४७
 पृथ्वी ४४, ६८, २१३
 प्रजापति १०६, १२१
 प्रतर्दन २३७
 प्रद्युम्न ६६, १६१
 प्रबोधास्त्र ७८
 प्रभद्रक ५६
 प्रमीला ८७
 प्रयाग १३०
 प्रह्लाद ६७

प्राग्ज्योतिष १०१
 प्रायोपवेशन ३६
 प्रेत १६७

फ

फल १७
 फल-फूल १२४
 फल-मूल ३८

ब

बन्दी ७४
 बन्दूक ६८
 बभ्रुकुमारी १६६
 बर्बर १
 बलदेव १४८
 बलराम १६२
 बलाका १८५
 बलि ४७
 बहिर्गिरि १२६
 बहुला १६६
 बालक १७५
 बाली १३२
 बालू के समुद्र १२३
 बाहु ८१
 बुध २६०
 बृहस्पति ६६, १३१, १६२
 ब्रह्मन्त्र २४
 ब्रह्म ८०, २३०
 ब्रह्मकर्म ३०१
 ब्रह्मचारी १८४
 ब्रह्माण्ड १०६
 ब्रह्मदत्त २२८
 ब्रह्मसूत्र २२६

ब्रह्मा ४३, ६७, १०३, ११२, १४६, १५६, २०७, २३२, २५८	मशीनों १३३
ब्रह्मास्त्र ५१, १५३	मशीनगनों ६८
ब्राह्मी २५८	महागिरि ७
भ	महादेव ४६, २५२
भगवान् ४६, ८४	महापर्वत १२६
भद्रकाली ४६	महाभारत ८५
भद्रवट १६८	महावीर १३३
भरत ३०, ५५, ६०, २६७	माहिष्मती २७६
भरद्वाज ३४, १३०	महीतल ४३
भव १८३	महेन्द्रपर्वत १३३
भवानी १८३	माण्डव १२६
भारत ४७, ८५, १११, ११३, १३३, १५८, १६४, २४०	मान्धाता १
भिक्षु २६२	माहेश्वरास्त्र ५१
भीमसेन ८०, १४८	मित्रयु ३०२
भील २५८	मित्रविन्दा १७६
भीष्म १३६	मिथला १२६
भुवनेश १४	मुद्गल २७०
भूदेवी २६४	मेघनाद ५५
भृगुवंशीय २०	मेना १५८
म	मेरु ७२
मत्स्यों का राजा ५६	म्लेच्छ २४०
मथुरा ५५	मैत्रेयी ३०२
मद्रदेश ६०, १२६	मोहास्त्र ८८
मधुमन्त १६५	य
मनु २३८	यज्ञ १०, ११५, १७६, २६८
मनुष्य ४३, ५५, १२२	यज्ञधेनु ११६
मन्वन्तर १७	यज्ञशर्मा १८४
मय १०३	यदुवशियों १००
मरीचि १०	यम ७, १६, १६२, २०३
मलयाचल ४७	यमुना ५६, २३६
	ययु ८६, १६०,
	यवन १

यशोदा १६३

याज्ञवल्क्य ३०१

युधिष्ठिर ८६, १४६

युधाजित् ५५

योगशक्ति २८८

योगिनी ७४

योजन ४७

र

रघुकुल ३६

रघुनाथ ६०, १३१

रजि ६७

रमठ २

रहूगण १६६

राक्षस ३७, ५५, १३१, १७६

राजगृह ६०, १३०

राजनपुर १०५

राजस २२४

राजसूय ८८, २६२

राधा २६२

राधाकृष्ण २०७, २६२

राम ३०, ५५, १२६, २५०

रामचन्द्र ५५

रावण ३७०, ६०

रावी ५६

राष्ट्र ४१

राहु ७१, २१२

रिपुञ्जय ४३

रुद्र ४७, १०८, १२१, १४६

रेवा १३

रोधक १६७

रोहिणी १८४

रीद्री २१८

रौरव ४

ल

लक्ष्मण ३०, ५५, १२६

लक्ष्मी २६४

लङ्का ६०, १३२

लवणासुर ५५

लीला ७६

लेखक १६७

लोपामुद्रा २४

लोमहर्षण २५६

व

वज्रास्त्र ७८

वरुण २०३

वसिष्ठ ३२, १६५

वसु २६४

वसुधान ५६

वसुधौत २२

वसुबन्धु ६०

वाग्देवी २६१

वाजपेय १४

वातापि २७

वानर ६२

वायु २०३

वायुयान ४६

वायव्यास्त्र ५१, ७८

वारुणास्त्र ५१, ७८

वासुकि ४३, १२७

वासुदेव १६, १००, १६०

वाह्नेय ५१

विजय ५७, २६०

विजय-मुहूर्त १३३

वितस्ता १२२

वितस्ती १२२
 विदूरथ ७३
 विदेहजा ४१
 विद्युन्माली १०३, १३१
 विधाता १५८
 विनायक २७७
 विनायकदत्त २७६
 विन्ध्याचल २८४
 विन्तू २७२
 विभीषण ६०, १३५
 विमल २६०
 विमान ४७, ६०
 विमोहनास्त्र ७७
 विशल्या १३४
 विश्वरूप ११२
 विषचिकित्सक ५६
 विष्णु ४, ६, ४६, १२७, २२३, २५६,
 २६५
 विष्णुदास २६८
 विष्णुयज्ञ २७०
 विष्णुस्वामी २०७
 वीर २६४
 वत्रासुर ११३
 वृद्धशर्मा २६०
 वृषपर्वा १६५
 वृष्णि ६६
 वैकटाचल २६४
 वेण ८
 वेतन ७१
 वेन ८
 वैकुण्ठ २४६, २७४
 वैताल २११

वैष्णव ४६, २३८
 वैष्णव मन्दिर ६
 वैष्णवास्त्र ५१, ७८
 वैष्णवी २५८
 व्याघ्रपुर २५०
 व्यास १२६, २५६
 व्यास नदी ५६

श

शक २, १२६
 शंकर ५१, १०४, १२२, १८०, २१३
 शक्ति ३
 शंखचूड ४७
 शची १२४, १५८
 शतक्रतु ६७
 शतानीक १६
 शत्रुघ्न १३, ३२, ५५, ६५, १३०
 शबर १
 शरणार्थियों १०३
 शम्भु १०४
 शल्यचिकित्सक ५६
 शाकल ६०
 शाल्व ६७, १०१, २२८
 शिव ४, ४७, १०७, १८०, २०४,
 २४०
 शिवयोगी २५०
 शिवियों का राजा ५६
 शिविर १५०
 शिशुपाल ६७
 शीघ्रग १६७
 शुक १३३
 शुक्राचार्य १६५, २०४
 शुनक ११७

शूर २२३
 शूर्पनखा १३१
 शूरसेन २२३
 शेषास्त्र ७८
 शैलूष ५५
 शैव २३८
 श्राद्ध १३०
 श्रीशैल ४७
 श्रुतंजय ६०
 श्रुतवीण २४
 शृंग १२६
 शृङ्गवेरपुर ३३, १२६
 श्रेणीमान् ६०
 श्वपच १४२
 ष
 षडर्घ्य १७४
 षोडशोपचार २७१
 स
 संगिर २४८
 संग्रह १२४
 संजीवनी विद्या ११
 संतप्तक १६७
 सती १२१
 सप्तद्वीप ४१
 सप्तर्षि २२६
 सत्याग्रह ३६, १३०
 सत्ययुग २१६
 सम्पाति १३२
 समुद्र ६, ७१, ६२, १३३
 संमोहनास्त्र ५१, ७८
 सरस्वती ७३
 सहस्रानीक १६

संन्यास २३०, ३०१
 सांख्ययोग २५६
 सागर ६
 सात्यकि ६६
 सात्त्विक २२४
 साधु २४६
 साम्ब ६६, २१२
 सारण १३३
 साल्वों का राजा ५६
 सावित्री १८५
 सिन्धु ५५, ६६, २६६
 सिन्धुराज ७३
 सीमा ७३
 सीता ३२, ६०, १२६
 सीरध्वज १२६
 सुग्रीव ६२
 सुदर्शन १०२
 सुदामा नदी ६
 सुदामा प्रान्त ६
 सुबाहु ६
 सुमन्त १३०
 सुमित्रा ६५, १२६
 सुमेरु पर्वत ६४
 सुयोधन ६०
 सुरथ ५६
 सुरुचि १६६
 सुशर्मा १७१
 सुशीला २६०
 सूचीमुख १६७
 सूत २५७
 सूर्य ४, १६, १४६, २१२, ३०१
 सूर्यग्रहण २१३

सूर्यवंशीय ६१

सूर्यास्त्र ७८

सोम १०३

सौत १८३

सौभ विमान ६७

सौवर्णपुर १०६

सौवीर २६६

स्कन्द ४, ४६, २१६

स्त्रीराज्य ८८

स्यालकोट ६०

स्वर्ग १७, ५६, १५८, २३२

स्वामी-पुष्करिणी २६४

ह

हंस २२८

हंसाकार ६१

हनुमान ३८, ६२, १३२

हरि १५

हरिमित्र १५

हस्तिनापुर ६७

हिमपात १२४

हिमालय ६२

हिरण्याक्ष ५१

हैहेय ८२

हैहयवंशीय २८४

होता १६०

Ramakrishna Mission Library

Muthiganj, Allahabad.

Class No. 200

Book No. २-८१ Vol

Accession No 13612